तुलसीदास और उनका युग

राजपति दीक्षित

तुलसीदास और उनका युग

लेखक
डा० राजपति दीक्षित
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बनारस
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य ७)

प्रथम संस्करण सं० २००९
57
1952

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस ।

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी, ४१४१-०८

निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्धका विषय है—'तुलसीदास और उनका युग'। इस शीर्षकका प्रथम अंश अर्थात् 'तुलसीदास' तो उस अनन्य भक्त-शिरोमणि, कवि-कण्ठाभरण जिसकी वाणीका मञ्जु घोष करोड़ों उरोंमें निनादित हो रहा है और जो हिन्दी-साहित्यके विचक्षण समालोचकों द्वारा ही नहीं, वरन् पाश्चात्य चूडान्त विद्वानोंसे भी हिन्दी-काव्य-गगनका मार्तण्ड स्वीकृत किया जा चुका है—उसी गोस्वामी तुलसीदासका द्योतक है। दूसरा अंश अर्थात् 'युग'का तात्पर्य स्पष्ट करनेके साथ शाश्वत, निरवच्छिन्न, अबाध गतिसे प्रवाहित होनेवाले कालका संकेत आवश्यक है। अभिन्न, अटूट और अनन्त सांसारिक प्रवाहका परिचायक है—काल। यही अविच्छिन्न प्रवाह किसी सीमामें आबद्ध होनेपर 'युग'की संज्ञा प्राप्त करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं—यदि काल समयरूपी वृत्तकी परिधि है तो युग उसका एक चाप है। हमें जिस चापका दिग्दर्शन कराना है उसकी सीमा या हद-बन्दी तुलसीके आविर्भावके समयसे लेकर तिरोभावतककी साग्र-समग्र अवधि होगी।

इस सीमाके भीतर हिन्दू-संस्कृतिका कैसा उत्कर्षापकर्ष हुआ, कैसे सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विचारोंकी गूँज उठी और कैसे-कैसे उद्भट प्रचारक या सुधारक समाजके कर्णधार बनकर आये और उसे किस प्रवाहकी ओर बहाने लगे, समाज कहाँतक बहा और प्रवाहकी प्रतिक्रिया, उसका घात-प्रतिघात किस रूपमें अवगत हुआ, इन विभिन्न स्थितियोंको तुलसीने किस रूपमें देखा और किस अंशतक वे अपने युगके चक्रव्यूहमें अवरुद्ध या अनवरुद्ध हुए—इन बातोंका स्पष्टीकरण ही तुलसीके युगका दिग्दर्शन कराना होगा। महाकवि अपने युगका ज्ञापक और निर्माता होता है। इस कथनकी पुष्टि गोस्वामीजीकी रचनाओंसे सवासोलह

आने होती है। इसीसे कविके युग-विषयक कुछ अनुसन्धानकी विशेष आवश्यकता देखते हुए प्रबन्धका शीर्षक केवल 'तुलसीदास'की अपेक्षा 'तुलसीदास और उनका युग' नितान्त उपयुक्त है।

अपने प्रबन्धकी नवीनताकी ओर संकेत करनेके पूर्व मैं यह बात सच्चे हृदयसे स्वीकार करनेमें रञ्चमात्र भी नहीं हिचकता कि महात्मा तुलसीदासका आकर-क्षेत्र इतना व्यापक और गम्भीर है कि उसके गर्भमें न जाने कितने ऐसे नवीन रत्न छिपे हैं जिनके उद्घाटन और उल्लेहनके लिए अभी कितने ही अध्यवसायी, विवेकशील, सद्ग्राही एवं कला-निपुण अनुसन्धायक वैकटिकों(जौहरियों)की आवश्यकता होगी। ज्यों-ज्यों हमारी आँखोंमें ज्ञानाञ्जनका योग होगा त्यों-त्यों वे मणि-माणिक्य सूझ पड़ेंगे। ऐसी स्थितिमें, तुलसी-जैसे महाकविकी सभी विशेषताएँ मैंने ढूँढ़ निकाली हैं—ऐसा कहना साहसमात्र है। अस्तु, अपने कई वर्षोंके अनवरत परिश्रम और अध्ययनके आधारपर गोस्वामीजीके जिस स्वरूपको समझकर किञ्चित विशेषताओंका प्रस्तुत प्रबन्धमें उद्घाटन कर रहा हूँ उसका सारासार पण्डित जन ही निश्चित करेंगे।

इस प्रबन्धका लक्ष्य अपने पूर्ववर्ती अथवा वर्तमान आलोचकोंकी समीक्षाओंका पिष्टपेषण या चर्वितचर्वण करना नहीं है। अभीतक गोस्वामीजीपर जितनी आलोचनाएँ हुई हैं उन सबके अध्ययनसे पता चलता है कि कविके स्वरूपको समझनेमें लोगोंकी दृष्टि एकांगी रही है; अर्थात् कुछ आलोचनाओंमें यदि कविके जीवनवृत्तकी विशेष जानकारी है तो अन्य पक्षोंपर कोई महत्त्वपूर्ण विवेचना नहीं; इतर आलोचनाओंमें यदि कला-पक्षका प्रकाशन है तो अन्यान्य पक्ष अँधेरेमें रह गये हैं; इसी प्रकार किसीमें कविकी भक्ति-पद्धतिका विशेष निरूपण है तो दूसरे पक्षोंके स्पष्टीकरणका अभाव। प्रायः सभी आलोचनाओंकी यही दशा है। ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं दिखाई पड़ता जिसमें कविके सभी पक्षों, उसके व्यापकसे व्यापक स्वरूपका प्रत्यक्षीकरण हुआ हो। इस न्यूनताको यथासम्भव दूर करते हुए कविके व्यापक क्षेत्रका प्रतिभास कराना ही हमारे प्रयासकी

नवीनता है। इस नवीनताकी अभिव्यक्तिकी शैली और कसौटी भी अनेक अंशोंमें अनुच्छिष्ट है। गोस्वामीजीके सभी ग्रन्थोंमें निरन्तर अवगाहनके अतिरिक्त भारतीय प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंका अध्ययन भी अनिवार्य है—उनका स्वरूप यथार्थमें समझनेके लिए। मैं यह कहनेका साहस तो नहीं करता कि मैंने कविके आधार-भूत प्राचीन समस्त संस्कृत ग्रन्थोंका आमूलचूल परिशीलन कर लिया है, पर इतनी अनुभूति अवश्य होती है कि तुलसीदासको समझनेमें हमारे प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ यथेष्ट सहायक हुए हैं। नूतन प्रणालीके आलोचनात्मक दृष्टिकोणसे भी मैंने कविके महत्त्वको यत्र-तत्र देखनेका प्रयास किया है।

वर्तमान प्रयासकी नवीनता और मौलिकता प्रतिभासित करनेके लिए अद्यावधि तुलसीपर जितनी आलोचनाएँ हुई हैं उन सबका संक्षिप्त परिचय दे देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है और इसके लिए अधिक वैज्ञानिक ढंग यह होगा कि पूर्व आलोचनाओंके प्रतिपाद्योंका वर्गीकरण कर लिया जाय और तदनन्तर उनके योगायोग तथा परिणामपर विचार हो।

जीवन-चरित-विचार—इस वर्गकी आलोचनाएँ जितने प्रचुर परिमाणमें प्रस्तुत हुई हैं उतनेमें अन्य किसी प्रकारकी नहीं। आधुनिक कालके जिन विद्वानोंने इस क्षेत्रमें किसी प्रकारका प्रयास किया है, उनमें एच० एच० विल्सन, गार्सां द तासी, एफ० एस० ग्राउस. शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, ई० ग्रीव्ज, इण्डियन प्रेससे प्रकाशित 'मानस'की भूमिकाके लेखकगण, लाला सीताराम; इन्द्रदेव नारायण, शिवनन्दन सहाय, 'तुलसी-ग्रन्थावली' तृतीय भागके सम्पादकगण, रामकिशोर शुक्ल, श्यामसुन्दर दास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सोरों जिला एटाके गोविन्दवल्लभ भट्ट शास्त्री, गौरीशंकर द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी, रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा, दीनदयाल गुप्त तथा माताप्रसाद गुप्त प्रभृति सज्जनोंके नाम उल्लेखनीय हैं।

इन महानुभावोंमेंसे अधिकांश ऐसे ही हैं जिन्होंने केवल जीवनवृत्तपर ही प्रकाश डाला है, पर कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने अन्य पक्षोंपर भी विचार

किया है। अतः उनके नाम अन्य वर्गोंमें भी दुहराये गये हैं। समालोचकोंकी उक्त नामावली उनके नाम कार्य-काल-क्रमके अनुसार है। प्रथम महोदय अर्थात् एच० एच० विल्सनका तुलसीविषयक अनुसन्धान सन् १८३१ में 'एशियाटिक रिसर्चेज'में प्रकाशित हुआ और अन्तिम महाशय माताप्रसाद गुप्तका उनके ग्रन्थ 'तुलसीदास'में सन् १९४२ में हिन्दी-संसारके समक्ष आया। अन्यान्य सज्जनोंके कार्य इन्हीं दोनोंके बीच विभिन्न कालोंमें हुए।

विल्सनने अपने 'ए स्केच आव् दी रेलिजस सेक्ट्स् आव हिन्दूज' नामक निबन्धमें तुलसीका जीवनचरित दिया है। गार्साद तासीने सन् १८३९ में प्रथम बार प्रकाशित अपने महत्त्वपूर्ण इतिहास 'इस्त्वार दला लितरे त्योर इन्दुई ए इन्दुस्तानी'में गोस्वामीजीकी जीवनी-विषयक कुछ बातें लिखी हैं और ग्राउस साहबने इस विषयमें जो संकेत किया है वह उनके रामायणके अँग्रेजी अनुवाद 'रामायन आव् तुलसीदास' नामक ग्रन्थकी भूमिकामें है। इन तीनोंके द्वारा गोस्वामीजीका जो जीवन-वृत्त अंकित किया गया है उसमें परस्पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। कोरी जन-श्रुतियोंके आधारपर विल्सनने बाबाजीकी जाति, जन्मभूमि, काशीमें कार्य-क्षेत्र, गुरु परम्परा, देहावसान आदिका जो कुछ उल्लेख किया था उसीको तासी और ग्राउसने किञ्चित् फेर-फारके साथ ग्रहण किया है। हाँ, ग्राउसने 'भक्तमाल'के प्रसिद्ध छप्पय 'कलिकुटिल जीव निस्तार हित ··· तुलसी भयो।' को विशेष महत्त्व दिया है।

अब शिवसिंह सेंगरको लीजिये। उन्होंने सन् १८७७ में अपने ग्रन्थ 'सरोज'में तुलसीकी एक संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत की, उसीमें किन्हीं पसका-निवासी बेनीमाधवदास-रचित एक बृहत् 'गोसाईं-चरित'की सूचना दी, साथ ही यह भी लिखा कि उक्त ग्रन्थ आपकी चक्षुरिन्द्रियका विषय भी हो चुका था। परन्तु उससे इसका कोई आभास नहीं मिलता कि इन्होंने उक्त ग्रन्थके आधारपर अथवा स्वतन्त्र रीतिसे गोस्वामीजीकी जीवनी लिखी और न यही पता है कि सेंगरजीने उक्त ग्रन्थ कहाँ देखा था। उनके

इस अधूरे संकेतसे कविके प्रेमियोंका कुतूहल शान्त न हुआ और कालान्तरमें उस ग्रन्थको लेकर भी तुलसीके जीवन-चरित-लेखकोंमें बहुत क्षोद-क्षेम रहा; पर उससे कोई प्रयोजन-सिद्धि न हुई।

ग्रियर्सन साहबने जो कुछ लिखा है वह सन् १८८६ में प्रकाशित उनके 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान'में है। इसके अनन्तर उन्होंने सन् १८९३ की 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी'में अपने 'नोट्स आन् तुलसीदास'के तीसरे खण्डमें जीवन-वृत्तसे सम्बद्ध कथानकों और जनश्रुतियोंका संग्रह उपस्थित किया। सन् १८६८ में 'डेट आव् कम्पोजीशन आव् तुलसीदासस् कवित्त रामायन'के दूसरे नोटमें तुलसीकी मृत्यु प्लेगसे हुई, यह निर्णय किया[1]। ग्रियर्सनने जो विचार किया है वह अवश्य ही बहुत कुछ युक्त एवं गम्भीर है। इन्होंने जन-श्रुतियोंको छान-बीनकर ग्रहण किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनके परवर्ती आलोचकोंमेंसे अधिकांशने इन्हींकी खोजोंसे लाभ उठाया है।

सन् १८९९ की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित ग्रीव्जका एक छोटा लेख 'गुसाईं तुलसीदासका जीवनचरित' यद्यपि जीवनी-विषयक कोई नवीन बात नहीं बताता, पर अपनी सुन्दर शैलीके कारण मोहक है। ग्रीव्जने अंग्रेजीमें हिन्दी-साहित्यका जो इतिहास लिखा है उसमें भी अत्यन्त संक्षेप, किन्तु बड़े ही आकर्षक ढंगसे तुलसीके जीवन-वृत्तकी चर्चा की है।

ग्रीव्जके पश्चात् सन् १९०२ में 'इण्डियन प्रेस'से प्रकाशित 'मानस'-की भूमिकामें वर्णित जीवन-चरित विशेषतः ग्रियर्सनके अनुसन्धानोंपर अवलम्बित है।

लाला सीतारामने यद्यपि तुलसीके जीवन चरितपर विशेष अध्ययनकी कोई सामग्री नहीं प्रस्तुत की है, फिर भी इस वर्गमें उनका नामोल्लेख साभिप्राय है। इन्होंने सन् १९०८ में राजापुरके अयोध्याकाण्डकी प्रतिलिपि कराकर प्रकाशित की और इसीकी छोटीसी भूमिकामें गोस्वामीजीकी

1. 'एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल' १८६८ पृ० १४७–४८

जीवनीपर किञ्चित् प्रकाश डालते हुए—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत'के आधारपर सोरोंकी ओर इशारा किया। लालाजीके इसी इशारेपर बहुत दिन पीछे जीवन-वृत्तके लेखकोंका एक विशेष दल ही बन गया जो एटा जिलेके सोरोंको ही तुलसीकी जन्मभूमि सिद्ध करनेका असफल प्रयास बहुत दिनोंतक करता रहा।

बाबू इन्द्रदेवनारायणने तुलसीदासके जीवन-चरितके उद्घाटनमें जो योग दिया वह सन् १९१२ की 'मर्यादा'में उनके एक नोट किसी रघुवरदास-प्रणीत 'तुलसी-चरित'के सम्बन्धमें प्रकाशित हुआ। उसमें इस चरितकी छन्द-संख्या एक लाख, चौंतीस हजार, नौ सौ, बत्तीस बतायी गयी और कुछ अंश उद्धृत किये गये। इस अंशमें कविका जितना जीवन-वृत्त आता है उसमें अन्य बातोंके साथ यह भी अंकित है कि उसके पूर्वज धनाढ्य मारवाड़ियोंके गुरु थे और उनसे पुष्कल धन पाते थे; उसकी तीन शादियाँ हुई थीं और अन्तिम विवाहमें उसके पिताको छः हजार रुपये दहेजमें मिले थे। पर, जब हम कविकी रचनाओंमें उसके स्वकथित बाल्यकालके जीवनकी ओर ध्यान देते हैं तो इन्द्रदेवनारायण द्वारा उपस्थित की गयी बातोंपर हमारा विश्वास नहीं टिकता। दूसरे जब ग्रन्थ प्रकाशमें ही नहीं आया तो उसमें क्या लिखा है, क्या नहीं—इसकी चर्चा ही व्यर्थ है।

शिवनन्दन सहायने सन् १९१६ में गोस्वामीजीके जीवन-वृत्त-विषयक उपादान अपने ग्रन्थ 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी'में प्रस्तुत किया है। उक्त ग्रन्थके दो खण्ड हैं। प्रथम खण्डमें लेखकने अपने समयतक प्राप्त समस्त सामग्रीपर परिश्रम और विस्तारपूर्वक विचार किया है। एक बात अवश्य है कि ग्रन्थमें जनश्रुतियोंको उनकी योग्यतासे अधिक महत्त्व दिया गया है। निस्सन्देह उस समयतक जनश्रुतियोंके अतिरिक्त अन्य वृत्त न्यून मात्रामें उपलब्ध था। पर यह अनिवार्य नहीं था कि लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकोंकी भाँति जनश्रुतियोंको ही प्रश्रय देता।

'नागरी प्रचारिणी सभा'ने सन् १९२३ में 'तुलसी-ग्रन्थावली'के

तृतीय खण्डमें जो जीवन-वृत्त प्रकाशित किया है उसके विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सामान्य हेर-फेरके साथ सन् १९०२में प्रकाशित 'मानस'की भूमिकामें दिये हुए जीवन-वृत्तका रूपान्तर मात्र है।

अब रामकिशोर शुक्लने 'मूल गोसाईं-चरित'के आधारपर लखनऊसे सन् १९२५ में प्रकाशित 'मानस'के स्वसम्पादित संस्करणकी भूमिकामें तुलसीका जो जीवन-वृत्त दिया है उसे लीजिये। इसमें उल्लिखित बातोंने कुछ समयतक हलचल-सी मचा दी थी। प्रारम्भमें ही यह निर्दिष्ट किया गया है कि प्रस्तुत जीवनी उस बृहत् जीवनीका अन्तिम अध्याय है जिसका उल्लेख सेंगरजीने अपने 'सरोज'में किया था। पर यह सब कहते हुए भी लेखकने इस बातकी सूचना नहीं दी है कि वह बृहत् जीवनी उसे कहाँ मिली और उसका आकार-प्रकार कैसा है।

यद्यपि रामकिशोर शुक्ल 'मूल गोसाईं-चरित'को प्रमाणित नहीं कर सके थे, फिर भी यह ग्रन्थ बाबू श्यामसुन्दर दासके कर-कमलोंका स्पर्श प्राप्त कर कुछ समयतक काफी मान्य बना रहा। सन् १९२७ की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'में बाबू साहबने 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसमें 'मानस'के उक्त संस्करणमें सन्निविष्ट 'मूल गोसाईं-चरित' ज्योंका त्यों रखा और उसकी तिथियों और घटनाओंके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये। इसके अतिरिक्त उसकी प्रामाणिकताके विषयमें कतिपय विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत कर आपने उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की और उसीके आधारपर सन् १९३१ में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालका सहयोग लेकर अपना ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास' प्रकाशित किया। इस पुस्तकमें लेखकके शब्दोंमें—"अबतककी उपलब्ध सामग्रीको उपयोगमें लाने तथा गोस्वामीजीका एक सुश्रृंखल जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत करनेका उद्योग किया गया है, साथ ही उनके जीवनपर एक व्यापक दृष्टि डालनेका प्रयास किया गया है[1]।" यह उद्योग इस विश्वासके साथ किया गया है कि—'जिस व्यक्ति बेनीमाधवका अपने चरित-नायकसे चौसठ या

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० २२

सत्तर वर्षका दीर्घकालीन सम्पर्क रहा हो उसके लिखे जीवन-चरितकी प्रामाणिकताके विषयमें सन्देहके लिए अवकाश बहुत कम हो सकता है, यदि 'मूल चरित' प्रामाणिक न हो तो आश्चर्यकी बात होगी[१]।" फलतः कविके जीवन-वृत्त संग्रहके इस उद्योगमें 'मूल गोसाईं-चरित'को प्राधान्य मिलना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि जबतक 'चरित'की किसी बातके विरोधमें चाहे वह कितना साधारण क्यों न हो, कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसका इस जीवन-वृत्तमें सम्मिलित करना न्याय समझा गया। 'मूल गोसाईं-चरित'के आधारपर लिखे गये अन्ध विश्वासों और जनश्रुतियोंका इस पुस्तकमें प्रचुर प्रचार है।

सोरों, जिला एटाके निवासी गोविन्दवल्लभ भट्ट तथा गौरीशंकर द्विवेदी, पं० रामनरेश त्रिपाठी, रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा, दीनदयाल गुप्त आदि सबके सब लाला सीतारामके इंगित मार्गपर चलनेवाले हैं। इन्होंने सोरोंको गोस्वामीजीकी जन्मभूमि सिद्ध करनेका प्रयास किया है। इनमेंसे प्रत्येकके कार्यका पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराना अवाञ्छनीय न होगा।

जिन दिनों 'मूल गोसाईं चरित'की महिमाका गान हो रहा था उन्हीं दिनों सन् १९२९ में गोविन्दवल्लभ भट्टने अपना एक लेख 'गोस्वामीजीका जन्म-स्थान—राजापुर या सोरों' 'माधुरी'में प्रकाशित कराया और यह प्रतिपादित किया कि गोस्वामीजीका जन्म सोरों, जिला एटामें हुआ था; सोरोंके योगमार्ग नामक मुहल्लेमें अब भी उनका मकान है; वे जातिके सनाढ्य शुक्ल थे; उनके गुरु नरहरि चौधरी भी वहींके निवासी सनाढ्य थे, उनका स्थान भी सोरोंमें सुरक्षित है। तुलसीदास और नन्ददास भाई-भाई थे; तुलसीदासका विवाह सोरोंके पड़ोसमें बँदरिया ग्राममें हुआ था, जहाँ उनकी ससुरालका खँडहर अब भी बताया जाता है। नन्ददासके पुत्रका नाम कृष्णदास था। तुलसीदासके राजापुर चले जानेपर यही कृष्णदास उनको मनाकर घर वापस

१. वही, 'गोस्वामी तुलसीदास' पृष्ठ २२

लानेके लिए उनके पास गये थे, पर वे लौटे नहीं। इन सभी बातोंकी प्रामाणिकताके लिए लेखकने विशेषतया स्थानीय मौखिक जन-श्रुतियोंका आधार लिया, साथ ही कुछ अन्य युक्तियोंसे भी काम चलाया है। भट्टजीके इन विचारोंसे हिन्दी संसार चौंक उठा और खण्डन-मण्डनकी बातें उठने लगीं। फिर कुछ समय बाद सन् १९३३ में पं० गौरीशंकर द्विवेदी नामक एक सज्जनने 'बुन्देल-वैभव' तथा 'सुकवि सरोज' दो ग्रन्थ प्रकाशित किये जिनमें बुन्देलखण्डके कवियोंका परिचय देते हुए तुलसीदासको सोरोंका निवासी बताया। द्विवेदीजीने भट्टजीकी सभी बातोंका समर्थन और उनके विरोधमें लिखी बातोंके खण्डनका प्रयास भी किया।

पुनः पं० रामनरेश त्रिपाठीने सन् १९३६ में 'मानस'का एक सस्करण निकाला और उसके साथ एक ऐसी विस्तृत भूमिका दी जिसमें उस समयतक प्राप्त तुलसीदासके जीवन-वृत्त तथा रचनाओंके सम्बन्धकी लगभग सभी प्रमुख सामग्रीका आधार ग्रहण कर कविका पूर्ण परिचय उपस्थित किया गया। फिर उन्होंने इसी सामग्रीको कुछ फेर-फारके साथ सन् १९३७ में 'तुलसीदास और उनकी कविता'के रूपमें निकाला। इस ग्रन्थके दो भाग निकल चुके हैं और तीसरा अभी भविष्यके गर्भमें है। प्रथम खण्डमें जो जीवन-वृत्त उन्होंने दिया है उसके विषयमें इतना सहर्ष कहना पड़ेगा कि सन् १९३७ तक प्रकाशित कविके जीवन-वृत्त-विषयक सभी उल्लेखनीय सामग्री एकत्र संगृहीत हैं। अन्तः साक्ष्योंके आधारपर लेखकने कविकी जीवनी देनेका जो प्रयास किया है वह भी स्तुत्य है। पर, तुलसीदासको सोरोंका निवासी सिद्ध करनेके लिए जो अनावश्यक खींच तान की गयी है वह ग्रन्थका महत्त्व कम करती है।

त्रिपाठीजीके पश्चात्, सन् १९३९ में अकस्मात् प्रस्फुटित होनेवाले उस नवीन प्रकाशकी ओर हमारा ध्यान जाता है जिसमें गोस्वामीजीके जीवन-चरितको व्यक्त करनेवाली अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ एक साथ सोरोंमें चमक उठती हैं। इन प्रतियोंको प्रकाशमें लानेवाले हैं कास-गंज निवासी रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा और लखनऊ विश्वविद्यालयके

दीनदयालजी गुप्त। जिन हस्तलिखित पुस्तकोंके सहारे इन सज्जनोंने प्रकाश फैलाया वे ये हैं—'मानस'की दो प्रतियोंकी पुष्पिकाएँ, 'सूकर-क्षेत्र-महात्म्य-भाषा', रत्नावली-रचित दोहोंका संग्रह तथा मुरलीधर चतुर्वेदीकृत 'रत्नावलीकी जीवनी'। भारद्वाजजीने अपने दो लेख 'गोस्वामी तुलसीदासकी धर्म-पत्नी रत्नावली' (जीवनी और रचना) और 'महाकवि नन्ददास' फरवरी और जूनके 'विशाल भारत'में क्रमशः छपवाये। भद्रदत्त शर्मा और दीनदयालजीके लेख हैं—'श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी' तथा 'महात्मा तुलसीदास और कविवर नन्ददासजी'। ये लेख 'सनाढ्य-जीवन' नामक जातीय पत्रके 'तुलसी-स्मृति-अंक'में निकले हैं। इन सज्जनोंका कर्तृत्व उनके लेखोंके शीर्षकसे ही स्पष्ट है। जिस जीवन-चरितको गोविन्द-वल्लभ भट्ट, गौरीशंकर द्विवेदी आदिने केवल जन-श्रुतियोंके आधारपर लिखा था उसको इन सज्जनोंने लिखित प्रमाणोंसे पुष्ट किया। जो भी हो, इन महानुभावोंका ध्यान इस ओर नहीं गया कि आखिर जिन प्रमाणोंका ये आधार ले रहे हैं वे मान्य हैं या नहीं। इसके लिए कुछ विद्वानोंको इनकी परीक्षाके लिए सोरों दौड़ना पड़ा और अन्तमें इनका भण्डाफोड़ हुआ।

जीवन-चरित लेखकोंमें जिन विद्वानोंकी नामावली दी गयी थी उनमेंसे प्रायः सभीके कार्यका संकेत हो चुका और अब रही माताप्रसाद गुप्तकी बात। गुप्तजीने अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास'के प्रकाशनकालतक जितना जीवन-वृत्त-विषयक कार्य हुआ था उसका बड़े ही परिश्रम और विवेकसे उक्त ग्रन्थमें सन्निवेश किया है, अपनी शुद्ध तार्किक शैलीमें उन्होंने चरित-लेखकोंकी खामी बताते हुए सचाईको ढूढ़नेका प्रयास किया है। सोरोंमें प्राप्त तथाकथित प्रमाणोंकी जाँचके लिए पर्याप्त अन्वेषण करके उन सभी प्रमाणोंको सन्दिग्ध सिद्ध किया है। निस्सन्देह इस विद्वान्‌ने जीवन-चरितका जो स्वरूप ग्रहण किया है वह यथेष्ट रूपमें प्रामाणिक है।

कृतियोंकी प्रामाणिकता और **काल-क्रम-विचार**—इस क्षेत्रके प्रमुख कार्यकर्ता ग्रियर्सन, इण्डियन प्रेससे मुद्रित 'मानस'की भूमिकाके

लेखक, मिश्र-बन्धु, शिवनन्दन सहाय, 'तुलसी-ग्रन्थावली'के सम्पादक, श्याम-सुन्दरदास और बड़थ्वाल, रामनरेश त्रिपाठी, रामकुमार वर्मा तथा माता-प्रसाद गुप्त हैं।

ग्रियर्सन साहबके 'एण्टीक्वेरी'में प्रकाशित 'नोट्स आन् तुलसीदास'की चर्चा पहले हो चुकी है। इनके पहले और दूसरे अंशमें तुलसीकी कुछ रचनाओंमें उल्लिखित तिथियोंकी गणना और द्वादश कृतियोंकी प्रामाणिकता-पर विचार किया गया है। इण्डियन प्रेसके 'मानस'की भूमिकामें सम्पादकोंने ग्रियर्सनके विचारोंको ही अपना आधार माना है। गोस्वामीजीकी रचनाओंके विषयमें मिश्र-बन्धुओंके विचार उनके 'हिन्दी-नवरत्न'में सन्नि-हित हैं। इस ग्रन्थका प्रकाशन प्रथम बार सन् १९१० में हुआ था। शिवनन्दन सहायने चलते ढंगसे गोस्वामीजीकी कृतियोंके विषयमें जो विचार किया है वह उनके 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी'मे है। 'तुलसी-ग्रन्थावली'के सम्पादकोंने कृतियोंकी प्रमाणिकता और उनके पाठ-पक्षका सामान्य विवेचन अवश्य किया है, पर रचनाओंके काल-क्रमकी ओर इनका ध्यान नहीं गया है। श्याम सुन्दरदास और बड़थ्वालके 'गोस्वामी तुलसी-दास'में यद्यपि एक अध्याय रचानाओंपर विशेष रूपसे प्रकाश डालता है, किन्तु उसमें 'मूल गोसाईं-चरित'में दिये हुए कालक्रमसे मिलानेका हठात् प्रयास है। रामनरेश त्रिपाठीने तुलसीकी रचनाओंकी प्रामाणिकता और कालक्रम-विषयक जो कार्य किया वह उनके 'तुलसीदास और उनकी कविता'के प्रथम भागमें है। अपने इस कार्यके विषयमें लेखकका कहना है—"तुलसीकी रचनाओंके कालक्रमपर मेरी यह स्वतन्त्र सम्मति है। काल-क्रम निश्चित करते समय मैं इस विषयके किसी लेख या तुलसीदासके किसी चरित-लेखककी कल्पनाके प्रभावमें नहीं हूँ[1]।" रामकुमार वर्माने अपने 'हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास'में तुलसीके बारहों ग्रन्थोंके रचना-कालकी प्रमाणिकताकी परीक्षा की है। माताप्रसाद गुप्तने अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास'में रचनाओंकी प्रामाणिकता और कालक्रम-विषयक

(१) 'तुलसीदास और उनकी कविता' प्रथम भाग, पृ० ४०९

विचारोंकी आलोचना करते हुए अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं। ये अधिकतर तार्किक प्रणालीपर अवलंबित हैं।

कला-सौष्ठव-विचार—इस श्रेणीमें मिश्र-बन्धु-गण, शिवनन्दन सहाय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास और बड़थ्वाल, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, रामनरेश त्रिपाठी एवं माताप्रसाद गुप्तकी आलोचनाएँ आती हैं। मिश्र-बन्धुओंका नाम सर्वप्रथम साभिप्राय रखा गया है। सन् १९१० अर्थात् 'हिन्दी-नवरत्न'के प्रकाशन-कालके पूर्व तुलसीकी साहित्यिक विशेषताओंके मर्मोद्घाटनकी ओर लोगोंका ध्यान नहीं गया था, सभी जीवनी और रचनाओंको प्रामाणिकताके विचारमें पड़े थे। मिश्र-बन्धुओंने एक प्रकारसे तुलसीकी साहित्यिक समालोचनाकी नींव डाली। 'हिन्दी नवरत्न'में गोस्वामीजीकी कुछ विशेषताएँ संख्या-क्रमसे बतायी गयी हैं और कुछ नाममात्रकी त्रुटियोंका भी संकेत है। ग्रन्थके 'गोस्वामीजीके मत' शीर्षकमें उनके पन्द्रह मतोंका निर्देश है। तदनन्तर 'मानस'के कुछ विशिष्ट स्थलोंकी बारीकियाँ 'स्फुट गुण'के रूपमें दिखायी गयी हैं। अन्तमें, गुण-दोषोंकी सामूहिक तुलना करके गुणोंका आधिक्य दिखाकर कविको हिन्दी साहित्यके सर्वोच्च शिखरपर अधिष्ठित किया गया है।

श्री शिवनन्दन सहायने कला-सौष्ठव विषयक जो कार्य किया है वह उनके 'श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी' द्वितीय खण्ड में है। सर्वप्रथम, लेखकने 'मानस'के कुछ चुने हुए स्थलोंमें अन्य विद्वानोंद्वारा दिखायी गयी त्रुटियोंके निराकरणका प्रयत्न किया है। तदुपरान्त 'रामायणमें नव रस', 'रामायणमें रूपक' 'रामायणमें राजनीति' 'रामायणके पात्रवर्ग' 'चरित्रोंसे क्या शिक्षा मिलती है' आदि शीर्षकोंमें अपने विचारोंका प्रतिपादन किया है। फिर, कुछ अध्यायोंमें अन्य कृतियोंकी चर्चा की है। अन्तमें, कविकी संस्कृतज्ञता, उसके दार्शनिक विचारोंका परिचय तथा वाल्मीकीय एवं अध्यात्मरामायणसे 'मानस'की कथावस्तुकी तुलना करके ग्रन्थकी इति की गयी है। ग्रन्थके प्रतिपाद्योंकी बहिरंग परीक्षा विशेष रूपसे हुई है। भूतपूर्व आलोच-

नाओंपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है और तुलसीके 'मानस' तथा कुछ अन्य ग्रन्थोंमें संस्कृत ग्रन्थोंकी जो प्रतिच्छाया मिलती है उसकी ओर स्पष्ट रूपसे पहले-पहल अध्येताओंका ध्यान इसीमें आकृष्ट किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने गोस्वामीजीकी कलाका महत्त्व अपने 'गोस्वामी तुलसीदास'में उद्घाटित किया है। पहले उनकी यही आलोचना 'तुलसी-ग्रन्थावली'के तृतीय खण्डमें संगृहीत थी, किन्तु सन् १९३५ में जो संशोधित और परिवर्धित संस्करण निकला है उससे जीवनखण्ड निकाल दिया गया है और पुस्तक लेखकके शब्दोंमें—"अपने विशुद्ध आलोचनात्मक रूपमें पाठकोंके सामने रखी जाती है।" ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयोंसे अवगत होता है कि इसमें काव्य-सौष्ठवके उद्घाटनका ही अत्यधिक प्रयास है। 'तुलसीकी काव्य-पद्धति'से लेकर अन्तिम शीर्षक—'हिन्दी-साहित्यमें गोस्वामीजीका स्थान'—पर्यन्त प्रायः सर्वत्र काव्य-सौष्ठवकी ही चर्चा है। पुस्तकके पृ० ७५ से पृ० १६० तक जिन काव्यात्मक विशेषताओंका वर्णन मिलता है उन्हें अत्यन्त संक्षेपमें यों कह सकते हैं—गोस्वामीजीकी रुचि काव्यके अतिरञ्जित अथवा प्रगीत स्वरूपकी ओर नहीं थी और न कुतूहलोत्पादन और मनोरञ्जन ही उनका उद्देश्य था। उनकी रुचि थी यथार्थ चित्रणकी ओर। वे हमारे सामने कविके अतिरिक्त उपदेष्टाके रूपमें भी आते हैं। उन्होंने वीरगाथाकाल और प्रेमगाथाकालके वैभवसे भी अपनी काव्य-पद्धतिको विशेष उन्नत किया है। रामकथाके मार्मिक स्थलोंको पहचानने और उनकी विशद व्यञ्जना करनेमें उनका कवि-हृदय सदैव सजग रहा है। कथाके विभिन्न पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें भी उनकी प्रतिभा अप्रतिम है। बाह्य-दृश्य-चित्रणमें उन्होंने प्राचीन संश्लिष्ट चित्रण-पद्धतिका आश्रय यद्यपि कम लिया है, पर उनके चित्रोंमें असंगति, सुरुचिका अभाव, चमत्कार-प्रियता, अस्वाभाविकता आदि वे अवगुण नहीं मिलते जो हिन्दी-साहित्यके अन्य छोटे-बड़े कवियोंमें पाये जाते हैं। उन्होंने अलंकारोंको भावोंका उत्कर्ष दिखाने और रूप,

क्रिया तथा गुणोंका अनुभव तीव्र करानेमें सहायक माना है। उनकी रचनाओंमें उक्ति-वैचित्र्यकी भी न्यूनता नहीं। वे भाषापर पूर्ण अधिकार रखनेवाले हैं। उनकी कृतियोंमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं। यह सब होते हुए भी वे हिन्दी-साहित्यके सर्वोत्कृष्ट कवि हैं, इत्यादि। इसके अतिरिक्त पुस्तकमें कुछ अन्य ऐसी आलोचना भी है जिसका कलासे सम्बन्ध नहीं। उसकी चर्चा अन्य उपयुक्त वर्गमें होगी।

शुक्लजीने गोस्वामीजीकी काव्य-कलाका जो मर्म अभिव्यक्त किया है उसके सामने अन्य समीक्षकोंकी कलापरक आलोचनाएँ हल्की प्रतीत होती हैं, तथापि अन्य आलोचकोंका प्रयास व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

बाबू श्यामसुन्दर दास और पीताम्बरदत्त बडथ्वालके 'गोस्वामी तुलसी-दास'में कलाका मर्म विशेष रूपसे उद्घाटित नहीं किया गया है। फिर भी, ग्रन्थके एकादश अध्यायके 'गोसाईंजीकी कला' शीर्षकमें सामान्यतया प्रतिपादित है कि तल्लीनता, प्रबन्धपटुता, रचनाचातुर्य, भाषासौष्ठव, रसपरि-पाक, अलंकारयोजना आदि सभी दृष्टियोंसे गोस्वामीजीकी रचना पूर्ण है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थीने गोस्वामीजीकी कलाका जो सौष्ठव व्यक्त किया है वह उनकी सन् १९३५ में प्रकाशित 'तुलसीके चार दल' पहली पुस्तकमें है। इसमें कविके सामान्य जीवन-वृत्त देनेके पश्चात् उसकी काव्य-कलापर विचार किया गया है। फिर उसके चार छोटे ग्रन्थ 'रामलला नहछू', 'पार्वतीमंगल', 'जानकीमंगल' तथा 'बरवै रामायण'की समीक्षा की गयी है और दूसरे खण्डमें इन्हींका टीकासहित मूल पाठ दिया गया है। 'काव्य-कला और गोस्वामीजीकी निजी प्रेरणा' शीर्षकके अधिकांश पृष्ठोंमें साहित्यिक सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है और उसके कुछ पृष्ठोंमें तुलसीपर उन सिद्धान्तोंके प्रयोगकी संक्षिप्त चर्चा है। अवश्य ही, इस संक्षिप्त चर्चामें समालोचनाका दृष्टिकोण नवीन है। इसमें शुक्लजीके 'लोकधर्म'वाले सिद्धान्तपर आक्षेप है। लेखकका दृष्टिकोण गम्भीर है।

पं० रामनरेश त्रिपाठीने गोस्वामीजीकी जिन कलात्मक विशेषताओं-को अनावृत किया है वे भी प्रशंसनीय हैं। त्रिपाठीजीके ग्रन्थ 'तुलसीदास

और उनकी कविता'के प्रथम दो भागोंमें ही लगभग एक हजार पृष्ठ हो गये हैं। तीसरा भाग भी पाँच सौ पृष्ठोंसे क्या कम होगा। पृष्ठ-संख्याकी दृष्टिसे त्रिपाठीजीने जितना अधिक कार्य किया है उतना तुलसीके किसी अन्य आलोचकने नहीं। हजार पन्नोंके विस्तृत क्षेत्रमें एक ही बातको कई ढंगोंसे अदा करने और किसी उदाहरणके लिए अवतरणपर अवतरण उद्धृत करनेके अतिरिक्त दूसरे प्रसंगोंका अभाव तो रहता ही है। कदाचित् यही त्रुटि त्रिपाठीजीमें विशेष रूपसे खटकती है। गोस्वामीजीकी कविता और कलाका जो सौष्ठव लेखकने दिखाना चाहा है वह उसकी व्यास-पद्धतिमें पड़कर रोचक अवश्य हो गया है, पर सारहीनताकी मात्रा उसी अनुपातमें बढ़ गयी है। जो कुछ भी हो, त्रिपाठीजीने तुलसीकी भाषा, उनकी महाकवित्व-शक्ति एवं उनकी काव्य-सम्पदापर काफी प्रकाश डाला है।

डा० माताप्रसाद गुप्तने अपना कला-विषयक नाममात्रका सर्वंकष-गवेषण अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास'में दिखाया है। गोस्वामीजीके चरित्र-चित्रण, भाव-चित्रण, वस्तु-विन्यास, नख-शिख आदि शीर्षकोंमें उनकी परखकी बानगी मिलती है।

गोस्वामीजीके कला-पारखियोंमें राजबहादुर लमगोड़ा भी प्रशंसनीय हैं। लमगोड़ाजीने 'मानस'के आधारपर गोस्वामीजीका महत्त्व दिखानेके लिए अपनी वाह-वाहवाली अतिरञ्जन-प्रणालीका आश्रय अधिक लिया है। 'तुलसी-ग्रन्थावली'के तृतीय खण्डमें संगृहीत अपने निबन्ध 'हिन्दी भाषा और तुलसीकृत रामायण'के अतिरिक्त लेखकने स्वतन्त्र रूपसे "विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस' ग्रन्थ दो भागोंमें लिखा है। प्रथम भाग सन् १९४३ में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा'से प्रकाशित हुआ। पुस्तक अपने ढंगकी निराली है। लेखकने विश्वसाहित्यमें श्रेष्ठतम समझे जानेवाले शेक्सपियरके कुछ नाटकोंसे तुलसीके 'मानस'की विशद् रूपमें तुलना करके उसकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। पहले भागमें 'हैमलेट', 'ओथेलो' तथा 'मेकबेथ'से 'मानस'की तुलना की गयी है और

दूसरे भागमें शेक्सपियरकृत अन्य विशिष्ट रचनाओंसे तुलना करनेका वादा किया गया है। लेखककी ऐसी तुलनात्मक समीक्षा कहाँतक सफल या विफल है, इसपर सम्मति देना हमें अभीष्ट नहीं।

भक्ति एवं उपासना-विचार—इस दिशामें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० बलदेवप्रसाद मिश्रने कार्य किया है। शुक्लजीने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास'के पहले ही प्रकरणमें 'तुलसीकी भक्ति-पद्धति' शीर्षकके अन्तर्गत संकेत किया है कि गोस्वामीजी विशुद्ध भारतीय पद्धतिके अनुयायी हैं। पर, भारतीय भक्ति-पद्धति क्या है, इसकी विवेचना नहीं की है।

बलदेवप्रसाद मिश्रने सन् १९३८ में अपना 'तुलसी-दर्शन' प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय भक्ति-पद्धतिका इतिहास देते हुए भक्तिका स्वरूप निर्दिष्ट किया और उसकी कसौटीपर तुलसीको कसकर उन्हें प्राचीन भारतीय भक्तिका अनुयायी ठहराया, साथ ही उनकी उपासनाकी कुछ विशेषताएँ भी लक्षित कीं। 'मानस'को भक्ति-शास्त्रकी दृष्टिसे देखते हुए उनका आलोचनात्मक अध्ययन करनेका श्रेय मिश्रजीको विशेष रूपसे मिलना चाहिये। 'तुलसी-दर्शन' अपने ढंगकी अनोखी पुस्तक है। उसकी उपयोगिता और उपादेयता दोनों ही असन्दिग्ध हैं। तुलसीकी भक्ति और उपासनापर इसमें सुन्दर विवेचना है। यद्यपि ग्रन्थका नाम 'तुलसी-दर्शन' रखा गया है, पर 'मानस'को छोड़कर अन्य कृतियोंकी उपेक्षा की गयी है, यह बात अवश्य खटकती है।

सामाजिक मत-विचार—इस वर्गमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० रामचन्द्र दुबेके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्लजीने गोस्वामीजीके सामाजिक मतपर अधिक प्रकाश डाला है। यह विषय 'लोकनीति और मर्यादावाद' प्रकरणमें सन्निहित तो है ही, पर उनकी सम्पूर्ण स्थापना इसीपर केन्द्रित है। इसमें दिखाया गया है कि गोस्वामीजी वर्णाश्रम-व्यवस्थाके विघातक नहीं, किन्तु पक्के व्यवस्थापक थे।

रामचन्द्र दुबेने समाजके कुछ ही अंगोंपर विचार किया है। आपने 'तुलसी-ग्रन्थावली' तृतीय भागमें संगृहीत 'गोस्वामी तुलसीदास और

राजनीति' तथा 'गोस्वामी तुलसीदास और नारीजाति' लेखोंमें गोस्वामीजीके राजनीति और नारी विषयक मतोंकी 'मानस'के आधारपर अच्छी गवेषणा की है। दूसरे लेखमें तुलसीपर लगाये हुए नारी-निन्दाके अपराधका कुछ मार्जन किया है।

धार्मिक मत-विचार :—डा० ग्रियर्सन, पादरी जे० एन० कारपेण्टर, डा० जे० एम० मैक्फी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ककी समीक्षाएँ गोस्वामीजीके धार्मिक मतपर प्रकाश डालती हैं। ग्रियर्सनका महत्त्वपूर्ण लेख 'तुलसीदास कवि और धर्मसुधारक' सन् १९०३ के 'रायल एशियाटिक सोसाइटी'के जर्नलमें प्रकाशित हुआ। उसमें लेखकने तुलसीके अभिमत धर्मकी महत्ता तथा उनका प्रभाव दिखाया है। इस निबन्धको तुलसीके धार्मिक मतकी व्यापकताका संकेतमात्र समझना चाहिये।

कारपेण्टर साहबने गोस्वामीजीके धार्मिक मतपर 'दि थियोलोजी आव् तुलसीदास'में विचार किया है। इस ग्रन्थका प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ। इसमें लेखकने 'मानस'के आध्यात्मिक स्थलोंको छाँटकर कविके सिद्धान्तोंका निष्कर्ष निकालना चाहा है। पुस्तकमें सबसे अधिक खटकनेवाली बात यह है कि लेखकके दृष्टिकोणपर ईसाई 'मिशनरी'का चश्मा चढ़ा है। दूसरे यदि तुलसीदासकी 'थियोलोजी' लिखनी थी तो उनके सभी ग्रन्थोंका आधार लेना चाहिये था, न कि केवल 'मानस'के कुछ स्थलोंका। आलोचकके तटस्थ दृष्टिकोणका अभाव भी खटकता है। फिर भी एक विदेशीका प्रयास होनेके नाते ग्रन्थ स्तुत्य ही है।

जे० एम० मैक्फीने तुलसीदासके धार्मिक मतका जो विश्लेषण किया है वह उनके 'दि रामायन आव् तुलसीदास'में है। यह ग्रन्थ सन् १९३० में प्रकाशित हुआ। इसमें भी कारपेण्टरके ग्रन्थकी भाँति कविके धार्मिक सिद्धान्तोंका विवेचन है, किन्तु इसमें उन त्रुटियोंमेंसे एक भी नहीं हैं जो कारपेण्टर साहबकी पुस्तकमें पायी जाती हैं। प्रारम्भमें कविकी एक छोटी-सी जीवनी भूमिकाके रूपमें दी गयी है। तदुपरान्त संक्षेपमें रामकथा है। देवताओं तथा त्रिदेवोंके

विषयमें :कविके विचारोंका स्पष्टीकरण है। 'मानस'के अनुसार ब्रह्मका स्वरूप क्या है, सदाचारका क्या स्वरूप है—इसकी भी-गम्भीर विवेचना है। लेखक इस बातसे तनिक भी प्रभावित नहीं है कि भारतीय भक्ति मार्गके विकासपर ईसाई धर्मका कोई प्रभाव पड़ा है। पुस्तक 'मानस'के आधारपर तुलसीके आध्यात्मिक विचारोंके अध्ययनमें सहायक है।

शुक्लजीने तुलसीके धार्मिक मतके विषयमें जो संकेत किया है वह उनके 'लोक धर्म' शीर्षकमें है। इस प्रकरणमें यही दिखाया गया है कि धर्म-व्यवस्थापक तुलसीने लोक-संग्रहकी भावनासे प्रेरित होकर धर्मके जिस स्वरूपका प्रचार किया वह पूर्ण है।

दार्शनिक मत विचार—इस क्षेत्रमें महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदीका कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने लेख 'गोस्वामी-जीके दार्शनिक विचार'में तुलसीका मत दर्शाया है। यह लेख 'तुलसी-ग्रन्थावली'के तीसरे भागमें संग्रहीत है। इस निबन्धमें गोस्वामीजीको शांकर अद्वैतका पक्का अनुगामी सिद्ध किया गया है। लेखकके शब्दोंमें ही उसका दावा सुनिये—"दावेके साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैतके विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं[1]।" इसमें सन्देह नहीं कि चतुर्वेदीजीका निबन्ध विचारपूर्ण है, पर सत्यको वह अंशतः ही उपस्थित करता है।

प्रसिद्ध रामायणी पं० विजयानन्द तिवारीका 'गोस्वामी तुलसीदासके-दार्शनिक विचार' शीर्षक जो लेख जुलाई सन् १९३७ के 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ उसमें भी अन्तरंग और बहिरंग-परीक्षाके आधारपर गोस्वामीजीका अद्वैत सिद्धान्त ही स्थिर किया गया है। यह लेख भी विचारपूर्ण होते हुए आंशिक सत्यका ही समर्थक है।

उपर्युक्त महानुभावोंके अतिरिक्त अन्य कई विशिष्टाद्वैत या द्वैत-समर्थक महाशयोंने भी गोस्वामीजीके दार्शनिक दृष्टिकोणका निर्देश करना चाहा है, परन्तु खेद है कि सभी लोग अपनी-अपनी रुचिके

---

१. 'तुलसी ग्रन्थावली' तृतीय खण्ड पृ० १२७

अनुसार किसी एक पक्षमें ही उलझ गये हैं। आलोचककी व्यापक दृष्टिसे हटकर एक प्रकारके पक्षपातमें पड़ गये हैं। दूसरी क्षोभजनक बात यह है कि ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जिसने गोस्वामीजीका दार्शनिक दृष्टिकोण निश्चित करनेके लिए उनके सभी ग्रन्थोंपर विचार किया हो।

आर्ष ग्रन्थ-प्रभाव-विचार—इस वर्गकी आलोचनाओंमें प्रतिष्ठित किया गया है कि गोस्वामीजीपर अमुक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थका प्रभाव पड़ा है। इटालियन विद्वान् एल० पी० टेसीटोरीका 'इल रामचरित मानस ए इल रामायन' शीर्षक लेख जो अनूदित होकर सन् १९१२ तथा १९१३ की 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' में निकला उसमें विज्ञ लेखकके द्वारा 'रामचरित मानस'की कथावस्तुकी तुलना विस्तारपूर्वक 'वाल्मीकीय रामायण'की कथावस्तुसे की गयी है। यह भी संकेत किया गया है कि 'मानस'पर कुछ अन्य ग्रन्थोंके साथ 'अध्यात्मरामायण'का भी प्रभाव पड़ा है। टेसीटोरीके अतिरिक्त शिवनन्दन सहायने भी अपने ग्रन्थ 'श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी'-के कई शीर्षकोंमें गोस्वामीजीपर वाल्मीकीयरामायण, अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटकादिका प्रभाव दिखाया है। पं० बलदेव उपाध्यायने अपने एक लेख 'तुलसीदास और जयदेव'[1]में 'मानस'के कई स्थलोंपर जयदेवके 'प्रसन्नराघव'का प्रभाव बताया है। महाराष्ट्रके लेखक यादवशंकर जामदारने भी अपनी सन् १९२६ में प्रकाशित 'मानस-हंस' पुस्तिकामें 'मानस'के कुछ स्थलोंपर पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रन्थोंका प्रभाव दिखाते हुए भी तुलसीकी मौलिकता दिखानेका सुन्दर प्रयास किया है।

गोस्वामीजीपर की गयी आलोचनाओंके मर्मोद्घाटक इन विविध विचारोंकी इतनी चर्चा कर चुकनेपर इनके विषयमें मैं इतना और इंगित कर देना चाहता हूँ कि इन विचारोंकी संख्या इतनी ही रहेगी और नये दृष्टिकोण न होंगे, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः ज्यों-ज्यों हम कविकी रचनाओंके अन्तस्तलमें प्रवेश करते जायँगे त्यों-त्यों उसके अधिकाधिक मर्म समझते, अन्यान्यकी सृष्टि और पिछलेका परिष्कार करते जायँगे। अस्तु।

---

(१) यह लेख 'तुलसी-ग्रन्थावली' तृतीय खण्डमें संगृहीत है।

अद्यावधि हमारे कविपर जितनी आलोचनाएँ प्राप्त हैं उन सबके परिशीलनसे प्रकट होता है कि प्रायः सभी बहिरंग परीक्षाकी ओर प्रवृत्त हैं, इतना ही नहीं, बहिरंग परीक्षाकी दृष्टिसे भी मेरे विचारसे अपूर्ण हैं। यथा, कृतिकार अपनी समकालीन समाज-स्थितिको अपनी कृतिमें कहाँतक चित्रित कर सका है, यह प्रश्न बहिरंग परीक्षाके अन्तर्गत आता है, पर इस ओर अभीतक किसीने ध्यान नहीं दिया। प्रस्तुत प्रबन्धमें इस विषयपर विशेष विचार है। युगके चित्रोद्घाटनके साथ ही युगके परिष्कारार्थ कैसे नेतृत्वकी अपेक्षा थी और तुलसीने किस प्रकार अपने युगके सामाजिक नेताका काम किया, यह बात भी अनुसंधानगम्य है। हनुमत्पूजाके प्रचारके पीछे तुलसीदासजीकी दूरदर्शिनी दृष्टिका आलोक है; इसने अन्धकारमें पड़े शिथिल होते हुए भारतीय बल-वीर्यको किस प्रकार प्रकाशित होनेका सुयोग दिया, वह अभी इतिहासके पृष्ठोंसे ओझल है। उसपर और विस्तृत कार्य करनेकी आवश्यकता है।

बहिरंग परीक्षा-सम्बन्धी एक अभावकी पूर्तिका संकेत कर चुकनेके उपरान्त यह कह देना भी आवश्यक है कि इस अनुसन्धानमें अन्तरंग परीक्षाको विशेष प्रश्रय दिया गया है। अन्तरंग परीक्षाके पथपर दृढ़ रह-कर जो मौलिक कार्य किया गया है उसका आभासमात्र आगेके दो-चार अनुच्छेदोंमें दिया जा रहा है।

धर्म-क्षेत्रमें महात्मा तुलसीदासका माहात्म्य दिखानेके लिए उन्हें अपने युगका अग्रगण्य धर्म-सुधारक कहा गया है, पर इस सुधारकके द्वारा प्रचारित धर्मका सांगोपांग स्वरूप कैसा है? इसके विविध अंगोंमें किस अंगकी प्रधानता अथवा अप्रधानता है? साधारण जनताके आचरण-में इसकी मान्यता कहाँतक और कैसी है? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरका प्रयास अभी नहीं हुआ। प्रस्तुत प्रबन्धमें इनपर विचार-विमर्श करते हुए कविकी कृतियोंके आधारपर उसकी धर्म-भावनाका सार्वांगीण विश्लेषण तो किया ही गया है, साथ ही इसकी ऐतिह्यानुकूलताका निर्देश भी नहीं भुलाया गया है।

गोस्वामीजीकी धर्म-भावनाके ही समान उनकी साम्प्रदायिकताकी भावनाका भी परम्परागत वास्तविक स्वरूप इस अनुसन्धानमें सन्निविष्ट है। इससे जो विविध सम्प्रदाय-विषयक नूतन ज्ञानोपलब्धि होगी वह तो होगी ही, पर लोगोंकी यह धारणा भी दूर हो जायगी कि तुलसीने ही वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंमें समन्वयका प्रयास किया, क्योंकि ऐसा प्रयास तो बहुत पहलेसे ही चला आ रहा था। तुलसीने अपने ग्रन्थोंमें केवल उसका समर्थन किया, इतना ही तथ्य है।

गोस्वामीजीकी भक्ति-भावनासे सम्बद्ध आलोचनाओंमें यही घोषणा की गयी है कि वे भारतीय भक्ति-पद्धतिके अनुयायी हैं। पर, भारतीय भक्ति-पद्धति है क्या, इसका यथार्थ विवेचन उनमें नहीं है। इस प्रबन्धमें भक्ति-शास्त्रोंके अनुसार भक्तिके अंग-प्रत्यंगका सांगोपांग निरूपण करते हुए दिखाया गया है कि वे तुलसीकी रचनामें किस प्रकार ओत-प्रोत हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन परम्परागत भक्ति और तुलसीकी अनर्घ भक्ति विवेककी तुलापर सूक्ष्मतासे तौली गयी हैं। भक्तिके विकासमें काल-क्रमको हेतु ठहरानेवालोंके विचारोंकी निस्सारताका संकेत भी किया गया है।

तुलसीदासजी रामोपासक थे, यह तो प्रायः सभी कहते हैं, पर अपनी जो अनन्यासक्ति उन्होंने अपने उपास्यके प्रति दिखायी और अपने उपास्यके विविध स्वरूपोंके जो हृदयस्पर्शी जगमगाते चित्र उन्होंने उपस्थित किये उनका निर्देश किसीने नहीं किया है। प्रस्तुत प्रयास यह अभाव पूरा करता है और तुलसीकी आचार-समन्वित उपासनाकी यथार्थ महत्ता भी अनावृत करता है। परम्परासे यही प्रसिद्ध है कि तुलसीदास रामानन्द-जीकी शिष्य-परम्परामें थे, परन्तु अनुसन्धानने यह प्रमाणित किया है कि यह बात केवल प्रवाद है। रामानन्द वस्तुतः निर्गुनिया सम्प्रदायके व्यक्ति थे जिनके द्वादश शिष्योंमें कबीर, रैदास, धाना, पीपा, सेना आदि हो गये हैं, इन्हींके सम्प्रदायमें तुरसीदासजी एक निर्गुणोपासक सन्त हो गये हैं जिनके कारण यह जनश्रुति फैली कि प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदासजी उनकी शिष्य-परम्परामें थे। इस प्रबन्धमें सप्रमाण सिद्ध कर दिया

गया है कि 'मानस'के प्रणेता तुलसीदासका रामानन्दसे कोई सम्बन्ध नहीं था।

गोस्वामीजीके दार्शनिक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें प्रायः जितनी आलोचनाएँ हुई हैं उनमें उन्हें किसी विशेष दार्शनिक सम्प्रदायका अनुयायी ठहरानेका प्रबल आग्रह है। इस अनुसन्धानमें किसी प्रकारका आग्रह नहीं है। कविकी विविध रचनाओंमें उपलब्ध सभी दार्शनिक उक्तियोंके प्रकाशमें उसकी जो स्वतन्त्र दार्शनिकता प्रकट होती है उसीका विश्लेषण किया गया है।

तुलसीदासजीकी साहित्यिकताका विचार भी अभीतक विस्तृत अनुसन्धानात्मक दृष्टिसे नहीं हुआ है। इस प्रबन्धमें उसके लिए भी प्रयास किया गया है। ऐतिह्य और पुराणका कितना प्राचीन अंश उन्होंने ग्रहण किया और कितनेकी अपनी बुद्धिसे नवीन व्यवस्था की, इसका भी विवेचन इसमें है। भक्ति-भावनाके साथ साहित्यिक समृद्धिका कैसा योग है, इसका सोपपत्ति और सोदाहरण विवेचन भी इस प्रबन्धकी नूतनता है। इसके लिए प्रभूत, प्रचुर और परिमाणाधिक ग्रन्थराशिका किस प्रकार अध्ययन, मनन, आलोड़न और सञ्चय-संग्रह किया गया है और यथोपलब्ध सामग्रीको किस प्रकार राशीभूत कर देनेकी चेष्टा की गयी है, यह द्रष्टव्य है। इससे कविके राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकारके विचारोंका नूतन दृष्टिसे अवलोकन करनेका अवसर प्राप्त होगा—ऐसा विश्वास करके यह प्रबन्ध लिखा गया है।

चैत्र पूर्णिमा
संवत् २००९

राजपति दीक्षित

विषय-सूची

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

म परिच्छेद

शम परिच्छेद

तुलसीदास
और
उनका युग

प्रथम परिच्छेद

तुलसीकी समकालीन परिस्थितियाँ

गोस्वामीजीके समकालीन समाजका सांगोपांग निदर्शन हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं। हाँ, यह आवश्यक है कि अपने कविकी कृतियोंमें सन्निहित सामाजिक चित्रोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे विश्लेषण करते हुए उनकी सत्यता प्रतिपादित कर हम कविके युगकी एक झाँकी उपस्थित करें।

मुगल-साम्राज्यके बीजारोपणके समय दिल्लीका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था, बड़े-बड़े सूबोंमें पृथक्-पृथक् राजा थे, छोटे-छोटे जिले, यहाँ तक कि प्रत्येक शहर या किलेका स्वामित्व किसी बड़े सरदार या घरानेके हाथोंमें था। उनके ऊपर कोई अधिकारी न था। यह छोटे-छोटे राजाओं, मुल्क अतवैफ या कार्यकारी अधिकारियों (फंक्शन किंग्ज)का समय था[1]। बाबरने इन दिनों राजपूतोंकी स्फूर्ति, उनकी आत्मसम्मानपर बलिदान होनेकी प्रवृत्ति, उनकी अलौकिक वीरताको अच्छी तरह समझा और उन्हें पराजित करनेमें उसे अपने कितने ही सैनिकोंका बलिदान करना पड़ा। परन्तु परमात्मा उसके पक्षमें था। आगे चलकर हुमायूँको भी शांति न मिली, उसे भी राजपूतोंसे लोहा लेना पड़ा और उसके लोहा लेनेपर भी मुगल-साम्राज्यका संघटन न हो पाया। वस्तुतः मुगल-साम्राज्यका स्वर्णयुग अकबरका शासनकाल है। अकबर ही मुगल-साम्राज्यका वास्तविक संस्थापक एवं संघटन-कर्ता कहलानेका अधिकारी है। उसके विषयमें भी यह न भूलना चाहिये कि उसे भी हिन्दुस्तानको अपने आधिपत्यमें लानेके लिए बीस वर्षतक भीषण संघर्ष करना पड़ा।

---

१. डा० स्टेनली लेनपूल—'मेडिईवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल' पृ० १८९।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी मृत्युके समयतक उसका प्रयास सब प्रकारसे पूर्ण हो चुका था[१]।

अकबरका प्रयास सोलहों आना तो नहीं, पर अधिकांश सफल हुआ। कितने ही हिन्दू राजाओंने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। सन् १५६२ (सं० १६१९)में ही वर्तमान जयपुर-महाराजके पूर्वज आमेरके राजा विहारीमलने नवीन सम्राट्के दरबारमें पधारकर अत्यन्त हर्ष प्रकट करते हुए अपनी भेंट उपस्थित की थी। सम्राट्ने सहर्ष उनका कन्या-रत्न ग्रहण किया।[२] इसके पूर्व भी अकबर रुक्या तथा सलीमासे पाणि-ग्रहण कर चुका था। ये दोनों भी राजपूत ललनाएँ थीं।[३] अकबरका हरम और भी कितनी ही हिन्दू नारियोंसे भरा था।

अकबरके ही नहीं, जहाँगीरके हरममें भी राजा उदयसिंह, बीकानेरके राजा राय रायसिंह, राजा मानसिंहके ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह, रामचन्द्र बुन्देला आदिकी बेटियाँ पहुँच गयी थीं।[४] इससे स्पष्ट है कि हिन्दुओंकी विवशता उस समय परिस्थितियोंके कैसे चक्रमें पड़ी हुई थी। राजाओंमें अपवादस्वरूप थे मेवाड़का मुख-मण्डल सदैव आलोकसे मण्डित करनेवाले राणा प्रताप।

हिन्दू राजाओं तथा प्रजाका पतन

सामान्यतया जब राजाओंसे उनका क्षत्रियत्व ही छिन गया था, उनका आत्माभिमान ही चला गया था तो उन नाममात्रके हिन्दू राजाओं-से क्या आशा थी ! मुगल सम्राट् अकबरके अधीन उन राजाओंके समक्ष शाही दरबारकी रीति-नीतिके अतिरिक्त अन्य अनुकरणीय ही क्या रह गया था ? फलतः उन राजाओंने विलासिता और उसके विविध उपकरण

१. वही, पृ० २३८

२. वही, पृ० २५१

३. वही, पृ० २५१

४. प्रो० बेनीप्रसाद : 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर' पृ० ३०

प्राप्त करना ही अपना कर्तव्य समझा। उनमें अपने सम्राट्की नकल चल रही थी। नाच-गानका बाजार गरम था। अपने दरबारी कवियों द्वारा अपनी प्रशंसा सुन अथवा विलासिताकी उत्तेजक किसी काल्पनिक नायिकाका वर्णन सुनकर वे आनन्दित होते थे। उनका व्यक्तिगत जीवन पंकिल हो गया था। उनकी दृष्टिसे प्राचीन हिन्दू राजाओंकी प्रजावत्सलता, उनके आचार-विचार, उनकी धर्मनिष्ठा आदिके उदात्त सिद्धान्त ओझल हो गये थे। कुछ राजाओंमें कदाचित् उनकी स्मृतियाँ रही भी हों तो उनमें सामर्थ्य नहीं थी कि उन्हें कार्यान्वित कर सकें।

'यथा राजा तथा प्रजा'के अनुसार हिन्दू जनताका पतन भी अनिवार्य था। जनताकी दास्यप्रिय मनोवृत्तिको प्रश्रय मिला। अपनी प्राचीन शिक्षा-दीक्षाकी ओरसे पराङ्मुख होकर जनता शासकोंके रंगमें अपने आपको रँगनेके लिए प्रयत्नशील हो रही थी। सत्रहवें शतकके उत्तरार्द्धमें मुंशीगीरीमें हिन्दुओंकी संख्या बड़े वेगसे बढ़ी। लगान-विभागमें छोटे-छोटे पदोंपर हिन्दू मुंशियोंका एकाधिकार मुसलमानोंके राज्यकालके पहलेसे ही था, परन्तु अकबरके समय जबसे टोडरमलने अपना यह हुक्म जारी किया कि सभी सरकारी कागज फारसीमें लिखे जायँ तबसे राज्यके सभी हिन्दू कर्मचारियोंको फारसी सीखनी पड़ी।......सत्रहवें शतकमें कितने ही सामन्त और राजा अपने फारसी पत्र लिखवानेके लिए हिन्दू मुंशियोंको रखते थे और इस प्रकार उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी[1]।......हरकरन इतवारखानी (सन् १६२४ के अनन्तर) प्रसिद्ध मुंशी जिनका उपनाम चंद्रभान था, जातिके ब्राह्मण थे[2]। फारसी उन दिनों जीवकोपार्जनका उसी प्रकार साधन थी जिस प्रकार अंग्रेजोंके शासन-कालमें अंग्रेजी थी।

प्रत्येक सामन्तकी मृत्युपर उसकी सम्पत्ति हड़प लेनेकी (एसचीट सिस्टम) प्रथाके कारण न जाने कितने हिन्दुओंका उच्छेद हो रहा था।

---

१. सर यदुनाथ सरकार 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० २२७

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, २२८

सरदारके मरते ही उसकी भूमि राजाकी हो जाती थी और उसका फल यह होता था कि अनेकानेक परिवार अनाथ हो जाते थे। उन्हें भीख माँगनेके अतिरिक्त और मार्ग न सूझता था[१]। सरदारके जीवन-कालमें भी भूमि-अपहरण-प्रणालीका समाज-घातक परिणाम होता था। सरदार लोग गुलछर्रे उड़ाते और नैतिक पतनके गर्तमें गिरते जाते थे। वे सोचते थे कि जब हमारे परिवारको हमारे न रहनेपर कुछ भी न मिलेगा तो क्यों न हम अपने जीवन-कालमें ही उसे उड़ा डालें। परिणामतः इस प्रथाने देशके कितने ही परिवारोंकी आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक प्रतिष्ठापर भारी कुठाराघात किया।[२]

कृषि-प्रधान भारतके स्तम्भ कृषकोंकी क्या दशा थी? लगान वसूल करनेवाले कर्मचारी बेचारे किसानोंको निचोड़ डालते थे। कृषकोंकी प्रधान आवश्यकताओंकी उपेक्षा कर लगान वसूल किया जाता था। लगान वसूल करनेवाले छोटे-छोटे कर्मचारी भी लुटेरोंकी भाँति इन दीनोंको नोचते-खसोटते थे। कितने ही अन्यायपूर्ण अबवाब लगाये गये थे, जिन्हें बेचारे किसान देते-देते परेशान रहते थे।[३] एक ओर जहाँ ये कर्मचारी करके लिए क्रूरता करते थे, वहीं दूसरी ओर कभी-कभी इन किसानोंका दुर्भाग्य महान् दुर्भिक्षके रूपमें भी अकाण्ड-ताण्डव किया करता था। आयात और निर्यातके साधनोंका अभाव तो था ही, राजाका प्रजापर आन्तरिक प्रेम न होनेके कारण न जाने कितने मनुष्य बेमौत भी मरते थे। अन्नके बिना कितने ही लोग तड़प-तड़पकर मृत्युके ग्रास बनते थे[४]।

दुर्भिक्ष तो बार-बार पड़ते ही थे, एकाध बार महामारीने भी अपने भैरव हुंकारसे जहाँगीरके साम्राज्यमें त्राहि-त्राहि मचा दी थी। यह बीमारी

१. सर यदुनाथ सरकार 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० १६५
२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, १७५
३. ,, ,, ,, ,, ,, पंचम परिच्छेद टैक्सेशन
४. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर' पृ० १२३

१६१६से सन् १६२४ तक वर्तमान थी[१]। पहले लाहौरसे आरम्भ हुई सरहिन्द, दिल्ली आदि स्थानोंपर हाथ साफ करती हुई अन्तमें उसने र्वेदीकी पवित्र भूमिको भी अपनी संहार-स्थली बनाया। इसने भी णित निरीह प्राणियोंका नाश किया और विनाशमें अधिकांश भाग दुओंका ही था।

देवालयों तथा तीर्थोंकी स्थिति

देव-स्थलों और तीर्थोंपर दृष्टिपात कीजिये। अकबर या जहाँगीरके यके इतिहाससे तीर्थादिकोंके विषयमें हिन्दुओंकी धारणाका पता नहीं ता, पर शाहजहाँके प्रारम्भिक शासन-कालमें फ्रेन्को बरनियरने भारत-ा की थी, उसने कुछ हिन्दू तीर्थोंकी स्थितिका जो अंकन किया है के आधारपर जहाँगीर और अकबरके समयकी स्थितिका भी अनुमान या जा सकता है।

यात्रीने पवित्र जगन्नाथपुरीमें आठ-नौ दिनोंतक होनेवाले वार्षिक यात्राके मेलेका भी वर्णन किया है। उस मेलेकी भीड़ देखकर यात्रीकी खें चौंधिया गयी थीं। पता लगाने पर उसे मालूम हुआ कि किसी-सी वर्ष यहाँकी भीड़ डेढ़ लाखसे भी अधिक होती है। इस विशेष के अवसरपर एक बहुत बड़ा विमान बनता था। उसे चौदह या लह पहियोंके रथपर अधिष्ठित कर उसपर नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे ंकृत जगन्नाथजीकी प्रतिमा बिठायी जाती थी। फिर उस रथको ास-साठ आदमी खींचकर एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरतक ले ते थे।[२]

प्रथम दिन जब मन्दिरमें जगन्नाथजीके दर्शन कराये जाते थे तो

१. हिस्ट्री आफ जहाँगीर पृ० २९५ और दे० स्मिथ 'अकबर दी : मुगल' पृ० ३९, इलियटकृत 'हि० आ० इ०' जि० ६, पृ० ४०६

२. कान्सटेबल एण्ड स्मिथकी 'बरनियर्स ट्रैवेल्स इन दी मुगल इण्डिया' पृ० ३०४

अत्यधिक भीड़ होती और उसमें इतनी कठिनाईसे प्रवेश-निर्गम होता कि बहुतसे दूरस्थ देशसे आनेवाले थके-माँदे तीर्थ-यात्री पिस उठते—मर जाते। ऐसे मरनेवालोंकी अन्यान्य लोग यह कहकर सराहना करते कि वे भाग्यशाली हैं जो तीर्थमें आकर ऐसे शुभ अवसरपर मरे। और जब उस ठसाठस भीड़में रथ चलता तो बहुतसे तीर्थ-यात्री अपने धार्मिक जोशमें आकर जानबूझकर अपनेको रथके पहियोंके नीचे डाल देते। उनका अन्धविश्वास था कि ऐसा करनेसे जगन्नाथजी प्रसन्न होकर हमें सद्गति देंगे, हमें पुनर्जीवन प्रदान करेंगे।[1]

कुछ ब्राह्मण इस प्रकारके अन्धविश्वासोंको और भी दृढ़ कराते थे, क्योंकि इसी आधारपर उन्हें धन और यश दोनों मिलते थे। वे जगन्नाथजीके रहस्योंको जाननेवाले माने जाते थे, इसीसे लोग उन्हें बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते और दान देते थे। इन ब्राह्मणोंके विगर्हित काम देखकर बड़ी घृणा होती है। इनके पाखंडोंके कई मार्ग थे; जैसे, ये ब्राह्मण किसी लावण्यवती युवतीको चुन लेते और अन्धविश्वासियोंके मनमें यह विश्वास जमा देते कि वह रमणी जिस मन्दिरमें जगन्नाथजी पधराये जायेंगे उसीमें उनकी पत्नी बनेगी, रात्रिमें जगन्नाथजी उसके पास अवश्य पधारेंगे। रमणीको आज्ञा देते कि जिस समय जगन्नाथजी तुम्हारे पास आयें, उनसे पूछना कि वर्ष किस प्रकार बीतेगा, कैसी धूम-धाम रहेगी, कैसी प्रार्थनाएँ होंगी और उनकी अर्चनाके लिए कितने दानकी आवश्यकता पड़ेगी? रात्रिके दूसरे पहरमें मन्दिरके किसी छोटे पक्षद्वारसे इन्हीं ब्राह्मणोंमेंसे कोई प्रवेश करता, उस सीधी-सादी अशंकित युवतीका सतीत्व अपहरण करता और उसके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका आवश्यक उत्तर देकर उसका पूर्ण विश्वास बनाये हुए चला जाता। दूसरे दिन वह रमणी भी जगन्नाथजीकी पत्नीके रूपमें उनकी प्रतिमाके साथ रथमें दूसरे मन्दिरकी ओर ले जायी जाती थी। वहाँ ब्राह्मण लोग भीड़के सामने जोरसे

१. कान्सटेबल एण्ड स्मिथ 'बरनियर्स ट्रैवेल्स इन दी मुगल इण्डिया' पृ० ३०५.

चिल्लाकर पूछते कि जगन्नाथजीने रात्रिमें तुमसे क्या-क्या बातें कीं[1] ?

दूसरे प्रकारका अनाचार सुनिये। रथके सामने और यहाँतक कि देवलमें ही उत्सवके दिनोंमें वेश्याएँ अपनी नाना प्रकारकी कामोद्दीपक अंग-भंगियाँ दिखाकर नर्तन करतीं और ब्राह्मण लोग इसे धर्मका अंग बताते। यात्रीका कहना है कि उसने और भी कितनी ही रमणियोंको देखा जो एक सामान्य विभागमें रखी गयी थीं। वे किसी बाहरी आगन्तुक, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई यात्रियोंके उपहारको उपेक्षणीय समझती थीं। उनका विश्वास था कि वे देवलके पुजारी अथवा देवलके चारों ओर भस्म रमाकर बैठे हुए बड़े-बड़े जटाधारी सिद्धोंको अर्पित हैं[2]।

साधकोंके विषयमें बरनियरने जो देखा उसे भी सुनिये। उसका कहना है कि नाना प्रकारके फकीर और दरवेश साधक या विविध प्रकारके हिन्दू मत-मतान्तरके साधकोंकी बहुत बड़ी संख्या प्रायः एक प्रकारके मठोंमें रहती है, जिनके संचालक बहुत सम्पन्न होते हैं। इन लोगोंका जीवन इतना विलक्षण है कि यदि मैं उनका वर्णन करूँ तो लोगोंको उसपर विश्वास ही न होगा। मैं विशेष रूपसे एक प्रकारके साधकोंकी ओर संकेत करता हूँ जो 'जोगी' कहे जाते हैं। ये लोग भस्म रमाये, बिलकुल नग्न वेशमें बड़े-बड़े वृक्षोंके नीचे, तालाबोंपर या अन्यान्य जलाशयों या देवलकी परिक्रमा अथवा सभा-मण्डपोंके पास राखपर लेटे या बैठे रात-दिन दिखाई पड़ते हैं। ...इनकी बड़ी लम्बी-लम्बी जटाएँ होती हैं। ...विचित्र मुद्रामें आसीन, नग्न और काले, लम्बी जटा और विशाल नाखूनधारी योगीको देखकर जैसा भय लगता है वैसा कदाचित् नरकको भी देखकर न लगेगा[3]। बरनियरने इसी प्रकारके अन्यान्य बहुतसे साधकों-का उल्लेख किया है[4]।

---

१. कान्सटेबल एण्ड स्मिथ 'बरनियर्स ट्रैवेल्स इन दी मुगल इण्डिया' पृ० ३०५ २. वही, पृ० ३०६

३. वही, पृ० ३१६

४. वही, पृ० ३१७-२४

जिन योगियोंका वर्णन अभी बरनिअरके आधारपर किया गया, उनका प्रभाव अकबर और जहाँगीरके ही समयमें नहीं, अपितु उनके पूर्व ईसाके तेरहवें और चौदहवें शतकमें भी था। मारको पोलोने, जिसका यात्रा-विवरण तेरहवें और चौदहवें शतकके भारतपर प्रकाश डालता है, दक्षिणके सिद्ध योगियोंको बड़ा निष्ठुर, पाखंडी कहा है[1]। ये योगी नंगे ही बेधड़क घूमा करते थे। शरीरपर भस्म लेप किये रहते थे। इब्न-बतूताके वर्णनसे जान पड़ता है कि सर्वसाधारणका विश्वास था कि ये लोग सिद्ध योगी हैं[2]।

वर्णाश्रम धर्मका ह्रास

हिन्दू-समाजके मेरुदण्ड वर्णाश्रम धर्मके ह्रासका विचार लीजिये। मुसलमानोंके भारतमें आनेके पहले नास्तिक जैनों तथा बौद्धोंका वैदिक धर्मपर घातक प्रहार हो चुका था। किन्तु सायण, मध्व, उव्वट, दुर्ग, आनन्दतीर्थ, भट्ट भास्कर प्रभृति विद्वानोंने गिरते हुए वैदिक धर्मको अपने भाष्यों द्वारा सँभाला।

वेदोंके भाष्यके अनन्तर कुछ नेमिवृत्तिवाले सुधारकोंने हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिए स्मृतियोंके भाष्य किये तथा निबन्ध लिखे। किन्तु यह निष्प्राण शरीरमें नवीन प्राण-प्रतिष्ठा करनेके समान था, क्योंकि मुसलमानोंके आनेके पहले प्राचीन सामाजिक नियमोंका बहुत कुछ क्षय हो चुका था। मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट, विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, रघुनन्दन आदि विद्वानोंने प्राणपणसे श्रमपूर्वक स्मृतियोंके अवतरण दे-देकर, उनका सार संकलित किया। बहुत अंशोंमें हिन्दुओंकी धर्मव्यवस्था इन्हींके अनुसार हुई।

अपने प्राचीन धर्मके रक्षार्थ कुछ विद्वज्जनोंने दर्शनोंकी ओर ध्यान

१. 'बुक आव् सर मार्कोपोलो' ट्रान्सलेटेड बाई यूले, भाग २, पृ० २९९, ३०२

२. 'ट्रैवेल्स आव् इब्नबतूता' भाग ४, पृ० ३३

दिया। यद्यपि मुसलमानोंके आनेके पहले ही शंकराचार्य एवं उनके गुरुने एक बार सभी लोगोंको उद्‌बोधित किया था और उसके फलस्वरूप बौद्धोंका पतन हो चुका था; उनके विहार ध्वस्त हो गये थे; शंकराचार्यने अपने सिद्धान्तके प्रचारके लिए पहले ही चार मठोंकी स्थापना कर दी थी; षट्‌दर्शनके सम्प्रदायोंकी पुनः स्थापना हुई और जनताको दार्शनिक तत्त्व समझानेके लिए अनेकानेक भाष्य लिखे गये, पर सामान्य जनता इन विद्वज्जनोपयोगी कृतियोंसे क्या लाभ उठा सकती थी ?

प्राचीन धर्मके कुछ सुधारकोंने उसका पुनरुत्थान तन्त्रों द्वारा करना चाहा, इसीसे महानिर्वाण, कुलार्णव आदि तन्त्र-ग्रन्थ सरल आकर्षक भाषामें लिखे गये।

प्राचीन भागवत धर्मके नवोद्भावित, भक्ति-सम्प्रदायके प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य एवं उनके अनुयायी तथा आगे चलकर वैष्णव सम्प्रदायके अन्यान्य अधिष्ठाता सर्वश्री विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, हित-हरिवंश आदिने भी हिन्दू-धर्मको मिटनेसे रोका। इसी प्रकारका प्रयास शैवोंका भी था। उनके सप्त भेदागम, स्वयम्भू आगम, वीर शैवागम सम्प्रदायोंके प्रत्यभिज्ञान शास्त्र शैवोंके बीच प्रचलित रहे[1]।

निस्सन्देह, जिन कतिपय वर्गोंके महारथियोंकी ओर संकेत किया गया उन्होंने मुसलमानोंके लाख आनेपर भी हिन्दू धर्मके मूलको न हिलने दिया। यह तो एक ओरकी बात हुई। अब दूसरी ओर भी दृष्टिपात कीजिये। मुसलमानोंकी जड़ जम चुकनेके अनन्तर हिन्दू और मुसलमानके बीचमें ऐक्य लानेके लिए इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्ममें सामंजस्य स्थापनाकी प्रवृत्ति कुछ सुधारकोंमें जगी। वे बड़े वेगसे बढ़े। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मोंके मतभेदकी खाई पाटने तथा दोनों जातियोंको मिलानेके लिए दोनों धर्मोंसे गृहीत तथ्योंकी समभूमि प्रस्तुत की जाने लगी। इस भूमिकी तैयारीमें न जाने कितने पन्थवाले लिपटे। पर उन सबके दादा गुरु थे—कबीर। ये जितने बड़े विधायक (कंसट्रक्टिव)

१. क्षितिमोहन सेन—'मेडिईवल मिस्टीसिज़्म आव् इण्डिया' पृ० ६२

सुधारक थे, उतने ही बड़े विघातक (डिस्ट्रक्टिव) भी[१]। यही बात कबीर पन्थ, उसके बारह साखा-प्रभेदों[२] तथा उसके सभी चचेरे पन्थों यथा दादू पन्थ, नानक पन्थ, मलूकदास पन्थ आदि प्रभावित पन्थोंके विषयमें कही जा सकती है। इन सबका प्रयास रूढ़िग्रस्त वर्णाश्रम धर्मका उच्छेद था।

इन्हीं पन्थोंकी भाँति सूफी विचारधारा भी हिन्दू और मुसलमान दोनोंको एक भूमिपर लाना चाहती थी, पर इससे प्रभावित होनेवालोंमें विशेषतया उन्हीं शिक्षितोंकी संख्या अधिक थी जो राजदरबारसे सम्बद्ध थे। अकबरके समय और उनके आगे भी इसका प्रचार जोरोंसे होता रहा।[३]

उक्त सूफी विचारधारा तथा कतिपय पन्थ तो वर्णाश्रम धर्मपर आघात कर ही रहे थे, अकबरकी आराधना करनेवालोंके सम्प्रदायने भी उसपर प्रहार किया। प्रातःकाल छज्जेपर खड़े होकर अपने दर्शनार्थियोंको दर्शन देना अकबरकी दैनिक दिनचर्याका अंग हो गया था। इन दर्शनार्थियोंका यही धर्म रह गया था कि जबतक वे बादशाहके दर्शन न पा लेते तबतक अपने दैनिक कार्य, यहाँतक कि खाना-पीना भी न करते। दर्शनार्थियोंका यह सम्प्रदाय अकबरसे लेकर शाहजहाँके कालतक चलता रहा। औरंगजेबने इस नर-पूजाका अन्त कर दिया[४]।

राजनीतिक शक्तिका प्रभाव

तुलसीके समकालीन हिन्दू-समाजके पतनकी झाँकीका ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करनेके उपरान्त उसे लानेवाली शक्तियोंका भी विचार किया

१. भंडारकर : 'वैष्णवइज़्म, शैवइज़्म एण्ड माइनर रेलिजन सिस्टम' पृ० १०४
२. भंडारकरजीने अपने उपर्युक्त ग्रन्थमें इन बारहों शाखाओंका उल्लेख किया है
३. 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० २४२
४. वही, पृ० १३४-३५

जाय। किसी देश या राष्ट्रके अभ्युदय अथवा पतनमें प्रमुख हाथ हुआ करता है वहाँकी राजसत्ताका। राजसत्ता जब अपने और प्रजाके बीच सन्निकृष्ट नैतिक सम्बन्ध समझकर उसकी उन्नतिके लिए उत्तमोत्तम योजनाएँ करती चलती है तो देश या राष्ट्रका अभ्युदय उत्तरोत्तर होता रहता है। इसके विपरीत यदि राजसत्ता प्रजासे अपना विप्रकृष्ट सम्बन्ध समझती है, उसके प्रति अपने नैतिक कर्तव्योंकी उपेक्षा करती है तो प्रजाका पतन न होगा तो क्या होगा?

मुगलोंका शासन प्रकृतितः सैनिक शासन था। अतएव उसे केन्द्रीय एकतन्त्र-शासन-प्रणाली कह सकते हैं। इसमें राजाका वही स्थान था जो धनाढ्य नागरिकका होता है। वह प्रजाके प्रति किसी प्रकारके नैतिक बन्धन नहीं मानता था और स्पष्ट रूपमें यों कह सकते हैं कि मुगल-शासक सामाजिक उन्नतिके प्रश्न समाजके ऊपर छोड़कर उससे विमुख रहते थे। शासनका लक्ष्य नितान्त संकीर्ण और भौतिक था[१]।

मुगल-शासन-प्रणाली अरब और फारसके बादशाहोंके आदर्शपर चली। उसके सभी कल-पुरजे उसीमें ढले थे[२]। मूलमें तो यह सैनिक-शासन-प्रणाली थी ही, अन्ततक भी उसी रूपमें रह गयी। इसके प्रत्येक कर्मचारीका नाम फौजकी फिहरिस्तमें अंकित रहता था। उसे कोई-न-कोई मनसब दिया जाता था जिसके अनुसार वह कुछ निर्दिष्ट सिपाहियोंका नाममात्रका अधिनायक बना दिया जाता था और उसके आधारपर उसके वेतन और पदकी श्रेष्ठताका मूल्य आँका जाता था[३]। राजसत्ता स्वयं ही नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण करती और अपने लिए कितने ही शाही कारखाने चलाती तथा उनकी वस्तुओंपर एकाधिकार रखती।[४] मुगल राजसत्ताकी एकतन्त्र केन्द्रीयता अत्यधिक थी। समस्त शासन-प्रणालीका सूत्र व्यक्तिविशेषके हाथमें था। राज्य दूरतक

१. 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० ५

२. वही, पृ० ६-७ ३. वही, पृ० ८

४. वही, पृ० १०

प्रसरित था, परन्तु आने-जानेकी कठिनाईके कारण एक प्रान्तकी खबर दूसरे प्रान्त तक भेजनेमें पर्याप्त समय लग जाता था। फलतः अफसरोंका स्थानान्तरण कभी-कभी होता था। न्याय और शासन-विधानकी दृष्टिसे मुगल-शासन-प्रणालीकी निर्बलताके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। आधुनिक युगकी भाँति न्यायकी व्यवस्था नहीं थी। वहाँकी जनताको रंचमात्रका भी स्थानीय अधिकार न था[१]। निस्सन्देह, देशमें शहरोंका धन-जन बाहरी आक्रमणों या आन्तरिक विद्रोहसे बचानेका प्रबन्ध राज्य-की ओरसे था, किन्तु देशका अधिकांश भाग, जो कृषक था, अपनी रक्षा स्वयं करता था[२]। संक्षेपमें मुगल-शासन-प्रणालीकी रूपरेखा थी—सभी प्रकारके सामाजिक कार्योंसे पराङ्मुखता[३]। अस्तु, इस शासन-प्रणालीमें जकड़े हुए तुलसीके समकालीन समाजके लिए अवनतिके गर्तका द्वार उन्मुक्त था।

प्रजाके प्रति शासककी उदासीनतासे प्रजाका पतन तो होता ही है, शासकके व्यक्तिगत चरित्रका प्रभाव भी उसपर बिना पड़े नहीं रहता। तुलसीके समकालीन समाजके समक्ष जिन सम्राटोंका उदाहरण था, वे थे—अकबर और जहाँगीर। दोनों ही विलासी थे। अकबरकी विलासिताका प्रमाण मीनाबाजार लगवानेसे बढ़कर क्या हो सकता है? उसके हरममें पाँच हजार[४] चन्द्रमुखियोंका जमघट भी तो था। उसने हिन्दू, फारसी, मुगल, यहाँतक कि आरमीनिया जातिकी चुनी हुई गजगामिनियाँ किस लिए जुटायी थीं? उसकी धार्मिकताकी ओर ध्यान देते ही जान पड़ता है कि वह फारसके सूफी मतसे प्रभावित था[५]। कहा भी जाता है कि ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती आफताबे हिन्दकी दरगाहतक अकबर पैदल ही गया था[६]। वह अपनेको धर्म-नियामक भी समझता था। अपने 'दीन-इलाही'

१, 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० ११ २. वही, पृ० १२ ३. वही, पृ० १३
४. 'मेडिईवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल' पृ० २५२
५. वही, पृ० २६९
६. 'मेडिईवल मिस्टीसिज्म आव् इण्डिया' पृ० १४

मतका, जिसे भारतीय दर्शन, फारसी रहस्यवाद तथा प्रकृति-पूजाके कतिपय सिद्धान्तोंकी खिचड़ी कहना चाहिये, प्रचार करना चाहता था। उसके अनुयायियोंमें अबुल फ़जल तथा फैजी तो थे ही, बीरबल सरीखे ब्राह्मण भी थे[१]। हिन्दुओंके योगियों तथा डाढ़ीवाले फकीरों द्वारा प्रदर्शित चमत्कारोंमें अकबरकी बड़ी श्रद्धा थी। वह ऐसे चमत्कारियोंका मान करता था, वह स्वयम् रासायनिक बननेका हौसला रखता था और ज्योतिषमें उसका विश्वास था[२]। सौन्दर्योपासक होनेके कारण वह कुछ कलाओंका प्रेमी था। उसकी चित्रकला-विषयक चेतना बहुत उच्च कोटितक पहुँच गयी थी। उसकी दृष्टिमें जो लोग चित्रकला नहीं पसन्द करते वे घृणास्पद हैं[३]।

जहाँगीरके हरममें भी बहुत-सी परियाँ पड़ी थीं। उनकी संख्या तीन सौतक पहुँच गयी थी[४]। इनमें नूरजहाँका नूर तो वर्णनातीत है। जहाँगीर उसके हाथोंका खिलौना था। ऐसा भी समय आया कि प्रेमोन्मत्त जहाँगीरने राजकाज सब कुछ नूरजहाँके हाथोंमें अर्पित कर दिया[५]। और उस बुद्धिमती नारीने भी राजशासन पाँच वर्षोंतक चलाया[६]। कैपटेन हाकिनके वर्णनमें, जो जहाँगीरके दरबारमें काफी दिनोंतक रहा था, जहाँगीरका चरित्र बड़ा ही विगर्हित अंकित है। प्रजा उसके भयसे काँपती रहती थी; इस घोर विलासी मद्यपको जंगली जानवरोंसे आदमियोंको लड़ाकर, उनके टुकड़े-टुकड़े कराना प्रिय था; वह हफ्तेमें पाँच दिनों हाथियोंका मल्लयुद्ध कराता; कहा जाता है कि किसी आशंकासे उसने अपने एक मन्त्रीको मरवा डाला; किसी आदमीसे एक कब्र टूट गयी, उसे कोड़े मार-मारकर उसकी धज्जियाँ उड़ा दी गयीं। उसकी प्रकृतिकी इन

१. 'मेडिईवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल' पृ० २८२

२. वही, पृ० २८०

३. वही, पृ० २७४

४. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर' पृ० ३०

५. वही, पृ० १७८

६. वही, पृ० ४४७

कठोरताओंने प्रजाके हृदयमें उसके प्रति कोमल भाव न रहने दिया[1]। वह किसी भी धार्मिक विचारपद्धतिसे शून्य था, सिर्फ एक खुदामें विश्वास रखता था; तत्कालीन प्रचलित हिन्दू धर्म तथा उसके अवतार आदिको व्यर्थ मानता था; उसके समयमें जितने सुधारवादी पन्थ चल रहे थे उनसे उसका कोई सरोकार न था; उसपर सूफियोंका प्रभाव अवश्य था, इसीसे वह जद्रूपछ* तथा अन्य सूफी साधकोंसे कभी-कभी बातें किया करता था[2]। चित्रकला आदिके प्रति जहाँगीरकी रुचि भी अपने पिताके समान ही थी। वह चित्रोंका अच्छा प्रेमी और मर्मज्ञ था[3]।

धार्मिक शक्तिका प्रभाव

धार्मिक शक्तिका राजनीतिक शक्तिसे कम महत्त्व नहीं। यह बात अवश्य है कि धार्मिक शक्ति राजनीतिक शक्तिका सहारा पाकर अधिक व्यापक और प्रभावयुक्त होती है। गोस्वामीजीके समकालीन समाजकी धार्मिक शक्तिको सुदृढ़ रखनेमें राजनीतिक शक्तिका सहारा नहींके बराबर है।

भारतीय संस्कृतिको उत्पादित करनेवाले विजातीय शासक यहाँकी धार्मिक शक्तिके सहायक क्यों बनते? धार्मिक शक्तिके सम्बन्धमें यह भी स्मरणीय है कि इस शक्तिके अनुकूल रहते राजनीतिक शक्तिकी प्रतिकूलता किसी देशको पतनकी ओर ले जायगी ही, यह सन्दिग्ध है। यदि धार्मिक शक्ति स्वयम् छिन्न-भिन्न न हो तो वह बिना राजकीय अवलम्बके भी किसी देश या राष्ट्रको जीवित रख, उसका अस्तित्व अमर बना सकती है। भारत अनादि कालसे वैदिक सनातन धर्मके पथपर चला आ रहा है। बीच-बीचमें इसपर प्रबल आघात भी होते रहे हैं। प्राचीन कालमें जैनों

१. 'मेडिईवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल' पृ० ३०४

* Jadrup.

२. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर' पृ० ४४१

३. 'मेडिईवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल' पृ० २७०

और बौद्धोंके प्रभावसे वैदिक धर्मके लुप्त होनेकी भी स्थिति आ पहुँची थी। सनातन धर्म विलुप्त-सा होने लगा। राजा और प्रजामें महापुरुष प्रायः सभी बौद्ध धर्ममें दीक्षित होकर वैदिक धर्मको ठुकरा चुके थे। उनमें कहीं-कहीं वैदिक धर्मका दीपक टिमटिमा रहा था, जिसके क्षीण आलोकसे कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्यने भयंकर अग्नि प्रज्वलित कर बौद्ध धर्मका ध्वंस किया और पुनः वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठा की।

जिस धार्मिक शक्तिके कारण भारत फिरसे चेतनायुक्त हुआ, उसने शंकराचार्यके पश्चात् फिर पलटा खाया। शंकराचार्य द्वारा स्थापित किये गये चारों मठोंके अधीशोंके रहते भी उनके द्वारा दिखायी हुई धार्मिक शक्ति पहलेकी भाँति अद्वितीय न रहने पायी। शंकराचार्यने अपने सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके लिए भगवती श्रुतिका आश्रय तो लिया ही, उनके पोषण तथा अन्य मतोंके निराकरणके लिए उन्होंने आगम-रहित पुरुषोत्प्रेक्षा मात्र निबन्धन तर्कसे विपरीत वेद-शास्त्राविरोधी तर्कका विशेष प्रयोग किया; उन्होंने बौद्धोंके कुछ सिद्धान्तोंको भी अपने अनुकूल बना लिया; उन्होंने मायावादका जो सिद्धान्त प्रचलित किया वह आगे चलकर वैष्णव आचार्योंकी दृष्टिमें अनुपयोगी दिखाई पड़ा। उन्होंने इसे भक्ति-तत्त्वका विरोधी मानकर इसका खंडन बड़े समारोहके साथ किया। यहाँतक कि कुछ लोगोंने शंकरको 'प्रच्छन्न बौद्ध' एवं 'संकर'तक कह डाला। शंकराचार्यकी अद्वैत-प्रणालीसे कतिपय आचार्योंकी विचारधारा भिन्न हुई और उन्होंने विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैतकी प्रणालियाँ प्रवाहित कीं।

इन विविध विचार-पद्धतियोंके पारस्परिक अन्तरके कारण धार्मिक शक्ति एकसे अनेक हो चली। पहले शैव एवं वैष्णवका ही भेद था। पर कालान्तरमें इन दोनोंके सैकड़ों टुकड़े हो गये। इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओंकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई और उसका परिणाम हुआ धार्मिक शक्तिकी छिन्न-भिन्नता। इन्हींमें कबीर, नानक, दादू आदिके पन्थोंकी ऐसी प्रशाखाएँ भी थीं जो वैदिक धर्मकी कट्टर विरोधिनी थीं। इनके कारण

वैदिक सनातन धर्मका ह्रास अनिवार्य था। अथवा यों कहें कि देश और कालसे प्रभावित होकर प्राचीन धार्मिक शक्ति अपना नया रूप पकड़ने लगी। नयी रोशनीके अनुसार उसका नये ढंगसे विकास होने लगा। पर इस विकासमें लोक-समन्वयकी प्रवृत्ति न थी, अतएव इसने मूल वर्णाश्रम धर्मके बाह्य एवं आन्तरिक दोनों स्वरूपोंपर बुरा प्रभाव डाला।

धार्मिक शक्ति एकसे अनेक तो हो ही गयी, साथ ही अनेकताका प्रकृत दोष पाखण्ड भी उसमें प्रवेश करने लगा। जिनका लक्ष्य बाह्या-डम्बरका जाल काटना था वे स्वयम् उसमें फँस गयीं। यदि इन सबमें धर्मकी अन्तरात्माका भी मतैक्य होता तो इनके अनेक रहनेपर भी संघर्ष न होता।

साहित्यिक शक्तिका प्रवाह

जिस प्रकार समाजको अपनी क्षुधा-तृप्ति, शारीरिक विकास एवं प्राण-रक्षाके लिए भोजनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसको अपने मानसिक पोषण, तत्परिणाम-स्वरूप उसके विकास तथा निरतिशयानन्दकी प्राप्तिके हेतु साहित्य रूप भोजन भी अनिवार्य होता है। जैसे सात्विक, राजस और तामस आहारोंका पृथक्-पृथक् सेवन करना हमारे ऊपर एक-सा प्रभाव नहीं डालता, उसी प्रकार साहित्य भी इन त्रिविध विशेषणोंसे युक्त होनेपर हमारा मानसिक विकास और उसका परितोष भिन्न-भिन्न प्रकारसे करता है। अर्थात् सत् साहित्यसे पोषित मस्तिष्क सदैव अभ्युदयोन्मुख होता है और उसके विपरीत असद् साहित्यपोषित मस्तिष्क पतनोन्मुख। अस्तु, किसी देश या राष्ट्रके उत्कर्षापकर्षमें राजनीतिक और धार्मिक शक्तियोंका जो हाथ रहता है उससे कहीं बढ़कर प्रभुत्व होता है साहित्यिक शक्तिका।

समाजके मस्तिष्कको पोषित करनेवाले साहित्यकी जो धारा बह रही थी उसके कई स्रोत थे, जिनमें अधिकतर ऐसे थे जो सात्त्विकतासे परिप्लावित न थे और जिनका प्रवाह संकुचित पथका अनुगामी था। इनमें साहित्यकी वह संजीवनी शक्ति जो मृतकोंमें भी प्राण डाल देती है, न

थी। ये वे स्रोत न थे जो जीवनके परमोच्च लक्ष्योंकी ओर संकेत करते और मानव-हृदयकी परमोत्कृष्ट विभूतियोंको पूर्णता प्राप्त कराते। शाही दरबारको छत्रच्छायामें जिस प्रकारके साहित्यका सर्जन होता था, वह फारसीकी गजलों और कव्वालियोंको ही प्रोत्साहित करता था। प्रायः इनके वर्ण्य विषय होते थे किसी विजयकी बधाई, राजकुलके विवाहोत्सव, राज्य-तिलक, जन्म-दिवस और इसी प्रकारके अन्यान्य दरबारी त्योहार एवं कामाग्निको प्रज्वलित करनेवाले प्रसंग आदि। इनके अतिरिक्त बादशाहकी प्रिय इमारतों अथवा राज्यकी कुर्सियोंमें अंकित करनेके लिए खुतवा* भी बनाये जाते थे। इन्हीं कवियोंमेंसे किसीको दस इजार रुपयों-का इनाम मिला था, सिर्फ चार पंक्तियोंकी कवितापर। उस पुरस्कृत कविताका भाव केवल यही व्यंजित करता है कि जहाँगीरके सामने सिखाये गये तेंदुएँने किस प्रकार जंगली भैंसेपर प्रहार किया[1]।

जैसे साहित्यको मुगलोंने प्रोत्साहित किया उसी प्रकारके साहित्यका अनुकरण प्रायः सभी अधीन राजाओंके दरबारमें होता रहा। तत्कालीन सामाजिकोंकी अभिरुचि भी उसी प्रकारकी हो गयी थी, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

अब कुछ अन्य स्रोतोंकी ओर आइये। दरियाये इश्क बहानेवाला अथवा विविध पन्थोंके नियामकों द्वारा जो साहित्य प्रस्तुत किया गया, वह समाजको जिस ओर ले गया उसकी कल्पना सहज है। इसीके समानान्तर प्रवाहित हो रहा था कृष्ण-प्रेमका अमृत। इस स्रोतने समाजको अत्यधिक अनुप्राणित किया। पर आगे बढ़कर यह स्रोत विलासिताके ऐसे गर्तमें जा गिरा कि राधा-कृष्ण श्रृंगारके साधारण नायिका-नायक मात्र रह गये और समाज आपाद-मस्तक श्रृंगार रसमें निमग्नोन्मग्न होने लगा।

तुलसीदासजी द्वारा प्रस्तुत चित्रोंसे ऐतिहासिक आलेखोंका मिलान

* Inscriptions.

१. दे० 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० १६२-६३

कीजिये और देखिये कि दोनोंमें कितना साम्य है। कुछ समीक्षकोंकी धारणा है कि तुलसीने जो कलियुग-वर्णन किया है वह उनके समकालीन समाजका ही चित्रण है; परन्तु यह कथन सर्वांशमें ठीक नहीं। तुलसीने जो कलियुग-वर्णन किया है वह विशेषतः परम्परागत है। 'भागवत'में जो कलियुग-वर्णन[1] मिलता है उसकी बहुत-सी बातें इन्होंने ज्योंकी त्यों रख दी हैं। पारम्परिक वर्णनके अतिरिक्त जो कुछ गोस्वामीजीने अपनी ओरसे जोड़ा है, यहाँ उसीकी चर्चा करना समीचीन होगा।

दासताकी मनोवृत्तिने किस प्रकारकी शिक्षा-दीक्षाकी प्रवृत्ति जगा दी थी, एक वाक्यमें इसका संकेत यों है—

'मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं'[2]॥

सम्पत्ति-अपहरण करनेकी पूर्वोक्त प्रथाको इंगित करके राजाको गोस्वामीजीने भूमिचोरकी संज्ञा दी है—

'वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये,
साधु सीद्यमान, जान रीति पाप पीन की'[3]।

कृषकोंके साथ होनेवाले अन्याय और अत्याचारोंपर गोस्वामीजीका यह मत है—

'मारग मारि, महीसुर मारि,
कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोप सों पापको दाम,
परिच्छित जाहि गो जारिकै हीयो।
कासीमें संकट जेते भये ते गे,
पाइ अघाइके आपन कीयो।

---

१. दे० 'भागवत' द्वादश स्कन्ध, अध्याय २, ३

२. 'मानस' उ० ९८। ८

३. 'कवितावली' उ० छन्द १७७

आजु कि कालिह परों कि नरों,
जड़ जाहिंगे चाटि दिवारीको दीयो[१]।'

'दोहावली'में कर विषयक परिष्कृत नीतिके बार-बार उल्लेखको शासकोंकी कर-गत दुर्नीतिके संशोधनके लिए गोस्वामीजी द्वारा प्रदर्शित सुझाव ही मानना चाहिये।

उन दिनों पड़नेवाले दुर्भिक्षों और उनके कारण कालकवलित होने-वाले प्राणियोंका सकेत इस पंक्तिमें है—

'कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै'[२]।

शासकों द्वारा सतत शोषित, दुर्भिक्षकी ज्वालासे परिपीड़ित प्रजाकी आर्थिक दशा इससे अच्छी क्या रही होगी—

'खेती न किसानको, भिखारीको न भीख, बलि,
बनिकको बनिज न चाकरको चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी'[३]।

जिस भीषण महामारीसे तत्कालीन समाज बहुत कुछ स्वाहा हो गया था उसका एक हृदय-विदारक दृश्य विश्वेश्वरपुरीमें उसके कारण मची त्राहिमें देखिये—

'संकर-सहर-सर, नर-नारि बारि-चर,
बिकल सकल महामारी मांजामई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचुमई है'[४]॥

देवस्थलों एवं तीर्थोंकी दशा चिन्तनीय थी। वे नाना प्रकारके छल-

१. कविता०, उ०,१७९
२. 'मानस' उ० १००. १० ३. 'कवितावली' उ० छन्द ९७
४. वही. उ० छन्द १७६

छद्म तथा अनाचारके अड्डे हो रहे थे। मानों कलियुग अपने दल-बल-सहित वहाँ किलेबन्दी कर रहा था—

'सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज[१]'॥

ब्राह्मण अपने जिस कर्तव्य और सात्त्विकताके कारण साक्षात् भगवद्रूप माने जाते थे वे लुप्तप्राय हो गये थे, उनकी बुद्धि नाना प्रकारके राग-द्वेषसे पंकिल हो गयी थी, वे विद्या बेचकर जीविकोपार्जन करते थे—

'प्रभुके बचन वेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव मई है।
तिन्हकी मति रिस-राग-मोह-मद-लोभ-लालची लीलि लई है[२]।

... ...

'द्विज श्रुति-बेचक भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन'[३]।

नाना प्रकारके साधकोंमें योगियोंकी विशेष महिमा थी, इसीसे योग-मार्गियोंके जोग जगानेकी बड़ी धूम थी—

'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो कलि ही छरो सो है।'[४]

विशाल जटा और नाखूनोंसे विकट वेश बनाये रहनेवाले इन योगियोंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, वे भारी तपस्वी माने जाते थे—

'जाके नख अरु जटा बिसाला।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलि काला'[५]।

और भी,

---

१. 'दोहावली' दो० ५५८
२. 'विनय०' पद १३९
३. 'मानस' उ० ९७. २
४. 'कवितावली' उ० छन्द ८४
५. 'मानस' उ० ९७. ८

'असुभ वेष, भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजित कलिजुग माहिं'[1]।

सम्राट् तथा सामन्तोंकी अवस्थिति और उनकी पारस्परिक नीति यह थी—

'गोड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल'[2]।

इन राजाओंको अकारण ही कठोरसे कठोर दण्ड देनेमें तनिक भी हिचक न होती थी[3]। ये नाना प्रकारसे अपनी कुटिलता और दुर्नीतिको कार्यान्वित करनेवाले थे[4]। अपनी प्रवंचना एवं क्रूरतासे ये कभी बाज आनेवाले न थे[5]। कुपथ और कुसाज ही इन्हें प्रिय थे[6]। किं बहुना,

'काल कराल नृपाल कृपाल न,
राज समाज बड़ोई छली है'[7]।

राजाओंके समान ही प्रजा भी पतित हो रही थी। पाखण्ड और पापकी वशवर्तिनी होकर वह भी मनमानी करना चाहती थी। समाज और साहित्यमें 'सुत्व'का अभाव और 'कुत्व'का भाव था—

'प्रजा पतित पाखंड पाप रत, अपने अपने रंग रई है।
साहिति सत्य सुरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है'[8]।

विलासिताका वातावरण देशभरमें व्याप्त था, लोगोंमें स्त्रैण्यकी अभिवृद्धि हो रही थी, बड़े-बूढ़ोंकी उपेक्षामें भी वह हेतु थो—

१. मानस, उ० ९८ २. 'दोहावली' दो० ५५९
३. 'मानस' उ० १००. ६ ४. वही. उ० ९७. २
५. 'विनय०' पद १३९
६. 'कवितावली' उ० छन्द १७६,१७७,१७९,'दोहावली' दो० ४१६, ४१७
७. 'कवितावली' उ० छन्द ८५. ८. 'विनय०' पद १३९

'नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकटकी नाईं।'[१]

अथवा,

'सुत मानहिं मातु पिता तब लौं, अबला नव दीख नहीं जब लौं।
ससुरारि पियारि लगी जब तें, रिपु रूप कुटुंब भये तब तें'[२]।

विलासिताकी सीमा यहाँतक पहुँच रही थी—

'नहिं मानत कोउ अनुजा-तनुजा।[३]'

विविध पन्थोंका प्रसार असामान्य वेगसे हो रहा था, फलतः प्राचीन वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादासे लोग हटते जा रहे थे, उसकी व्यवस्था शिथिल हो चली, वेद-शास्त्रके निन्दकोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, हेतु-वादका बोलबाला था—

'दंभिन निज मत कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ'[४]।

... ...

'स्रुति-सम्मत हरि-भगति-पथ, संजुत-बिरति-बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कलपहिं पंथ अनेक'[५]।

... ...

'बरन-धरम नहिं आस्रम चारी।
स्रुति-बिरोध-रत सब नर-नारी'[६]॥

... ...

'स्वारथ-परमारथ कहा। कलि कुटिल बिगोयो बीच।
धरम बरन आस्रमनिके पैयत पोथि ही पुरान'[७]।

... ...

---

१. 'मानस' उ० ९८.१
२. 'मानस' उ० १००.४,
३. वही. उ० १०१.५
४. 'मानस' उ० ९७
५. वही, उ० १००
६. 'मानस' उ० ९७. १
७. 'विनय०' पद १९२

अब देखना चाहिये कि समाज क्या है और राजा या राज्य तथा प्रजा या जनसमुदायसे उसका क्या सम्बन्ध है। सामान्यतया समाज मनुष्योंका संघ है—'समाजो नराणां संघः।' इसी प्रकार सामाजिक मतका तात्पर्य हुआ जन-समुदायकी रहन-सहन, खान-पान, विचार-व्यवहार, ब्याह-बरेखी आदिसे सम्बद्ध मत। यहाँ तुलसीदासजीके इसी मतका विश्लेषण करना है।

आदर्श-राजकी भावना

मानवके संघटनका इतना विकास हो चुका है कि उसकी दृष्टिसे समाजके अर्थमें व्यापकता बढ़ गयी है। छोटे परिवारसे लेकर विस्तृत राज्यतकका समुदाय समाजके अन्तर्गत आता है। समाजका विकास राष्ट्र-तक हो चुका है। विकासके चरमोत्कर्षके अनन्तर हो सकता है कि समाजकी व्याप्ति 'वसुधैव कटुम्बकम्'तक हो जाय। यहाँ समाजके अद्यावधि विकसित व्यापक अर्थपर ध्यान रखते हुए हमें गोस्वामीजीका मत देखना है। पहले उनकी आदर्श राज्यकी भावना और राजनीतिपर आइये। तुलसीदासके आदर्श राज्यका नाम रामराज्य है। प्रश्न उठता है कि यह केवल कल्पना-लोककी वस्तु है या इसमें व्यावहारिकता भी है? समाज-संघटनके जितने आदर्श कल्पित होते हैं वे सदा ज्योंके त्यों घटित नहीं होते। व्यवहारमें जितने सिद्धान्त या आदर्श आते हैं उन्हें अपना रूप बदलना पड़ता है। इस दृष्टिसे तुलसीदासजीकी रामराज्यकी कल्पना केवल कल्पना ही ठहरती है। पर जितने सिद्धान्त प्रस्तुत होते हैं वे किसी असत्को हटाकर किसी सत्की स्थापनाकी ओर प्रवृत्त होते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर तुलसीदासकी उक्त कल्पना केवल कल्पना, कमसे कम उनकी दृष्टिमें या उसी प्रकारके अन्य महात्माओंकी दृष्टिमें, नहीं ठहरेगी।

रामराज्यकी सर्वोपरि विशेषता थी प्रजामें पारस्परिक ऐक्य। ऐक्यके अभावमें वैरकी वृद्धि अनिवार्य है। वैरका जनक है वैषम्य। और राजतन्त्रमें वैषम्यका कारण होता है राजा। सम-दृष्टि-शून्य राजा प्रजाका

पालन द्वैत भावसे करता है। तत्परिणाम-स्वरूप प्रजावर्गमें वैरकी अग्नि प्रज्वलित होती है। यदि राजा प्रतापी हो अर्थात् उपद्रवियोंको यथोचित दण्ड देनेवाला और शान्त सज्जनोंपर यथावश्यक प्रसाद करनेवाला हो तो विषमताका परिहार हो जाता है। रामराज्यमें—

'बयरु न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई[1]।'

जहाँ विषमता नहीं वहाँ सुख और शान्तिका विकास होता ही है। प्रजा निर्भय, अशोक और नीरोग रहती है—

'बरनास्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग[2]।'

... ...

'रामराज राजत सकल, धरम निरत नर-नारि।
राग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि[3]।'

प्रजा त्रयतापों[4]से अछूती थी, अल्प मृत्यु[5], रोग दारिद्रय[6] आदिके महादुःख भी उसके पास नहीं फटकते थे। रामराज्यमें इनका पूर्ण अभाव कहा गया है। राजा और प्रजाके लिए धर्म अर्थात् कर्तव्य-निष्ठता या आधुनिक पदावलीमें नियमबद्धता ही सर्वोपरि होनी चाहिये। रामराज्यमें यही था, इसीसे न कोई दीन था, न दुःखी-दरिद्र, न मूर्ख, न कुलक्षण। सभी निर्दम्भ, सदाचारी, धर्मप्राण, गुणज्ञ, कृतज्ञ, ज्ञानवान् और पण्डित थे। कपटने तो उन्हें छूआ भी न था[7]। 'यथा राजा तथा प्रजा'के अनुसार जब रामको प्रजा इस रूपमें देखती थी—

'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें।
दान अनेक द्विजन्ह कहुँ दीन्हें॥

---

१. 'मानस' उ० १९-८ २. 'मानस' उ० २०
३. 'दोहावली' दो० १८२ ४. 'मानस' उ० २०-१
५,६. 'मानस' उ० २०.५,६ ७. वही, उ० २०.६-८, २०.५

श्रुतिपथ पालक धर्म धुरंधर।
गुनातीत अरु भोग पुरंदर[1] ॥'

तो उसकी अनुकृति भी करती थी। जहाँ एक-नारीव्रत राम राज्य करते थे वहाँकी प्रजा भी वैसी ही क्यों न हो—

'एक नारिव्रत रत सब झारी।
ते मन-वच-क्रम पति हितकारी[2] ॥'

रामराज्यकी विशेषताओंका बयान करनेसे यह भ्रम न होना चाहिये कि तुलसीदासजी राजाके समर्थक और प्रजाके उपेक्षक थे। तत्त्वतः वे उस समयके शासनको प्रजाके लिए अत्यन्त उद्वेजक न होते हुए भी आदर्श और लाभकर नहीं समझते थे। यह कहनेकी आवश्यकता अब नहीं रह गयी कि तुलसीदासजीने सहृदयों और जन-समाजके समक्ष राम-चरित सुधार-संस्कारके लिए ही प्रस्तुत किया था। यह तथ्य इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकारके समर्थनकी अपेक्षा नहीं रखता। 'विनयपत्रिका'में उन्होंने रामके समक्ष जो अपनी अर्जी पेश की है, जिसमें कलियुगके द्वारा उत्पन्न कष्टोंके निवारणकी प्रार्थना की गयी है, वह उनकी व्यक्तिगत बात नहीं है। तुलसीदास लोक-हृदय महात्मा थे, प्रजाके प्रतिनिधिके रूपमें उसमें फैले हुए अविचार और उसको होनेवाले कष्टोंको लक्ष्य कर उन्होंने यह संविधानक रखा है। मानसमें कलियुग-वर्णन यद्यपि श्रीमद्भागवतसे लेकर ही अधिकतर रखा गया है, पर उसके वर्णनमें उनका सामयिक प्रयोजन है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है, उस सन्तका नवनीत हृदय प्रजाके तापसे द्रवीभूत हो रहा था। वे प्रजाके उत्थान और कष्ट-निवारणकी कामनासे ओत-प्रोत थे और चाहते थे कि यह शीघ्रसे शीघ्र सम्पन्न हो।

प्रश्न होता है कि तुलसीदास राजकवि थे या लोककवि? इसके निर्णयमें कोई कठिनाई नहीं। संस्कृतके प्राचीन कवि वाल्मीकि, व्यास

१. मानस, पृ० २३.१,२ २. वहीं, पृ० २१.७

आदिने लोककविके रूपमें कार्य किया था, पर आगे चलकर संस्कृतका अधिकतर काव्य-वाङ्मय राजदरबारोंसे सम्बद्ध हो गया। कवियोंमें राज्य-प्रशस्तिके साथ राजाओंके लिए चमत्कारपूर्ण काव्यनिर्माणकी घोर प्रवृत्ति जगी। इसीसे संस्कृतका पिछले काँटेका काव्य भाव-भरित न रहकर कल्पनाकी कोरी उड़ानोंसे भर गया। कहनेको तो हिन्दी-साहित्यका उद्-गम या आरम्भ राजदरबारोंसे होता है, पर विचार करनेपर दिखाई देगा कि हिन्दी-साहित्यका उद्भव वस्तुतः भक्तिकालसे ही होता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसीमेंसे कौन दरबारी था ? हाँ, केशवदासजी पुरानी पर-म्परा ढो रहे थे और उन्होंने आगेके रीतिकालीन दरबारी कवियोंके लिए मार्ग भी चौड़ा कर दिया था, पर लोक-हृदय कवियोंका आन्तरिक प्रवाह इतना वेगमय था कि आधुनिक युगका उदय होते ही हिन्दी-साहित्यने दरबारसे मानों सदाके लिए अपना पीछा छुड़ा लिया। अस्तु, तुलसी-दासको रामराज्यकी कल्पनाके कारण राज-कवि नहीं कहा जा सकता।

तुलसीदासजी रामराज्यकी चर्चा दो दृष्टियोंसे करते हैं। एक ओर तो वे राजन्यवर्गको सचेत करते हैं कि राज्य वही टिकनेवाला हो सकता है जो प्रजा-सम्मत हो। दूसरे वे प्रजाको भी चेतावनी देते चलते हैं कि उसे ऐसे ही आदर्श राज्यके लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। भारतीय समाजमें अन्याय और अत्याचारके प्रति जो विद्रोहात्मक प्रवृत्ति जगी उस जागर्तिमें तुलसीदासका बहुत अधिक हाथ है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। तुलसीदासकी कृतियोंके द्वारा समाजमें जिस भावनाका प्रसार हुआ और उनके उद्योगसे जनतामें जिस बल-वीर्यका संवर्धन हुआ वह इति-हासके पन्नोंमें छिपा पड़ा है। हनुमत्पूजाके प्रसारका आयोजन करके, हनु-मन्मन्दिरोंकी स्थापना करके और रामलीलाकी व्यवस्था बाँधकर उन्होंने प्रजाका हित-साधन करनेमें कुछ उठा नहीं रखा। समर्थ गुरु रामदासने, जिनकी शिक्षा-दीक्षासे छत्रपति शिवाजी प्रभावित हुए और जिन्होंने भार-तीय समाजकी परतन्त्रताकी बेड़ी काटनेका अप्रतिम उद्योग किया-कराया, दक्षिणापथके ग्राम-ग्राममें मारुति-मन्दिरकी स्थापना करके महात्मा

तुलसीदासका अनुगमन किया है, इसे इतिहास-प्रेमियों और अनुसन्धायकोंको देखने, समझने और इसकी छान-बीन करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये।

तुलसीदास प्रजाके कितने बड़े हिमायती थे, यह देखनेके लिए प्रजाके लिए कहे गये उनके कुछ विचारोंका आलोड़न-मन्थन सुतराम् अनिवार्य है। राम ऐसे आदर्श राजाको भी प्रजाकी आलोचनाका सम्मान क्यों करना पड़ता है? इसीलिए कि तत्कालीन नरेश प्रजाकी वैसी चिन्ता नहीं करते थे जितनी उन्हें करनी चाहिये थी। यदि तुलसीदासजी सामन्तवादी मनोवृत्तिके होते, जैसा कुछ लोगोंको भ्रम हुआ है, तो वे प्रजा-पक्षका वैसा समर्थन न करते जैसा उन्होंने किया है। रामने स्पष्ट कहा है कि प्रजा यदि मेरे दूषण देखे तो मुझे वर्जित करे—

> **'नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।**
> **सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई॥**
> ... ...
> **जौं अनीति कछु भाखउँ भाई।**
> **तौ मोहि बरजेउ भय बिसराई[1]॥'**

यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजी राज्यका स्वामित्व प्रजाका मानते थे। उस युगमें इस प्रकारकी सामान्यतया कल्पना करना यदि असम्भव नहीं तो असाधारण अवश्य था। राज्यका अधिकारी तुलसीदासकी दृष्टिमें राजा ही था, जैसा उस समय यदि सबकी नहीं तो अधिकतर व्यक्तियोंकी दृष्टिमें था। पर यह अवश्य और बेखटके कहा जा सकता है कि तुलसीदास प्रजा-सम्मत शासन ही मानते थे। उनकी दृष्टिमें 'नृपनय'के साथ 'साधुमत' और 'लोकमत' दोनोंकी मान्यता अपेक्षित थी। राजकीय व्यवहार कोरी राजनीतिसे नहीं चल सकता। उसमें साधुमत अर्थात् व्यक्तिगत उच्चादर्श और लोकमत या जनमतका मेल अनिवार्य है—

---

१. **'मानस' उ० ४२.४, ६**

'करिय साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि[1]।'

यह अवश्य है कि तुलसीदासजी प्राचीन शास्त्रोंके माननेवाले थे, वे 'निगम-मत' छोड़कर चलनेवाले न थे। 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'को वे पूर्णतया मानते थे, पर लोकमतकी अवहेलना न वे करनेकी सोच सकते थे और न उन्होंने ऐसा कहीं कहा ही है।

कई विद्वानोंका मत है कि तुलसीदासजी राज-व्यवहार, उसके नियम, कायदे-कानूनसे अपरिचित थे। केशवदासजीने जितना दरबारी शिष्टाचार-(एटीकेट)का ध्यान रखा है उतना उन्होंने नहीं। इसके क्या कारण थे, उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है, पर यह खुल्लमखुल्ला कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रजा-पक्षका ध्यान कहीं भी नहीं छोड़ा है। उन्होंने साधारण जनताके हृदयके दर्शन करानेके अवसरपर अपनी पूरी सहृदयता-का प्रदर्शन किया है। रामके वनवासके अवसरपर ग्रामके नर-नारियोंकी ओर उनकी जैसी दृष्टि गयी है वैसी न तो तुलसीके पूर्व किसी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या भाषाके कविकी गयी और न उनके किसी उत्तर-वर्तीने ही रामचरित काव्यका निर्माण करते हुए वैसा अभिनिवेशपूर्वक उसका वर्णन या उल्लेख किया। यह निरर्थक अथवा वर्णनप्रियताके कारण नहीं है। यदि ग्राम-नर-नारी रामभक्तके रूपमें पहलेसे ही प्रसिद्ध होते तो भी कहा जा सकता था कि भक्त कविका यह केवल पक्षपात है। पर अपरिचित ग्रामीणोंमें, विशेषतया नारियोंमें जिस मानव-सामान्य-भावना-का उदय कविने कराया है वह उसके प्रजा-प्रातिनिध्यका प्रमाण है।

राजा-प्रजाका सम्बन्ध

अब विचार करना चाहिये कि राजा-प्रजाका सम्बन्ध कैसा हो। 'प्रजा' शब्दका अर्थ सन्तति होता है। तुलसीदासजी प्रजाके प्रति राजाकी वात्सल्य-भावनाको ही ठीक समझते हैं। वात्सल्यकी भावनामें स्वामित्वका दम्भ और अहंकार आपसे आप लीन हो जाते हैं। राजाके लिए प्रजा

१. मानस, अयो० २५७

प्रिय है। राजाको उसका प्रेमी होना चाहिये। राजा भी प्रजाके लिए प्रिय हो, यह उसके कर्मों और व्यवहारपर आश्रित है। दूसरे शब्दोंमें तुलसीकी दृष्टिमें राजाके लिए प्रजाका 'प्रियत्व' स्वाभाविक, प्राकृतिक होना चाहिये। प्रजामें भी राजाका 'प्रियत्व' जगे इसके लिए राजाको ही प्रयत्नशील होना चाहिये। इसीके लिए उन्होंने स्थान-स्थानपर राजाको सचेत और सावधान किया है। इस स्पष्टीकरणसे तुलसीदासजीकी राजा और प्रजाके सन्निकृष्ट सम्बन्धकी धारणाका ठीक-ठीक पता चल जाता है।

अब रहा यह कि राजा किस प्रकारके आचरणसे प्रजाका 'प्रियत्व' प्राप्त कर सकता है। इसके लिए अनेक नीतिवाक्य उन्होंने 'दोहावली'में दिये हैं। राजाकी समता जब पितासे है तो उसके साथ ही उसमें प्रजाके लिए पालकत्वका गुण भी होना चाहिये। यों तो राजाको सबके लिए समदर्शी होना चाहिये, पर उसके लिए समान वितरण आवश्यक नहीं है। वह मुखिया है और मुखकी भाँति सब कुछ ग्रहण करके भी वितरण अंगोंकी आवश्यकता और उपयोगिताकी दृष्टिसे ही करता है—

'मुखिया मुख सो चाहिये खान-पानको एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक[1] ॥'

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजामें पितृत्व ही उन्हें मान्य है, मातृत्व नहीं। माता सन्ततिके लिए अविवेकसे भी काम ले सकती है, पर पिता, जैसी उसके गुण-धर्मकी भारतीय भावना है, विवेकसे काम लेनेवाला है। तुलसीदासजी हृदयके साथ विवेकको भी इसीसे मान्य ठहराते हैं।

रहा यह कि राजा प्रजासे 'खान-पानको एक'की दृष्टिसे कैसे आवश्यक सामग्रीका चयन करे। इसके लिए उनकी सम्मति बहुत ही स्पष्ट, उपयोगी और आधुनिक राजनीतिक मान्यताओंकी संवादिनी दिखाई देती है। वे कहते हैं कि राजा करका ग्रहण ऐसे उपाय और ढंगसे करे कि प्रजा को

---

१. **'मानस'अयो० ३१४, 'दोहावली' दो० ५२२**

पता ही न चले कि किस प्रकार उसने कर लिया—जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे जल खींचता है, पर कोई यह नहीं लक्षित कर पाता कि जल कैसे आकाशमें चला गया, पर जब वही जल वृष्टि बनकर फिर लौटता है तो सभीको वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। किसी राजनीतिके विशेषज्ञको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि साम्प्रतिक राजनीति भी प्रत्यक्ष कर-(डाइरेक्ट टैक्सेशन)को अच्छा नहीं मानती। तुलसीदासजी कहते हैं—

> 'बरखत हरषत लोग सब करषत लखै न कोय।
> तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु-सो होय[1] ॥'

राजनीति-विषयक विभिन्न अंगोंसे सम्बद्ध गोस्वामीजीकी नीतिका विस्तृत परिचय देना और अनावश्यक विस्तारसे प्रबन्धको स्थूल-काय बनाना प्रयोजनीय नहीं। उसके लिए संकेतित स्थल दर्शनीय हैं[2]। निष्कर्षरूपमें इतना ही कहना है कि तुलसीदासजीमें राजनीति-सम्बन्धी दृष्टि

---

१. 'दोहावली' दो० ५०८; यही भाव कालिदासने यों दिखाया है—

> 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
> सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥'

२. राज-मद-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : 'मानस' अयो० ५९.८; २२६.८; २२७.१; २२९.६, ७

उत्तम राज-प्रकृति-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : वही बा० २७.५-१०; अयो० ३१४; 'दोहावली' दो० ५०७, ५१६, ५२२, ५३०

राजकर्मचारी-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : 'दोहावली' दो० ५१७, ५२१, ५२५

स्वत्व-संग्रह-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : वही, दो० ५०९, ५१०, ५११

गोपन एवं अन्य नीति-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : 'मानस' अयो० ३१४.१; अरण्य० २०.८, १०, ११, १८.१४; बा० १७०; लं० ५.५; २३; २७.१०; उ० ११.६

दो प्रकारकी है, एक तो पारम्परिक या परकीय और दूसरी स्वतन्त्र या स्वकीय। पारम्परिक दृष्टिसे वे मनु महाराजकी ही भाँति राजाको ईश्वरका अंश और मान्य मानते आ रहे थे[1], पर स्वतन्त्र दृष्टिसे वे राजाके प्रजासम्मत पथके ही अनुगामी थे। यहाँतक कि समयके अच्छे और बुरे होनेका हेतु उन्होंने राजाको माना है—

'जथा अमल पावन पवन पाइ कुसंग सुसंग।
कहिय सुवास कुबास तिमि काल महीप प्रसंग[2]।'

कहनेको तो कोई कह सकता है कि युग-धर्मके अनुसार राज्यकी स्थिति हुआ करती है, पर तुलसीदासके मतसे इसका कारण राजा अर्थात् शासन ही है। शासनके 'सुत्व'का हेतु उसकी सुनीति और 'कुत्व'का हेतु कुनीति ही है।

आधुनिक शब्दावलीमें तुलसीदासजी 'क्रान्तिकारी' तो नहीं कहे जा सकते, पर उन्होंने जो कार्य किया और जिस प्रकारका मत अभिव्यक्त किया उसने परिणाम वही उत्पन्न किया जो क्रान्तिका होता है या कमसे कम माना जाता है। राजा यदि बुराई करे, प्रजाका ठीक पालन न करे तो अपने समयके अनुरूप तुलसीदास उसे तीन प्रकारकी धमकी दे सकते थे। एक तो यह कि लोकमें अयश[3] होगा, दूसरे यह कि विनाश[4] हो

---

१. 'साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला'
'मानस' बा० २७.८

उधर मनुका कथन है : 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'
'मनुस्मृति' ७:८

२. 'दोहावली' दो० ५०५

३. दे० 'मानस' अयो० १७०.४ 'सोचिय नृपति नीति नहिं जाना, जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।'

४. दे० 'दोहावली' दो० ४१६

'राज करत बिन काज हीं करैं कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज॥'

जायगा और तीसरे यह कि परलोकमें हानि होगी[1]। लोक और परलोक का लोभ या भय दिखाना ही उस समय सम्भव था। साम्प्रतिक क्रान्तिकी बात उस समयका कवि सोच ही कैसे सकता था? पर इस प्रकारके शान्ति-आन्दोलनका परिणाम वही हुआ। तुलसीदासने धनुर्धारी और दशकन्ध-विनाशी रामका जो स्वरूप अंकित किया उसने प्रजाके हृदयमें सन्तोष और शरीरमें स्फूर्ति तथा मस्तिष्कमें स्वाधिकारका विचार भर दिया।

संक्षेपमें तुलसीदासजी तत्कालीन कुनीतिपूर्ण शासनकी तुलना रावण-राज्यसे करते थे। उसके प्रतिपक्षमें ही वे रामराज्य चाहते थे। इस राम-राज्यमें प्रजा प्राणोंसे बढ़कर प्रिय होती थी, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। अन्तमें यही कहा जा सकता है कि वे अपने समयतक विकसित भावनाके अनुसार एकतन्त्र-शासन-प्रणालीको ही मानते-जानते थे, पर चाहते थे प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली। राजाकी निरंकुशताका समर्थन तो कोई भी नहीं कर सकता। तुलसीदासजी तो ऐसे राजाको भी तिरस्कार-की दृष्टिसे देखते हैं जो प्रजाको प्राणप्रिय नहीं समझता। इसलिए गोस्वामीजी प्रजा-पक्षके ही समर्थक सिद्ध होते हैं। यदि मध्यकालमें उनका आविर्भाव न हुआ होता तो वे रामराज्यका स्वरूप अवश्य सामने रखते, पर प्रजा-राज्यकी ही चर्चा करते। दूसरे शब्दोंमें उनका रामराज्य प्रजाराज्य ही है। यह वही प्रजाराज्य है जिसकी उद्भावना महर्षि वाल्मीकि-ने की थी, जिस राज्यमें धोबीकी बात सुनी गयी और अपनी निर्दोष पत्नी-का परित्याग किया गया। भवभूतिके शब्दोंमें रामराज्य लोकाराधन है। तुलसीदासजी लोकाराधन ही चाहते थे। सगुणोपासक भक्त अपने उपास्य-की विभूति लोकमें ही देखता है। उसके लिए जग सियाराममय है। इसीलिए वह किसी व्यक्तिका आराधन, किसी राजा-रईसका आराधन कर ही नहीं सकता। वह लोक-समष्टिका उपासक होता है, व्यष्टिका नहीं।

---

१. दे० 'मानस' अयो० ७०.६ 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'

अतः तुलसीदासको जो लोग सामन्तवादी कहते या समझते हैं उनकी बुद्धि वादग्रस्त या वातग्रस्त है।

प्राचीन वर्णाश्रम धर्मकी प्रतिष्ठा

समाजके राजगत व्यापक संघटन और राजनीतिक मान्यताकी चर्चा करनेके उपरान्त अब गोस्वामीजीके व्यवहारगत सामाजिक संघटन और उसकी मान्यताका विचार करना चाहिये। सबसे प्रथम यह कह देना आवश्यक है कि वेदशास्त्रानुमोदित मार्गका अवलम्बन करना-कराना ही तुलसीदास क्या समस्त भक्ति-सम्प्रदायका स्वरूप है। ऐसा क्यों हुआ और उसमें केवल प्रतिगामिता ही नहीं है, आदि बातोंका खण्डन-मण्डन प्रस्तुत निबन्धका लक्ष्य नहीं, पर इतना कह देना आवश्यक है कि भारतमें जिन-जिन सुधारवादी या गतिशील आन्दोलनोंका उदय हुआ उनका समावेश आवश्यक परिवर्तनके साथ कर लेनेकी प्रवृत्ति निरन्तर जगती आयी है। प्राचीन युगमें, कमसे कम हमारे कविके समयमें, किसी सुधार-संस्कार या परिवर्तनका ग्रहण समस्त या अधिकांश भारतीय समाजको तभी मान्य हो सकता था जब वह श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रानुमोदित हो। इसलिए जो भी आन्दोलन, विशेषतया भक्तिका जो आन्दोलन फिरसे खड़ा हुआ उसके लिए भी श्रुति-स्मृतिका सहारा आवश्यक क्या, अनिवार्य था। बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ, निर्गुनिये आदि जिस परिष्कारके अभिलाषी थे उसीको श्रुतिसम्मत-पथमें ले आना भक्ति-सम्प्रदायका आन्तरिक उद्देश्य था, इसे समझ लेनेसे भक्ति-सम्प्रदाय और उसके अन्तर्गत चलनेवाले मत-मतान्तरोंके वास्तविक रूपका पता चल जाता है। कबीर आदि निर्गुनिये जो आन्दोलन कर रहे थे उसमें जाति-पाँतिका त्याग आवश्यक था, सबकी समानता उनको मान्य थी। पर इसके साथ ही वे यह भी कहते थे कि प्रेम अर्थात् भक्तिके लिए ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। कबीरने स्पष्ट कह दिया है कि—

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥"

भारतीय भक्ति-मार्ग ज्ञानका विरोधी नहीं है, पर वह ज्ञान अर्थात् कोरे ज्ञानको पर्याप्त नहीं समझता। गोस्वामीजीने ऐसे कोरे ज्ञानको 'वाक्यज्ञान' कहा है। 'वाक्यज्ञान'से वस्तुतः संसारका रहस्य जान लेना सम्भव नहीं। सच पूछिये तो तुलसीदासजी क्या और सूरदासजी क्या, जितने भी भक्त-सम्प्रदायके कवि हुए हैं उन्होंने निर्गुनियोंका विरोध इसीलिए किया है, अन्यथा सुधारकी बातें उन्हें भी मान्य थीं। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि कबीर आदि सन्त फकीर जाति पाँतिकी व्यवस्था हटाकर जिस सर्वसामान्य मार्गका या प्रवृत्तिका उद्बोधन करना चाहते थे वही प्रवृत्ति इन सगुणोपासक भक्तोंकी भी थी; पर वे 'क्रान्तिकारी' नहीं थे। वर्णव्यवस्थाका उन्मूलन करनेसे ये लोग कोई लाभ नहीं समझते थे, पर समानाधिकार इन्हें भी मान्य था। वह समानाधिकार भक्तिके क्षेत्रमें सबको मिल सकता था। भक्त होनेपर श्वपच किसी जन्मना ब्राह्मणसे किसी प्रकार नीचा नहीं रह जाता; प्रत्युत यदि ब्राह्मण भक्त नहीं है तो डोम भक्तिके कारण उससे ऊँचा भी माना जाता है[1]। वस्तुतः भक्ति हृदयका व्यापार है। जो समानता केवल बुद्धिसे स्थापित होती है वह चिरस्थायी और शाश्वत नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा, हृदयके द्वारा पुष्ट समानता चिरस्थायिनी होती है। कोरे पुराणपन्थियोंसे भक्ति-मार्गियोंको भिन्न समझना चाहिये। ठीक इसी प्रकार भक्ति-मार्गियोंको ज्ञान-पन्थियों या निर्गुनियोंसे भी भिन्न मानना चाहिये। गोस्वामीजी वस्तुतः समन्वयवादी वृत्तिके थे। वे 'पुराण' और 'नवीन' दोनोंका समुचित संघटन और संयोग करनेवाले थे, न वे पुराणवादी थे, न नवीनवादी। उन्हें पारम्परिक रूपमें वर्णव्यवस्था मान्य थी, पर वे उसके कट्टर समर्थक न थे। वे भक्तिके साथ ज्ञान और कर्मको भी मानते थे। पर इस त्रयीमें ज्ञान और कर्म गौण थे। ज्ञानकी मान्यताके कारण वे वेदका तिरस्कार

---

१. देखिये तुलसीकी यह उक्ति : 'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम।' 'वैरा० सं०' दो० ३८

नहीं करते थे और कर्मकी मान्यताके कारण वर्णव्यवस्थाको भी मानते थे। समाजकी मर्यादा तोड़कर कोई नया पन्थ वे नहीं चलाना चाहते थे, इसीसे उन्होंने वर्णव्यवस्थाका प्रत्यक्ष खण्डन नहीं किया। 'मानस'में पात्रोंके द्वारा उन्होंने वर्णाश्रम धर्मका समर्थन इसीसे कराया। अन्य ग्रन्थोंमें उन्होंने भक्तिको ही सर्वोपरि रखकर मर्यादाके विरुद्ध बातें कहनेका साहस भी किया। जैसा वे 'विनयपत्रिका'में कहते हैं—

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो त्यागिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥'

जिस युगमें गोस्वामीजी हुए थे उस युगमें लोकके अधिकांशको ध्यानमें रखकर अर्थात् बहुजनहितको लक्ष्य करके कोई परम्परा-प्रेमी उसके अतिरिक्त कोई दूसरी कल्पना कर ही नहीं सकता था जैसी कल्पना उन्होंने की। सामाजिक दृष्टिसे उस समय इतना अधिक विकास या गतिशीलता जनतामें नहीं आ पायी थी जिसकी ओर निर्गुनिये सन्त उसे ले जाना चाहते थे। कोई कहना चाहे तो कह सकता है कि निर्गुनिये सन्तोंका पक्ष वस्तुतः दलित वर्गका पक्ष था और सगुणोपासकोंका पक्ष समस्त समाजमेंसे बहुमतका पक्ष। जो भी हो, समाज किस प्रकार चलता रहे और उसमें सहसा उपप्लव होकर विनाशकी स्थिति न उत्पन्न हो, इसीलिए तुलसीदासजीने प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था[1]का समर्थन

---

1. वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी प्राचीनताके संकेतके लिए देखिये—
   ऋग्वेद १०:९०:१२—१३
   यजुर्वेद ३१:११—१२
   अथर्व० १६:६.६—७
   'गीता' ४:१३
   'भागवत' २ : ५ : ३७
   इनके अतिरिक्त 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थोंमें तो वर्णाश्रम धर्मकी विशद व्यवस्था है ही।

किया था। उनका ऐसा समर्थन कहीं-कहीं उस सीमातक भी पहुँच गया है जो भोंड़ा, साथ ही खटकनेवाला भी प्रतीत होता है, इसमें सन्देह नहीं।

वर्णाश्रम-व्यवस्थाका मूल और सिद्धान्त तो उन लोगोंको भी मान्य है जो उसके विरोधी हैं, पर कठिनाई यह उपस्थित होती है कि वर्ण-भेद-को जन्मना माना जाय या कर्मणा ? जन्मना माननेसे उसके 'गुण-कर्म-विभाग'का आगे चलकर लोप हो जाता है, सबको समान अधिकार और-अवसरकी स्थिति नहीं रह जाती। कर्मणा माननेसे उसका परिष्कार समय-समयपर अपेक्षित होता है। तत्त्वतः वर्णव्यवस्था न तो केवल जन्मना ही मान्य हो सकती है और न केवल कर्मणा ही। दोनोंका किसी प्रकार समन्वय ही उसकी उपयोगिता सिद्ध कर सकता है। गोस्वामीजी एक प्रकारसे समन्वयकी यही स्थिति लाना चाहते थे। 'जन्मना'की बात तो वे परम्पराके अनुसार ही स्वीकार कर लेते हैं, पर 'कर्मणा'के लिए उस व्यवस्था के गुण-कर्मका नियोजन करके भक्तिका विनियोजन करते हैं। भक्तिका यह विनियोग समाजकी दृष्टिसे ही उन्होंने किया था। वे भक्तिको सामाजिक भूमिकापर ले आना चाहते थे। केवल व्यक्तिगत साधनाके लिए उनकी भक्ति नहीं है और न वह केवल लोकसाधनाके ही लिए है। वह दोनोंका योग है। वे चाहते ही हैं—

'तुलसी घर-बन बीच ही राम-प्रेम पुर छाइ[1]।'

इसीलिए वर्णव्यवस्था-सम्बन्धी उनकी उक्तियोंको अर्थवादकी दृष्टिसे देखना चाहिये, शब्दवादकी दृष्टिसे नहीं।

तुलसीदासजीने ब्राह्मणोंकी बड़ी प्रशंसा की है, उनके माहात्म्यका बार-बार उल्लेख किया है[2]। इतना लिखा है और ऐसे लिखा है कि यदि

---

१. 'दोहावली' दो० २५६

२. उनके ऐसे विचारोंके लिए देखिये : 'मानस' अरण्य० ३३. १, २; उ० ४४.७, ८; १०८.१३, १४; किष्कि० १६.८; बा० १६४. ३, ६; १. ३; १४; अयो० १२७. ३; ३२१. ३, ४; उ० ८५.५

कोई उन्हें पण्डे-पुजारियोंका वकील कह बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। पर ऐसी बात है नहीं। यथार्थतः वे ब्राह्मणत्वका आदर्श ऊँचा समझते थे, उनके त्याग और उनकी तपस्याको ही उपयुक्त समझते थे, परोपकार ही उनका लक्ष्य मानते थे। ब्राह्मणोंके पतनपर उन्हें घोर क्षोभ है, तो भी इस विषयपर उनके कुछ कथन असमर्थनीय हो जाते हैं तथा कहीं-कहीं शूद्रोंकी निन्दा भी इसी कोटिमें आ जाती है।

क्षत्रिय और वैश्यके लिए भी लोकोपकारवाली ही दृष्टिसे उन्होंने विचार किया है, जातिगत विचार वहाँ नहीं है। अर्थात् जैसे शूद्रके सम्बन्धमें है वैसे क्षत्रिय और वैश्यके सम्बन्धमें नहीं कि ब्राह्मणको प्रणाम न करनेवाला या ब्राह्मणको मान न देनेवाला क्षत्रिय या वैश्य मान्य नहीं है। 'विनय पत्रिका'में उन्होंने जिस 'हेतुवाद'की चर्चा की है वह मुखर शूद्रों से सम्बन्ध रखनेवाला है।

अब आश्रमपर आइये। तुलसीदासजीने आश्रमोंमेंसे गृहस्थाश्रमपर ही विशेष दृष्टि दी है। है भी वह ज्येष्ठ आश्रम[1]। हमारे कविने 'मानस' तथा अपने अन्य काव्योंका निर्माण जीवनके लिए, चलित जीवनके लिए ही किया है और भारतीय 'समाज'में मुख्य है 'गृहस्थी'—परिवार। जो व्यक्ति परिवारके लिए कुछ दे सके, उसकी मानसिक बुभुक्षाकी शान्ति कर सके, वह बहुत कुछ कर चुका। गोस्वामीजीने पातिव्रतपर बहुत कुछ लिखा है। गृहस्थी कैसे चले, इसका ध्यान उन्हें बराबर है। अनुसूयाने सीताको जो पातिव्रतकी शिक्षा दी है वह भारतीय समाजकी पारम्परिक स्थितिका ध्यान रखकर कविके द्वारा कहलायी गयी उक्ति है। तुलसीदास हमारे चलित जीवनके संस्कार-सुधार, देख-भालका इतना अधिक ध्यान रखते हैं और उसके लिए 'मानस'में उन्होंने इतने अधिक स्थलोंपर नीति-विषयक उक्तियोंकी योजना की है कि 'मानस' काव्य-ग्रन्थके बदले स्मृति-ग्रन्थ-सा जान पड़ने लगता है। उनके काव्यमें उपदेशात्मक तत्त्व-(डाइडैक्टिक एलिमेण्ट)का प्राधान्य इसीसे है। सन्त और असन्तके लक्षण

---

१. देखिये 'मनुस्मृति' ३:७७, ९०

बार-बार आये हैं। जैसे केशवदासजी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करनेके लिए 'रामचन्द्र-चन्द्रिका'में शास्त्रीय प्रमाणों और नीतिवाक्योंका सन्निवेश करते हैं वैसा ही तुलसीदास भी करते हैं, पर वे पाण्डित्य-प्रदर्शनकी दृष्टिसे ऐसा न करके समाजके उपकारार्थ करते हैं। पहलेमें आत्मपक्ष प्रधान है, दूसरेमें विश्वात्म-पक्ष। सूरदासको इसकी चिन्ता नहीं कि शृंगारी काव्यका समाजपर क्या प्रभाव पड़ेगा, पर तुलसीदासको इसकी चिन्ता निरन्तर है। भक्तिकालके अनन्तर रीतिकालमें सूरदासका अनुगमन विशेष हुआ, तुलसीदासका एकदम नहीं या बहुत कम। उसका कारण स्पष्ट है। सूरदासने समाजकी चिन्तामें घुल-घुलकर 'सूरसागर'का प्रणयन नहीं किया। उसमें काव्यतत्त्व उपदेशात्मक तत्त्वोंसे दबा नहीं, पर तुलसीदासजीमें यह बात स्पष्ट है। उसमें काव्यतत्त्वपर समाजतत्त्वका रंग खूब चढ़ा। परिणाम भी वही हुआ। रीतिकालके कवियोंने सूरदासको माना, तुलसीको नहीं, पर समाजमें सूरदासका उतना प्रसार नहीं हुआ जितना तुलसीदासका। कहीं 'सूरसागर' न हो, पर 'मानस' आपको मिल जायगा। भारतीय परिवारोंके आदर्शोंकी, शील-शिष्टाचारकी स्थापनाकी गोस्वामीजीने बहुत चिन्ता की है। भरतके चरित्रको केवल परम भक्तके चरित्रका आदर्श न मानना चाहिये। तुलसीदासजी भारतीय समाज, परिवारमें भ्रातृत्वका वही आदर्श चाहते हैं जो उन्होंने 'मानस'में दिखाया है।

पारिवारिक जीवनका आदर्श

भारतीय समाज और उसके अंग परिवारमें क्या विकार आ गया था, इसकी चर्चा 'विनयपत्रिका'के पदों तथा कलियुग-प्रसंगमें उन्होंने की है। उसका स्वरूप क्या होना चाहिये, इसे 'मानस'के राम-परिवारमें सिद्धान्त-रूपसे उन्होंने कहा ही नहीं, व्यावहारिक रूपमें दिखा भी दिया है। तुलसीदासजी उसी भारतीय परम्पराके अनुगामी या अपने समयके अनुरूप उसीके समर्थक हो सकते थे जिसको आजकलकी विलायती शब्दावलीमें समाजका सम्मिलित परिवार (ज्वाइण्ट फेमिली) प्रकार कहते हैं, पर

'फेमिली' और 'परिवार' शब्दोंकी आख्यामें ही अन्तर है। 'फेमिली'की सीमा छोटी—'स्व'की सीमातक है और 'परिवार'की सीमा बड़ी—'स्व'की सीमा पार कर 'पर'की सीमातक है। भारतीय 'परिवार'-संघटन-शैलीके द्वारा 'घर'में ही 'बाहर'की, व्यष्टिमें ही समष्टिकी, 'स्व'के साथ 'पर'की, थोड़ेमें या एक शब्दमें 'धर्म'की शिक्षा दी जाती है। इसीसे सामाजिक तुलसीदासने 'परिवार'पर विशेष ध्यान दिया है। 'मानस'में रामचरितके भीतर रामपरिवारमें उन्होंने उसके स्वरूपकी पूर्ण अभिव्यक्ति की है। यदि 'मानस'को दृष्टिमें रखकर कोई कहना चाहे तो कह सकता है कि गोस्वामीजी 'पारिवारिक कवि' हैं। वे भाई-भाई, पति-पत्नी, पिता-पुत्री; माता-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि, यहाँतक कि लालित-पालित पशु-पक्षियोंके सम्बन्धों और उनके निर्वाहकी जैसी झलक दिखाते हैं उसमें 'सम्मिलित परिवार'-शैलीका पूर्ण समर्थन निहित है। यदि किसी विचारशीलके समक्ष ये पंक्तियाँ रखी जायँ ('मानस' अरण्य० ४. ८, ९)—

'वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥'

तो वह तुलसीदासको पुराण-पन्थी क्या, पोंगापन्थी ही समझेगा। पर उनका जो प्राचीन सामाजिक आदर्श और उनकी जो पारिवारिक रूप-कल्पना थी वह 'पराशरस्मृति' आदिमें इसके विपरीत व्यवस्था होते हुए भी, उसका समर्थन वथा उल्लेख भी अनावश्यक समझती है। तो भी आजकल बहुतोंको यह विचार पूर्णतया समर्थनीय न जँचेगा। 'पिता'की आज्ञाका अपालन करनेवाला प्रह्लाद पूज्य है, पर उन्होंने—

'अनुचित-उचित बिचार तजि जे पालहिं पितु-बैन।
ते भाजन सुख-सुजसके बसहिं अमरपति ऐन[1]॥'

का भी समर्थन किया है, ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि वे 'लोकमत' और 'साधुमत' दोनोंमें अन्तर करके चलते थे। जहाँ व्यक्तिगत आदर्शकी

---

१. 'मानस' अयो० १७२

उच्चता अपेक्षित है वहाँ 'साधुमत' ही मान्य होगा। 'साधुमत' व्यक्तिमत है और 'लोकमत' जातिमत। भरतका वाक्य 'लोकमत' जातिमत—सामान्य कथन—साधारण धर्म है। प्रह्लादकी करनी साधुमत—व्यक्तिमत विशेष स्थिति—असाधारण या विशेष धर्म है। उन्होंने प्रह्लादका भी खुल्लम-खुल्ला समर्थन किया है—

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो त्यागिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज बनितन भे मुद मंगलकारी[१]॥'

कुछ लोग भरतके द्वारा माताके प्रति कहे गये वचनों और किये गये व्यवहारके कारण 'मानस'के भरतको तो बुरा कहते ही हैं, उसकी कल्पना करनेवाले कविकी भी कुत्सा करते हैं। तुलसीदासकी दृष्टि 'विनय-पत्रिका'के उक्त पदसे स्पष्ट है। यह 'साधुमत' भक्तिमत है। इसका 'लोकमत'से कोई विरोध नहीं है। लोककी उच्च, उच्चतर और उच्चतम कल्पनाओंके लिए ही इसका भी समर्थन है। व्यक्ति, परिवार, ग्राम, देश, विश्व आदिके तारतम्यसे धर्मकी उच्चता बढ़ी है। व्यक्तिकी अपेक्षा परिवारके धर्मका पालन श्रेष्ठतर है। परिवारकी अपेक्षा क्रमशः ग्राम, देश और विश्वके धर्मका पालन। ये मनुष्यके विकासके प्राचीन भारतीय सोपान हैं। गोस्वामीजी इसे ही मानते थे, यह आज बुरा हो या बुरा सिद्ध हो, यह दूसरी बात है। तात्पर्य यह कि लोकोन्मुख प्रवृत्ति ही उनकी प्रवृत्ति है। व्यक्ति-साधना और जागतिक व्यवहारमें उन्होंने अन्तर किया है। विमाताके प्रति, जो प्रायः ईर्ष्या-बुद्धिसे ही देखनेवाली होती है, मातृवत् व्यवहार उन्होंने इस जागतिक पारम्परिक भारतीय वृत्तिके अनुरूप रखा और दिखाया है। गोस्वामीजीने कैकेयीको बचानेके लिए 'गिरा'का प्रयोग करके उसकी कार्यवाहीसे उसे तटस्थ-सा कर दिया है तथा

१. 'विनय०' पद १७४

चित्रकूटमें उसका घोर पश्चात्ताप दिखाकर उसकी शालीनता प्रकट की है।

दास-दासी भी परिवारके अंग हैं और तुलसीदासजीने सेवक-सेव्य-भावकी भक्ति-पक्षमें महत्ता भी स्वीकार की है। यही कारण है कि उन्होंने सेवकके गुण-धर्मोंका उल्लेख और सेवकोंके कर्तव्य-पालनका वर्णन अत्यन्त मनोभिनिवेशपूर्वक किया है। भक्तिके जितने सम्प्रदाय खड़े हुए उनमें सेवक या दास्य भाव अनिवार्य रूपसे रहता है। जो सख्य, वात्सल्य और कान्त-भावसे उपासना करते हैं उनमें भी शान्त और दास्य भाव रहते हैं, इसलिए दास्य भक्ति-क्षेत्रका प्रधान भाव, सबमें अनुस्यूत भाव है, अतः परिवारके इस अंगके वर्णनमें विशेष अभिनिवेश भक्तके लिए स्वाभाविक है। भारतीय व्यवहार-परम्परामें जातिगत, स्थितिगत भेदोंको मानते हुए भी दासोंके प्रति पारिवारिक सम्बन्ध जोड़नेकी और उसका निर्वाह करनेकी प्रथा है। हमारे कविने इसी पारिवारिक भाव-प्रधान सम्बन्धको आदर्श माना है। मन्थरासे कैकेयीका सम्बन्ध इसी प्रकारका लक्षित कराया गया है। कैकेयी जब मन्थरापर बिगड़ती है और इस सम्बन्धका अतिरेक करके उसे सचमुच नीची श्रेणीका मानकर उसके साथ वैसा ही शब्द व्यवहार करने लगती है तो वह व्यथित होकर अपनी वास्तविक स्थितिके ज्ञानकी स्वीकृति कैकेयीके सामने यों करती है—

'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।'

मन्थरा यही कह रही है कि आजतक तो समानताका भाव बरता गया, पर अब उसकी समाप्ति हो गयी। मैं दासी हूँ, आपकी बराबरी मुझे न मिल सकेगी। भरत भी राजा हो जायेंगे तो आपके आजके व्यवहारसे निश्चय हो गया कि आपके यहाँ भी मुझे वह समानताका मान, जो आजतक प्राप्त था, न मिल सकेगा। अन्तमें कैकेयीको अपनी भूल ज्ञात हुई कि रोषमें मैंने इसके साथ इस आरोपित सम्बन्धके निर्वाहका भी ध्यान त्याग दिया। यह कह देनेमें कोई आपत्ति नहीं कि रोमी

'स्लेवों'की भाँति भारतीय दास स्वामीके अस्थावर रिक्थ नहीं थे। संक्षेप-में, उन्हें जड़ नहीं, चेतन प्राणी माना जाता था और उनके साथ अपने रक्त-मांसके लोगोंकी-सी आत्मीयता बरती जाती थी और तुलसीदास इसी आदर्शको माननेवाले थे।

दासोंकी तो कथा ही छोड़िये, पशु-पक्षियोंके साथ भी इसी आत्मीयताका परिचय दिया जाता था और वे भी इसे समझते तथा ऐसा ही व्यवहार करते थे। हमारे कविने पूरी मार्मिकताके साथ इसका उल्लेख किया है। पशुओंके मनोविज्ञानकी चर्चा करके उसके निरीक्षणकी प्रशंसा करनेका यह स्थल नहीं। यहाँ तो केवल पारिवारिक सम्बन्धका बर्ताव दिखाना मात्र प्रयोजन है। शुक और सारिकाके संवादमें तुलसीदासने 'गीतावली'में इसकी चरम अभिव्यञ्जना की है। वे रामके वियोगसे पीड़ित होकर कहते हैं—

'हम पंख पाइ पींजरनि तरसत अधिक अभाग हमारो।'

यहाँ यह कहना भी व्यर्थ है कि कविने बोलनेवाले पक्षियोंका ही संवाद रखकर शुद्ध प्रतीकात्मक अर्थात् कविकी ओरसे आरोपित भाव होनेसे, इसको बचा लिया है। यह बतलाना भी अनावश्यक है कि पंख होते पींजड़ोंमें पड़े रहनेसे उनकी जो मार्मिक वेदना प्रकट होती है उससे यह भी पता चलता है कि लोग वेदनासे इतने व्यथित हैं कि उन्हें चारा-पानी देनेके समय भी कोई उनके पींजड़ोंका द्वार नहीं खोलता कि उससे कहकर या घात पाकर ही उड़ जायँ। दिखाना यही है कि गार्हस्थ्य-जीवनके जो सम्बन्ध अपनोंके प्रति होते हैं वे ही दास-दासियों और लालित-पालित पशुओंतकके साथ जोड़े जाते हैं, उनका निर्वाह दोनों ओरसे होता है।

शास्त्रसम्मत प्राचीन परम्परागत नियमों और विश्वासोंका वर्णन

तुलसीदासने हमारे लिए केवल आदर्श परिवारका स्वरूप ही नहीं खड़ा किया, चलित भारतीय पारिवारिक जीवनकी कुछ उन लोकरूढ़

मूढ़कल्पनाओं(पापुलर सुपरस्टिशन्स)को भी ज्योंका त्यों बनाये रखा जो वैज्ञानिक दृष्टिसे चाहे महत्त्वपूर्ण और मान्य सिद्ध न हों। जीवनके घटनाचक्र सभी तर्कप्रतिष्ठ नहीं होते, बहुतसी ऐसी घटनाएँ होती हैं जो अतर्क-प्रतिष्ठ अथवा तर्कविरूद्ध भी होती हैं और विकसित मानव-जीवनमें भी जाने अनजाने चलती ही रहती हैं। मनुष्यका विकास जिन मूढ़ताओं और अन्ध-विश्वासोंके बीचसे हुआ है वे संस्काररूपमें उसमें वर्तमान रहते हैं और तर्कसे सिद्ध न होनेपर भी अपने व्यक्तिगत जीवनमें वह उनका व्यवहार कर जाता है। कभी-कभी उसके लौकिक जीवनसे इसके कारण विरोध उत्पन्न होता है और उसे इन संस्कारोंके लिए समाजमें कभी-कभी लज्जित भी होना पड़ता है। इस अवसरपर विन्ध्याटवीके एक अंगरेज मुझे याद पड़ रहे हैं जो बड़े प्रगतिशील होनेके साथ ही प्रकृति-प्रेमी भी थे। अंगेरेजोंमें यह मूढ़कल्पना है कि इमलीका पेड़ अशुभ होता है। उस अंगरेजने कुछ भूमि ली जिसमें इमलीका पेड़ पड़ता था। बहुत ही शोभन और साथ ही मिष्ठ फलदायक था वह महान् वृक्ष। जहाँ उन्होंने इमारत बनवायी उससे वृक्ष दूर पड़ता था। पर जाड़ेमें सूर्यके दक्षिणायन होने पर उसकी छायाका अंशमात्र मकानपर आता था। उन्होंने उस हरे-भरे वृक्षको कटवा ही तो डाला। कटवाते समय उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। उक्त प्रकृति-प्रेमीको वह वृक्ष भाता था, पर संस्कारगत मूढ़कल्पना-ने उन्हें विवश किया। उनके एक आलोचकने उनकी दुर्बलता पहचान-कर उन्हें सबके बीच लज्जित किया। वे बेचारे कुछ बोल न सके।

तुलसीदासने ही ऐसे अतर्क-सिद्ध विश्वासोंका[1] संग्रह अपने काव्यमें

---

१. इनकी रचनाओंमें संगृहीत विश्वासों, शकुनों आदिके प्रसंगोंके लिए देखिये 'मानस' लं० १०१. ७–१२, ८५. १, २; अयो० १५६. ४–८; बा० ३०२. १–८; अयो० २३३.; सुं० १०.२–७; अयो० १५७. ६; २२४. ३–७; १९०. ४; उ० १२. १५; बा० ६७.; १३०. अयो० १४.; अरण्य० १७.६, 'दोहावली' दो० ४६०, 'कविता०' उ० छ० १८०, 'गीतावली' लं० गीत २०

नहीं किया है, महर्षि बाल्मीकिने भी अपनी रामायणमें इनका ग्रहण किया है[1]। अपशकुनादिके जो शास्त्र हैं[2] वे तो हैं ही, संस्कृतकी सारी काव्य-परम्परा इनका संग्रह करती आ रही है। शेक्सपियर आदि विदेशी कवियोंने अपने महाकाव्यों और नाटकोंमें बराबर इनका ग्रहण किया है। बात यह है कि कविका कार्य जीवनकी अभिव्यक्ति है। जीवन जिस रूपमें चलता रहता है कवि उसका ग्रहण करके उसमें परिष्कार करनेका प्रयास करता है। इसलिए चलित जीवनकी सुधारककी भाँति सर्वत्र आलोचना करते चलनेसे उसकी लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती। इसीसे भावसरणिके भीतर जितनी बातें और घटनाएँ खपती चलती हैं उन्हें वह खपाता चलता है। इन संस्कारोंका संग्रह जीवनके भरावको दिखानेभरके लिए होता है। काव्यके प्रयोजनकी सिद्धि न तो इनकी तीव्र आलोचना करनेसे होती है और न इनका संग्रह करनेसे उसकी कोई हानि ही। जिन पात्रों या जिस जीवनका स्वरूप खड़ा किया जाता है उनमें या उसमें जो-जो मान्यताएँ हैं उनका आकलन न करनेसे उसकी परिपूर्णता-को क्षति पहुँचती है। इसीसे इस प्रकारकी अतर्क-सिद्ध बातें भी काव्यमें जीवनसे सम्बद्ध होनेके कारण आ जाती हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि गोस्वामीजीने शास्त्रसम्मत और काव्य-परम्परा-सम्मत होनेके कारण ही इनका संग्रह किया है। इनमें उनकी कोई निष्ठा रही हो ऐसी बात नहीं। भगवद्भक्तके लिए ये अन्ध-विश्वास और ये मूढ़कल्पनाएँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। एक भक्तने ललकारकर कहा है—

'सबै घरी सुभ घरी है सबै बार सुभ बार।
भरनी भद्रा ताहि दिन जब रूठै करतार।'

भक्तके लिए भगवत्-प्रेरणा, मनोल्लास ही सब कुछ है, मुहूर्त-चिन्तन

---

१. देखिये बाल्मी० रा० युद्धका० ४१:१३–२०; ९६:४३–४८; अरण्य० २३:३–१८

२. देखिये 'बृहत्संहिता' अ० [८५]; [६७] ये अध्याय शकुन, अंगस्फुरण आदिसे सम्बद्ध हैं।

और शकुन-विचार कुछ नहीं। तुलसीदासने स्पष्ट इनका विरोध किया है। ठीक वैसा ही जैसा आधुनिक युगमें आर्यसमाजने किया है। वे 'दोहावली' में लिखते हैं—

'कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाइ।'

प्रश्न हो सकता है कि तुलसीदासने 'रामाज्ञा-प्रश्न' लिखकर शकुन-विचारपर आस्था क्यों दिखायी? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यह है कि अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए, शकुन-विचारगत अपनी आस्थाके कारण नहीं। जीवनमें रामचरितके प्रवेश, उसके मनन-चिन्तनको वे कल्याणकारी मानते थे। अतः जनता जिस अच्छे-बुरे प्रकारसे उसका ग्रहण करे, उन्हें ग्रहण कराना था। रामाज्ञा प्रश्न या रामशकुनावली उन्होंने इसीसे रखी कि अन्य शकुनोंकी आस्था त्यागकर जनता रामचरितसे शकुन-विचार करे और साथ ही रामचरितके संसर्गसे अपने जीवनका परिष्कार करे। यही क्यों, उन्होंने 'रामलला-नहछू'में अपने मर्यादावादको भी इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिए थोड़े समयके लिए भुला दिया था—जान बूझकर—यह वैसा ही है जैसे कोई वैद्य किसी अफीमचीको ऐसी दवा दे जिसका अनुपान अफीम ही हो। रोगीका रोग दूर होना चाहिये। जनतामें प्रचलित गीतों-गालियोंके बदले रामचरितके गीत चलें, भले ही उनमें लोगोंके मनमोदके लिए एकाध स्थलपर गाली भी रख दी जाय। 'रामलला-नहछू'में प्रदर्शित शैलीके कारण लोग जो उसे तुलसीदासकी रचना माननेमें हिचकते हैं या यह कहते हैं कि यह उनके यौवनकालकी कृति है उन्हें इस दृष्टिसे भी विचार करना चाहिये।

छोड़िये इन अन्ध-विश्वासोंकी चर्चा, यम-नियमोंकी ओर आइये। ये भी बहुत प्राचीन युगसे प्रचलित हैं[1], यद्यपि जीवनमें इनका ग्रहण और पालन पूर्णतया क्या, आंशिक रूपमें भी नहीं होता। प्राचीन युगमें जीवन-संचालनके लिए कुछ विधान बनाये गये थे। ये साध्यके रूपमें ही थे।

१. देखिये : 'योगदर्शन' २:३०, ३२ 'देवीभागवत' ३५:७

इनकी परिपूर्ण साधना दुरूह थी, पर इन्हें लक्ष्यमें रखकर शरीरयात्रा, मानसोल्लासमें प्रवृत्त होनेकी विधि कर दी गयी थी। आरम्भमें तो इनके पालनकी ओर कठोर दृष्टि रहती थी, पर ज्यों-ज्यों जीवनकी संकुलता बढ़ती गयी, इनके पालन और व्रतका बन्धन शिथिल होता गया। एक प्रकारसे व्यवहारमें ये साधु-सन्तोंके जीवनके अंग हो गये, वास्तविक और अधिकांश जीवनसे इनका विच्छेद बढ़ गया। गोस्वामीजीने इनका जो बार-बार उल्लेख किया है वह शास्त्र और काव्यकी सम्मतिके अतिरिक्त अपने साधु-सन्त-जीवनकी प्रेरणाके कारण भी। 'वैराग्य-सन्दीपनी' भी उन्होंने लिखी है और उसमें उन्होंने इन सबका ही विशेष उल्लेख और आकलन किया है। ये यम-नियम योग-शास्त्रके हैं, पर भारतीय जीवनमें समन्वय-साधना इतने प्राचीन युगसे और ऐसे ढंगसे चली आ रही है कि वाङ्मयके जितने विभेद और रूप हैं, सबमें एक ही ध्वनि सुनाई पडती है—जो स्मृति कहती है वही शरीर-शास्त्र आयुर्वेद कहता है, वही ज्योतिष(फलित)-शास्त्र कहता है, वही साहित्यको भी कहना पड़ता है। 'मनुस्मृति'में लिखा है कि 'आर्द्रपादस्तु भुंजीयात् नार्द्रपादस्तु संविशेत्', पर जब तर्कप्रतिष्ट 'चरक-संहिता'में भी इसीका उल्लेख मिलता है तो विचार करना पड़ता है कि ऐसा क्यों हुआ। भले ही कोई परम्पराकी बातोंको विज्ञानसे सिद्ध करनेवाला यह कहे कि पैरमें लगे कीटाणु (जर्म) मर जाते हैं, भोजनके समय इससे पैर धो लेना चाहिये और पैर धोकर सोनेसे पैरकी उष्णता मस्तिष्कमें पहुँचती है इसलिए पैर धोकर सोना विज्ञान-विहित नहीं है; पर इस विज्ञान-दृष्टिसे कोई धार्मिक ऐसा नहीं करता। मनुष्यसे उसकी भावुकताका लाभ उठाकर बहुतसे काम कराये जाते हैं। प्राचीन युगमें धर्म यही करता था। धर्मका बन्धन स्वीकार कर लेनेसे बहुत-सी अच्छी बातें भी मूढ़ता या भावुकतावश होती चलती थीं। जीवन जैसा है उसे वैसा ही मानकर कोई प्रयोग करना चाहिये। सारी जनता तर्कसे विचार करके सब समय काम नहीं करती। सब समय बुद्धि विचारोन्मुख रहती भी नहीं, इसीसे जीवनमें कुछ बातें अभ्यास या संस्कारके रूपमें समाजवेत्ता कर

दिया करते हैं। जीवनकी विशालतामें, उसकी संकुलतामें सबको इतना अवकाश नहीं रहता, सबमें इतनी क्षमता नहीं होती; और नियमोंका विधान करना पड़ता है सबको लक्ष्य करके। इसीसे जीवनके लिए कार्यका विधान आगमोंमें होता है। उसके साथ ही बहुतसे अकार्य भी लगे रहते हैं। आगमोंने इन अकार्योंको भी मान लिया, उन्हें छेड़ा या उनका खण्डन-मण्डन नहीं किया। गृह्यसूत्रोंमें शास्त्रीय पक्ष देकर लिखा है—'यथा मंगलं वा' अर्थात् यदि किसी कुलमें कोई मूढ़ता प्रचलित हो तो आत्मसन्तोषके लिए उसे भी किया जा सकता है। इस अवसरपर वह कथा ध्यान देने योग्य है जिसमें मूढ़ताके परम्परामें घुस पड़नेका स्वरूप दिखाया गया है। कहा जाता है कि किसी गाँवमें किसीके घर नयी बहू आयी और बिल्लीके दूध पी जानेसे व्यग्र होकर और अपने ऊपर दूध पी जानेका कलंक लगता देखकर उसने बिल्लीको डण्डेसे पीट दिया, वह मर गयी। सास बड़ी क्रुद्ध हुई। बहूने अपनी निर्दोषिता प्रमाणित की और दूसरी बिल्लीको पिंजड़ेमें बन्द कर दिया। गाँवकी स्त्रियोंने, जो बहूको देखने आयी थीं, पिंजड़ेमें बिल्ली बन्द देखी। बस फिर क्या था, उस गाँवमें फिर जिसके यहाँ नयी बहू आयी उसने पिंजड़ेमें बिल्ली बन्द करके वधूके पास रख दी। गाँवमें नियम हो गया कि नयी बहू ब्याहकर आये तो पिंजड़ेमें बिल्ली बन्द करके रखी जाय। अब यदि कोई परिवार ऐसा न करे और संयोगसे उसमें कोई अमंगल हो जाय तो वह यही समझेगा कि बिल्ली पिंजड़ेमें बन्द नहीं की गयी इसीसे ऐसा हुआ। गृह्य सूत्रकारोंने सोचा कि इस झगड़ेमें कौन पड़ने जाय, उन्होंने लिख दिया कि 'यथा मंगलं वा' जैसे परिवार मंगल समझे, करे।

मर्यादावाद

भारतमें ही नहीं, जगत्‌में 'समाज'का निर्माण मर्यादा-बन्धनके लिए किया गया है। समाजने सबल और निर्बल, धनी और निर्धन, पण्डित और मूर्ख सबको मूलतः अधिकारकी दृष्टिसे एक समान माना। फिर

समाज या सबके कल्याणके विचारसे किसी-किसीको विशेषाधिकार या छूट दी। इस प्रकार समाजका सामान्य या साधारण नियम यह हुआ कि लोग अपने लिए बँधी मर्यादाका पालन करें, कोई किसी दूसरेके अधिकारमें दखल न दे। यदि समाजमें ऐसा होने लगे तो समाज सचमुच ही आदर्श हो जाय। रामराज्यकी स्थापना हो जाय। पर ऐसा होता नहीं। अतः समाजको दण्डकी भी व्यवस्था करनी पड़ती है। गोस्वामीजी समाजकी मर्यादा अर्थात् कर्तव्यका अधिक ध्यान रखते हैं। वस्तुतः धर्मका ठीक अर्थ कर्तव्य ही है। उन्होंने इसी धर्मको लक्ष्य करके मर्यादावादके लिए सतत प्रयत्न किया। इसीसे उनके 'मानस'में सर्वतो-भावेन मर्यादाका पालन दिखाई देता है। 'मानस' मजहबकी दृष्टिसे लिखा गया कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। वह 'धर्म'की भावभूमिपर निर्मित साहित्यिक, साथ ही भक्तिका ग्रन्थ है। उसमें मर्यादा —'धर्म'—पालनकी महत्ताके साथ तुलसीदासजीने 'साधुत्व'को सामने न रखकर 'समाज'को ही सामने रखा है। इसीसे उनके यहाँ 'दण्ड' भी मर्यादाका अंग है। सर्वत्र क्षमाका विधान नहीं है। जिनमें दुर्वृत्ति प्रकृतिस्थ है उनको दण्ड और जिनमें दुर्वृत्ति आरोपित है उन्हें क्षमा करना रामकी मर्यादा है। आरोपित दुर्वृत्तिका उल्लेख बाबाजीने रामभक्तोंके प्रसंगमें भी किया है और उनको क्षमा करनेमें रामका पक्षपात झलकता है। भक्तोंके लिए यह विशेष आकर्षक है—

'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।
पुनि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।
सोइ करतूति बिभीषण केरी।
सपनेहु सो न राम हिय हेरी।'

इसके साथ ही यह भी श्रुति मार्ग है—

'जौ सठ दंड करउँ नहिं तोरा। भ्रष्ट होइ स्रुति मारग मोरा।'

तात्पर्य यह कि तुलसीदासका मर्यादावाद एकांगी नहीं है, साम्प्रदायिक

नहीं है। सामाजिक है, लौकिक है। उसमें उचितकी सब प्रकारसे समाई है।

समाजमें स्त्रियोंका स्थान

अब गोस्वामीजीकी नारीगत भावनाकी मीमांसा की जाय। भक्ति-सम्प्रदाय वस्तुतः प्रवृत्ति-मार्गी होते हुए भी निवृत्तिको लक्ष्य करके चलता है। इसीसे भक्ति-सम्प्रदायमें जितने प्रकारकी उपासनाएँ चलीं उनमें शान्तभाव सबमें अनुस्यूत और प्राथमिक माना गया। भक्त समष्टि-रूपसे जगत्को अपने उपास्यका स्वरूप मानता है, पर व्यक्तिगत साधनाके पक्षसे जगत्के कार्योंसे विरक्त भी रहता है। लौकिक व्यवहारमें भक्त व्यक्तिगत रूपसे संलग्न नहीं होता। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि तुलसीदासकी तीन दृष्टियाँ हैं। एक तो वे कवि-रूपमें हमारे सामने आते हैं, दूसरे समाज-संस्कर्ताके रूपमें और तीसरे साधकके रूपमें। कविके रूपमें उन्होंने नारियोंके विभिन्न स्वरूपोंकी कल्पना की और उनका अपने प्रबन्धमें यथास्थान चित्रण किया। नारी-जातिके चरित्रगत वैशिष्ट्यकी दृष्टिसे जो विभिन्न रूप दिखाई देते हैं वह कवि तुलसीदासकी दृष्टि है। समाज-संस्कारकी दृष्टिसे उन्होंने नारीके सम्बन्धमें वह धारणा ग्रहण की जो परम्परासे चली आ रही थी—या यों कहिये कि उस समय जैसी धारणा थी उसे ही मान्य ठहराया। साधककी दृष्टिसे उन्होंने नारीको बहुत ही गर्हित कहा। ऐसा अन्य साधकोंने भी किया है[1]। कबीर आदि सन्तोंने नारीके सम्बन्धमें जैसी उक्तियाँ कही हैं उन्हें कोई भी सभ्यताभिमानी व्यक्ति सुननेतकको प्रस्तुत नहीं हो सकता। तुलसीदासजी मर्यादावादी

१. देखिये भर्तृहरिः 'श्रृंगार शतक' श्लोक ५४, ५५, ५९, ६२, ७६, ८३, ८६, साथ ही 'भागवत' ३, ३१, ३५, 'कबीर ग्रन्थावली'की 'कामी नरका अंग' साखी संख्या १, २, ८, १०, १२, १५, 'दादूदयालकी बानी' भाग १ (१२) 'मायाको अंग' साखी ७२, ७३, १६०, ६२, 'सूरसागर' पृ० ६५, ४०९ भी देखे जा सकते हैं।

थे और यह सोचते थे कि सम्प्रति समाज-संचालनमें नारीके लिए पातिव्रत ही प्रमुख है, इसीपर उन्होंने अधिक जोर दिया है[१]। बड़े दुःखकी बात है कि इतने बड़े महात्माने नारीके लिए कहीं भी उस उक्तिका प्रयोग नहीं किया जो वेदव्यासजीने बहुत पहले कही थी। इसे वे परम्पराके नाते ग्रहण कर सकते थे, पर उन्होंने 'नारीकी पूजा'के बदले उसके अपावनत्व और जड़त्व आदिका ही उल्लेख अधिक किया है[२]। इसका उनके जीवनसे सम्बन्ध हो तो हो सकता है। कहते हैं कि उन्होंने वैराग्यके कारण अपनी पत्नीका त्याग कर दिया था। पत्नीकी ओरका आकर्षण भगवद्-भक्तिसे पराङ्मुख करनेवाला होता है, अतः साधक तुलसीदासके समक्ष रह-रहकर नारीका पतनकारी रूप आता था। रामपरिवारकी महिलाओंका उन्होंने जैसा चित्रण किया है वह नारीगत उनकी भावनाका परिहार नहीं है। भक्ति जिस नारीमें हो और जो उपास्यके परिवारसे सम्बद्ध हो और उनमें भी जो उपास्यके प्रति आनुकूल्य प्रदर्शित करनेवाली हो उसे ही वे उत्कृष्ट कह सकते हैं। वे 'पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई।'-को ही ठीक समझते थे। यद्यपि कैकेयीके पुत्र भरतकी चरम भक्ति राममें थी, पर व्यक्तिगत रूपसे कैकेयीने रामके प्रति जैसा व्यवहार किया उसकी दृष्टिसे वे सुमित्राको कैकेयीसे उत्तर मानते हैं। कैकेयीको उन्होंने 'कुटिल रानि'तक कह दिया है। यद्यपि नारीके सम्बन्धमें तुलसीदासजीने जितनी भी कटु उक्तियाँ कही हैं वे सब पूर्वकी उक्तियोंका अनुगमन करती हैं, उनका उल्थामात्र हैं, तथापि नारीके सम्बन्धमें उनकी अनुभूति और

१. देखिये 'मानस' बा० १०१. ३, अरण्य० ४. ६, ८, ९, १०, १६, १८; उ० १२६. ५।

२. देखिये 'मानस' बा० ५७.; ५२.; अरण्य० ४३. १,८; ४४.; ४६.; किष्कि० २०. ४; अरण्य० १६. ५, ६; ३६. ९; लं० १५. ३; ३६. २; उ० ७०.; अयो० २६. ७; ४६. ८; ४७.; १६०. ४; 'दोहावली' दो० २६२, २६६, २६८, २६९; 'कविता' उ० छ० ११८।

उनकी धारणा अच्छी नहीं थी इसमें कोई सन्देह नहीं[१]। यद्यपि उनके हृदयमें कभी-कभी नारियोंकी समाजगत पराधीनताके कारण कुछ करुणाकी भावना जग जाती थी, तथापि वह भी क्षणस्थायी ही दिखाई देती है—

'कत बिधि सृजी नारि जगमाहीं।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

यह कविकी वह वृत्ति है जो मनुष्यकी मनुष्यके प्रति होती है, पर नारीके प्रति यह पुरुष अथवा महापुरुष सर्वत्र ऐसा ही कारुणिक नहीं है। फिर भी इतना अवश्य कह सकते हैं कि नारीके प्रमदा रूपके प्रति ही उनमें अधिकतर क्षोभ है। नारीके प्रति उनकी इस वृत्तिका कारण उनकी इस उक्तिसे स्पष्ट हो जाता है—

'नारि बिस्व माया प्रगट।'

संसारमें फँसाये रहनेवाली नारी ही है। यदि कोई नारीसे छूट जाय तो वह संसारके बन्धनसे शीघ्र छूट सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, तुलसीदास मध्य मार्गका अवलम्बन करनेवाले हैं। इसीसे उन्होंने नारीके रूपका वैसा वीभत्स उल्लेख या चित्रण नहीं किया जैसा कबीर आदि सन्तोंमें पाया जाता है। नारीको 'ताड़नका अधिकारी' और 'स्वतन्त्रतासे उसके बिगड़ने'की बात उन्होंने सामाजिक दृष्टिसे कही है। महात्मा भीष्मने भी, जिन्होंने नारीका ग्रहण अपने जीवनमें नहीं किया, जिन्होंने नारी-त्याग किया, सामाजिक दृष्टिसे ऐसी ही बात कही है। तुलसीदासके ऐसा कहनेमें परम्परा और व्यक्तित्व ही कारण नहीं है, समय भी कारण है। नारी-जातिके प्रति जैसी धारणा भारतीयोंकी रही है वह अन्य देशों और जातियोंमें नहीं देखी जाती। भारतीयोंने शक्ति-उपासनामें नारी-जातिका

---

१. आदरणीय मिश्रबन्धुओंने भी तुलसीकी नारी-भावनाके सम्बन्धमें इसी प्रकारके विचार व्यक्त किये हैं। देखिये, 'हिन्दी नवरत्न' पंचम संस्करण पृ० १६६–६७

महत्त्व स्वीकार किया है। विदेशोंमें और विजातियोंने व्यवहारके क्षेत्रमें नारीजातिका वैसा सम्मान अतीतमें कभी नहीं किया है। 'एवरी वुमन इज रेप ऐट हार्ट' भारतमें मान्य नहीं रहा। यह दूसरी बात है कि नारी-की कामातुरताका स्वीकार यहाँ भी किया गया हो और यदि इन दोनों-की एकवाक्यता मानी भी जाय तो यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतने गौर-कृष्ण दोनों पक्षोंको सामने रखा था और गौर-पक्षपर ध्यान भी अधिक दिया है। तुलसीदासजीकी नारी-कल्पना अनुसन्धानका स्वतन्त्र विषय होनेकी क्षमता रखती है अतः उसके सम्बन्धमें अकाण्ड प्रयत्न न करके निष्कर्षरूपमें कहना इतना है कि गोस्वामीजीमें नारीके प्रति जैसी धारणा मिलती है उसके हेतुका तो पता चल जाता है, पर उसका पूर्ण समर्थन भारतीय दृष्टिसे भी सम्भाव्य नहीं है।

तृतीय परिच्छेद

तुलसीकी धर्म-भावना

धर्म और भक्तिका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। गोस्वामीजी इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको दूसरेका पूरक मानते हैं। उनकी दृष्टिमें भक्ति और धर्ममें अंगांगि-भाव सम्बन्ध है। किसी अंगके रुग्ण होनेपर जैसे समस्त शरीरकी विकलता कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार धर्मके किसी आडम्बर या अनाचारसे ग्रस्त हो जानेपर भक्तिका विकृत हो जाना भी अनिवार्य है। भक्तिका विमल और यथार्थ प्रकाश प्रस्फुटित हो और उससे विश्वका अभ्युदय होता रहे, इसके लिए नितान्त आवश्यक है कि साधककी उपासना किसी प्रकारके अनाचारसे पंकिल और रहस्यसे आवृत न हो। गोस्वामीजी यह बात भली भाँति जानते थे, इसीसे इन्होंने इनको रामोपासनामें रंचमात्र भी स्थान नहीं दिया, प्रत्युत इन्हें मिटानेका प्रयास किया है।

धर्म-भावनामें आडम्बरका बहिष्कार

आडम्बरका सम्भाव्य स्वरूप क्या है। बाहरी प्रदर्शनके द्वारा वास्तविकताको तिरोहित करके अल्प सत्य अथवा सत्याभासको महत्ता देना आडम्बर या ढोंग कहा जा सकता है। जिस क्रियाके बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूपमें एकरूपताका अभाव हो वही आडम्बरयुक्त कही जायगी। किसी प्रकारके छल, छद्म, कपट, धूर्तता आदिसे युक्त क्रिया ही नहीं, व्यवहार, नीति, वेश आदि भी आडम्बरके अन्तर्गत आते हैं। सत्य सर्वदा एक और सार्वभौम होता है, जब कि आडम्बर क्षण-क्षणमें बदलनेवाला और अनेक होता है।

विशद वेश बनाने और वाणीमें अमृत घोलनेसे भी यदि मनकी विश-

दता न आयी और उसके परिणाम-स्वरूप मलिन कर्मोंका ही सम्पादन होता रहा तो यह आडम्बर हुआ। गोस्वामीजी ऐसे आडम्बरी कर्ताको उपासनाके अयोग्य घोषित करते हैं[१]। जो आडम्बर-प्रेमी साधना या धर्मकी प्रतिष्ठा केवल बाह्य वेश और वाणीके आधारपर करना चाहता है, उसके लिए यह कैसी उत्तम चेतावनी दी गयी है—

'बचन बेष तैं जो बनै, सो बिगरै परिनाम।
तुलसी मन ते जो बनै, बनी बनायी राम[२]'।

वस्तुतः शुचि मनवाला साधक ही आडम्बर-रहित होगा। वह सत्य वचनका उच्चारण करेगा, रामभक्त कहलानेका अधिकारी होगा और उसे स्वयं कलिकाल न छल सकेगा[३]। इसके विपरीत केवल बाह्य वेश रचनेवाला आडम्बरी होनेके कारण निन्द्य है। उदर-भरणके लिए गृहत्यागी बनकर साधनामें प्रवृत्त होनेवाला धिक्कारने योग्य है—'मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह[४]।'

आडम्बर-कारियोंका मायावी सुन्दर वेश बड़ा ही भयावह होता है, अतएव गोस्वामीजी सावधान करते हैं—

'हृदय कपट बर बेष धरि बचन कहैं गढ़ि छोलि।
अबके लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिये मन खोलि[५]।'

विषधर ऐसे भयंकर जीवको भी पचा जानेवाले मयूरके समान मिष्ठभाषी आडम्बर-प्रेमी हेय दृष्टिसे देखने योग्य हैं[६]। ऐसे नाममात्रके सज्जन-वेशधारी पाखण्डीका संग त्याज्य है[७]। तुलसीदासजी ऐसे ढोंगियोंको चिताते भी हैं कि किसी न किसी दिन तुम्हारे ढोंगका भण्डाफोड़ हो ही

१. 'दोहावली' दो० १५३
२. वही, दो० १५४
३. 'दोहावली' दो० ८७
४. वही, दो० ६३
५. वही, दो० ३३२
६. वही, दो० ३३१, ३३३
७. वही, दो० ४०९

जायगा, अतएव अच्छा है कि पहले ही उसे त्याग दो[1]। झूठे आडम्बरमें दत्तचित प्राणी कभी कीर्ति, विजय या विभूति नहीं प्राप्त कर सकता[2]। जिस धर्म या उपासनामें आडम्बरको आश्रय दिया जाता है उसके अनुयायीको वास्तविक सुख क्योंकर मिल सकता है—

'बचन बिचार अचार तन मन करतब छल छूति।
तुलसी क्यों सुख पाइये अन्तरजामिहिं धूति[3]।'

फिर, यह कैसे सम्भव हो सकता था कि ऐसे दुष्ट फलदायक और अपकीर्ति-विधायक आडम्बरको गोस्वामीजी अपने लोककल्याणकारी धर्ममें समाविष्ट होने देते? उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें सभी प्रकारके आडम्बरोंकी भर्त्सना की है और सर्वथा उससे अपनी उपासनाको अछूता रखनेका संकेत किया है[4] तथा डंकेकी चोट कहा है कि मनकी निर्मलताके विना भगवत्प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती[5], अस्तु।

भूत-प्रेत-पूजाका बहिष्कार

जैसे आडम्बर हमारे कविकी धर्मभावना या उपासनामें पूर्ण रूपसे बहिष्कृत किया गया है वैसे ही भूत-प्रेतका पूजन भी। भूत-प्रेतकी पूजाको तुलसीने उपासनाकी अधम कोटिमें रखा है। बात यह है कि उनके सदृश सात्त्विक श्रद्धावान् व्यक्तिके मनमें तामसी श्रद्धाके आलम्बन भूत-प्रेतके प्रति पूज्यताकी भावना कैसे टिक सकती थी। तामसी श्रद्धावालोंका जीवन मूढ़ता या जड़ताके घोर अन्धकारमें पड़ा रहता है। मनुष्यकी जैसी मति होती है वैसी ही गति भी। भूत-प्रेत-पूजकोंकी पूजा भयमूलक होती है और उसमें नाना प्रकारके अनाचार भी प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी उपासना किस प्रकार शुभगतिदायिनी हो सकती है। ऐसे पूजक या

---

१. { वही, दो० ४१०
   { कविता० उ० छ० ३२

२. 'दोहावली' दो० ४१२ ३. वही. दो० ४११

४. 'कविता०' उ० छ० ११९ ५. 'मानस' सुन्दर० ४३.५

साधक लोक-कल्याणके घातक होते हैं, उनकी उपासनामें मारण, मोहन, उच्चाटन प्रभृति नृशंस कर्मोंके अतिरिक्त रहता ही क्या है? प्रेतोंके उपासकका आचरण भी प्रेतवत् हो जाता है। इन्हीं कारणोंसे गोस्वामीजीने तामसी प्रेतोपासनासे धर्मको पंकिल नहीं होने दिया। ऐसी उपासना घोर पाप या अधर्मकी श्रेणीमें परिगणनीय है, एतदर्थ उसमें लगे हुए साधकोंकी वे बड़ी कड़ी भर्त्सना करते दिखाई पड़ते हैं। देखिये—

'तुलसी परिहरि हरि-हरहिं पाँवर पूजहिं भूत।
अन्त फजीहत होहिंगे गनिकाकेसे पूत[1]।'

भूत-पूजाकी अधोगतिसे बचानेके लिए वे ओझा-वर्गको सचेत करनेमें भी नहीं पिछड़े हैं—

'तुलसी रामहिं परिहरे, निपट हानि सुनु ओझ।
सुरसरि उर गत सोइ सलिल, सुरा सरिस गंगोझ[2]।'

प्रेत-पूजकोंकी निंदा तुलसीने स्वेच्छासे ही नहीं की है, शास्त्रोंके प्रमाणसे भी प्रेत-पूजा हेय है। 'गीता'में कहा गया है—

'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्[3]।'

रहस्यवादका बहिष्कार

गोस्वामीजीकी रचनाओंमें धर्मको रहस्यवादके दलदलसे पृथक् रखनेका प्रयास भी है। इसके लिए प्रमाण प्रस्तुत करनेके पूर्व रहस्यवादका सामान्य अर्थ भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। यों तो रहस्यवाद एक पूर्ण और स्वतन्त्रतासे आलोचनीय भावमूलक बुद्धिवाद है, पर स्थूल रूपमें रहस्यवाद उपास्य और उपासनाके गुप्त रहने और गोपन करनेकी प्रवृत्तिका ही व्यञ्जक है। कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जो अपनी

१. 'दोहावली' दो० ६५, 'मानस' अयो० दो० १६६ भी देखिये।
२. वही, दो० ६८.
३. 'गीता' ९:२५

उपासना गुप्त रीतिसे करते हैं, उसका कोई गूढ़ रहस्य माननेके कारण अपने दलके अतिरिक्त और किसीको अपनी उपासना-विधि बताते ही नहीं। कहा नहीं जा सकता कि ये अपने अनाचारोंको छिपानेके लिए यह आवरण डाले रहते हैं अथवा वस्तुतः इनकी इस प्रवृत्तिका कोई तात्त्विक प्रयोजन भी है। जो कुछ भी हो इतना तो निर्विवाद है कि ऐसे उपासक गुप्त रीतिसे अपने गुप्त विधि-विधानोंके अनुसार उपासना करते हैं।

गोस्वामीजीके धर्ममें ऐसी कोई दुराव व छिपावकी बात नहीं। यहाँ तो राम-भक्तिका राजमार्ग सभीके लिए खुला हुआ है। उसमें प्रवेश करनेके लिए एकमात्र सात्त्विक आचारकी अपेक्षा है—

'सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति[1]।'

यह धर्म 'चक्र'के भीतर पहेली बनकर रहनेवाला न होकर सारे संसारके लिए अन्न-जलकी भाँति सुलभ है—

'निगम अगम साहब सुभग राम साँचिली चाह।
अम्बु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह[2]।'

साहित्यिक और साम्प्रदायिक रूढ़िके अनुसार रहस्यवादी साधक भावावेशकी दशामें अपने अन्तःकरणके भीतर प्रियतम भगवान् या ब्रह्मके साक्षात्कारका बोध करता है। इस मिलनके बाद विरहकी दशामें साधकके प्रलापके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। ऐसे रहस्यवादी साधकका धर्म हृदयके संकुचित कोनेमें उस ज्योतिको ढूँढ़नेके सिवाय होता ही क्या है? तुलसीमें ऐसा रहस्यवाद भी नहीं। उनकी दृष्टिमें राम केवल हृदयमें ढूँढ़े जानेवाले नहीं हैं। वे तो सारे संसारके विस्तारमें हैं, प्रेमसे जहाँ भी उनका स्मरण किा जाय वहीं प्रकट हो जाते हैं—

'अंतरजामिहुँ तें बड़ बाहर जामि हैं राम, जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तें।

१. 'दोहावली' दो० १५२ २. वही, दो० ८०

आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें"[१] ॥

रामका जो स्वरूप गोस्वामीजीने दिखाया है वह ऐसा नहीं है जो हमारे हृदयमें जगमगाती हुई ज्योतिकी भाँति अकस्मात् कौंधकर अन्तर्धान हो जाय, प्रत्युत वह ऐसा स्वरूप है जो अमित सौन्दर्य, अपरिमेय शक्ति और उदार शील आदिके द्वारा अपनी पारमार्थिक सत्ताका परिचय देते हुए साक्षात् धनुष्-बाण धारण किये हमारी आँखोंके सामने सर्वत्र दिखाई पड़ता है। ऐसी सगुणोपासनामें रहस्यवाद कैसा ?

गोस्वामीजीमें उक्त प्रयास अर्थात् धर्मको आडम्बर, भूत-प्रेत पूजा और रहस्यवादसे अलग रखनेकी प्रवृत्ति किस मात्रातक बढ़ी हुई थी तथा उसका भारतीय समाजपर क्या प्रभाव पड़ा, इसे ग्रियर्सन साहबके मुँहसे सुनिये—

'तुलसीकी धर्म-भावनाको अपनानेका जो कुछ प्रत्यक्ष परिणाम हुआ वह उत्तरी भारतके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कविके जीवन-कालमें भारतकी सामान्य जनताके लिए यथेष्ट अनुसरणीय दो ही धर्म-मार्ग खुले थे। एक तो स्थूल बहुदेववादपर आश्रित ग्रामीण देवी-देवताकी पूजा-पद्धति और दूसरे कृष्ण-सम्प्रदाय। इनमें प्रथम इस समय भी वर्तमान है, पर उसपर गोस्वामीजीके नवप्रवर्तित भक्ति-मार्गका पूरा अनुशासन है और वह बहुत कुछ संयत होकर विलीन हो गया है। कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायका अशिक्षित जनतापर क्या प्रभाव पड़ता है इसका प्रत्यक्ष रूप बंगालकी धार्मिक भावनाने उपस्थित कर दिया है। वह अनिवार्य रूपसे कामोपासनाका रूप धारण कर लेती है और उसके धार्मिक ग्रन्थोंमें गोपी-कृष्णकी अत्यन्त उन्मादिनी और विकारकारिणी प्रेम-लीलाओंकी भरमार हो जाती है। और सब तो लुप्त हो गया ,केवल शाक्तमतके अत्यन्त भयानक तथा वर्णनातीत अनाचारोंका प्राधान्य हो चला। इस विपत्तिसे तुलसीदासजीने उत्तरी भारतकी रक्षा कर ली'[२]।

---

१. 'कविता०' उ० छ० १२९

२. 'जर्नल आव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' १९०३ पृ० ४२९

नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर धर्मकी स्थापना

अपने धर्म रसायनकी योजनामें गोस्वामीजीने नैतिक, भाविक और बौद्धिक तत्त्वोंका जो प्रशंसनीय और अनूठा अनुपात स्थिर किया है उसका विश्लेषण भी कर लेना चाहिये। ऐसा करनेके लिए पहले इन विविध तत्त्वोंकी विशेषताओंका स्पष्टीकरण आवश्यक है। नैतिकका सम्बन्ध हमारे उन सभी कार्योंसे है जो परस्पर व्यवहारके लिए आवश्यक है जो माता-पिता, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र, पड़ोसी, स्वग्रामवासी, स्वप्रान्तवासी, स्वदेशवासी, राजा-प्रजा, ग्राहक, दुकानदार आदिके बीच चलता है। इस क्षेत्रकी व्यापकतापर ध्यान देते हुए कहा जा सकता है कि इसके विलुप्त होनेपर समाजका स्वरूप ही नहीं रह सकता। वह विशृंखल होकर तुरन्त विनाशोन्मुख होने लगेगा। नीतिके अभावमें कोई भी अनाचार अकरणीय नहीं कहा जा सकता। अतः इसके अभावमें, व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपोंमें समाजका घोर पतन अवश्यम्भावी है।

भाविक तत्त्वकी प्रधानता हमारे उन सभी कृत्योंमें रहती है जिनमें हमारी अन्तर्वृत्तियोंको भी खुल-खेलनेका अवसर मिलता है। इसमें हमारे कार्य केवल नीतिके कठोर पाशसे ही नियन्त्रित नहीं रहते, अपितु उनमें हृदयकी कोमल और उदात्त वृत्तियोंका सहयोग भी वर्तमान रहता है। यथा, शासकका कर लेकर बदलेमें शासितके लिए कुछ करना तो नीति है, पर कर देनेवालोंसे आत्मीयता और प्रेम भी रहे यह धर्मका भाविक पक्ष है। अमुक कर्तव्य भाई-भाईके बीच अनिवार्य है यह नीति है, पर भाई भाईके लिए सर्वस्व त्यागकर अनन्य प्रेमी रहे, यह भाविक तत्त्वका फल है। हृदय-विदारक स्थितिमें देखकर किसी अपरिचितके प्रति करुणा, दया आदि भावोंके वशवर्ती हो जो कृत्य हम करते हैं वे भाविक पक्षकी कोटिमें आयेंगे। इस पक्षके फलकी ओर दृष्टि डालनेपर कहा जा सकता है कि यह समाजको निस्सत्त्वता और निर्जीवतासे बचाकर महाप्राण बनाता है।

इष्टानिष्ट परिणामकी ओर दृष्टि रखकर साधक-बाधक तर्क-वितर्कोंका मंथन करके जो कार्य किया जाता है, वह बौद्धिककी कोटिमें आता है। बौद्धिक कृत्योंके तीन रूप दिखाई पड़ते हैं—बुद्धि-ग्राह्य (रैशनल) अर्थात् जिनका तर्कसे समर्थन हो जाता है; अबुद्धि-ग्राह्य (इर्रैशनल) जो तर्ककी पहुँचके बाहर है और अन्तिम बुद्धि-विपरीत (एण्टी-रैशनल) जो पूर्ण रूपसे तर्क-विरुद्ध और असंगत है। बौद्धिक तत्त्वका परिणाम देखते हुए कहा जा सकता है कि यह समाजको व्यवहार-कुशलताकी ओर ले जानेवाला है। व्यक्तिगत उन्नतिको दृष्टिमें रखकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि स्वार्थ-साधनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

अब हम कह सकते हैं कि जो धर्म नैतिक, भाविक और बौद्धिक तीनों आधारपर अधिष्ठित रहता है वह लोकार्थ, स्वार्थ और परार्थ तीनोंका समन्वयकारी, अतएव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंका सम्पादक है। ऐसे ही धर्म में—

'करब साधु मत लोक मत नृप नय निगम निचोर[१]।'

की भावनाएँ सन्निविष्ट रहती हैं। कहना न होगा कि 'साधुमत', 'लोकमत' तथा 'नृपनय' आदि हमारे भाविक, बौद्धिक और नैतिक पक्षके ही व्यंजक हैं। गोस्वामीजीने जिस धर्मकी प्रतिष्ठा की है उसके आचरणमें रामसे बढ़कर पारंगत अन्य कोई नहीं—

'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ[२]।'

नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर अधिष्ठित धर्म श्री रामके चरित्र द्वारा किस प्रकार कार्यान्वित हुआ है, इसके स्पष्टीकरणके लिए रामकी यह उक्ति देखिये—

१. 'मानस' अयो० २५७.
२. वही, अयो० २५२.५

'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी[1]।'

वानरराजके इस आचरणपर क्रोध आना अस्वाभाविक नहीं। अतः राम उत्तेजित होकर कहते हैं—

'जेहि सायक मारा मैं बाली।
तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली[2]।'

ऐसा रोष नीति-विरुद्ध नहीं है। सुग्रीव अपनी शर्तसे पराङ्मुख हो रहा था, एतदर्थ उसे दण्ड देना ठीक था, इसीसे नीति-निपुण लक्ष्मणने तुरन्त—'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना।' परन्तु नहीं, तुलसीको नीतिके सामने भाविकताका दमन अभीष्ट न था। सुग्रीव सखा हो चुका है, उसको प्राण-दण्ड नहीं दिया जा सकता, अतएव रामको कहना पड़ा—

'भय दिखाय लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

इस 'भय दिखाय लै आवहु'में बौद्धिक तत्त्वका प्राधान्य है। ऐसा करनेसे स्वार्थ-सिद्धि भी हो जायगी। इस प्रकार उक्त प्रसंगमें रामने तीनों तत्त्वोंके सम्मेलन द्वारा अपने धर्मका निर्वाह किया है।

दूसरा प्रसंग लीजिये। भाविकताके प्रवाहमें पड़कर सारी अयोध्यापुरी भरतके साथ चित्रकूट पहुँच गयी, परन्तु वहाँ पहुँचकर नैतिक और बौद्धिक जागर्तिके कारण लोग शान्तसे हो गये। जिस सभामें जनक, वशिष्ठ, भरत आदि जैसे धर्म-प्रवर विद्यमान थे, उसमें उनके सामने किसीको अपनी सम्मति देनेकी प्रगल्भता नीतिके विरुद्ध होती, इसीसे लोग इन्हीं महापुरुषोंका मुँह ताकते रहे। अन्तमें गुरु, जनक आदि भी भावुकताके वशवर्ती होकर भरतकी पूरी बड़ाई करनेमें असमर्थ होने लगे, रामका हृदय भी तरलित हो उठा और उन्हें—'भरत कहहिं सोइ किये

---

१. वही, किष्कि० १७.४ २. वही, किष्कि० १७.५

भलाई[1]' कहकर स्तब्ध होना पड़ा। यह साधारण भावुकता नहीं थी, बुद्धि कहती थी—'राखेउ राव सत्य मोहिं त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी[2]। ऐसे पिताका वचन टालना कितना भारी अनौचित्य होता, किन्तु नहीं, द्रवित हृदयने उन्हें ये वचन कहनेके लिए विवश किया—

'मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज[3]।'

रामकी ऐसी अप्रतिम भावुकताने भरतपर अमित प्रभाव डाला, उससे उन्हें पूर्ण सन्तोष हो गया और अपने कर्तव्य-निर्णयके लिए उन्हें नैतिक पक्षकी ओर झुकना पड़ा—

'प्रभु पद सपथ कहउँ सति भाऊ।
जग मंगल हित एक उपाऊ[4]॥'
'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करहि सबु, मिटिहि अनट अवरेब[5]॥'

सेवकके लिए स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करनेसे बढ़कर दूसरी नीति नहीं। फलतः भरतने यही ठीक समझा कि प्रभुकी आज्ञा माननेमें ही सर्व-कल्याण निहित है। एतदर्थ रामकी आज्ञा और उनके बताये हुए राजनीति-तत्त्वको समझ लेने पर वे प्रजा-पालनके लिए अयोध्या प्रत्यागमनके हेतु तत्पर हुए। उस समय उनके भाविक और बौद्धिक पक्ष फिर सजग होकर कुछ स्थूल आधार ढूँढ़ने लगे। रामने—

'बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती।
बिनु अधार मन तोष न साँती[6]।'

फिर तो प्रभुको कृपा करनी ही पड़ी—

'प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।
सादर भरत सीस धरि लीन्ही[7]।'

१. 'मानस' अयो० २५७. ८
२. वही, अयो० २६२. ६
३. वही, अयो० २६३.
४. वही, अयो० २६७. ८
५. वही, अयो० २६८.
६. 'मानस' अयो० ३१४.२
७. वही, अयो० ३१४.४

नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर धर्मका जो हृदयंगम होनेवाला स्वरूप ऊपरके प्रसंगसे अवगत होता है उसकी उपयोगिता, समीचीनता और ग्राह्यता किसे अप्रिय होग ?

प्रस्तुत प्रसंगकी समाप्तिके पहले एक बात और कहनी है। गोस्वामीजीने धर्मके इस त्रिविध तत्त्वका निष्कर्ष उपदेशात्मक शब्दों या लोकोक्तियों द्वारा उतना व्यक्त नहीं किया है जितना प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण द्वारा। इस विशेषतापर मैक्फी साहब भी परम मुग्ध हैं—'इस काव्यकी नैतिक शिक्षा शब्दों या कहावतोंमें उस प्रकार नहीं व्यक्त हुई है जिस प्रकार स्त्री-पुरुष पात्रोंके यथार्थ चित्रणमें। राम और सीता, भरत और लक्ष्मणने अपने विश्वासमूलक धर्मके प्रभावोत्पादक पालनसे, अपनी सत्य-निष्ठासे, अपने पवित्र और शुचि सदाचारसे और दाक्षिण्यसे, भारतके समक्ष बड़े ही उच्च आदर्श उपस्थित किये हैं[1]।'

धर्मकी व्यापकता और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार

तुलसीने जिस व्यापक धर्मका निर्देश किया वह उनका कोई व्यक्तिगत प्रवर्तित नया धर्म न था। वह प्राचीन भारतका सनातन धर्म ही है जो मनुष्यमात्रके लिए सामान्य धर्मके नामसे अनादिकालसे चला आ रहा है। प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें इस व्यापक धर्मकी महत्ता, उसके लक्षण और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार जिस रूपमें अवगत होता है, पहले उसका सिंहावलोकन कर लेना अनुचित न होगा। धर्मकी महिमा 'तैत्तिरीयारण्यक'-में इस प्रकार बतायी गयी है—'विश्वकी प्रतिष्ठा धर्मसे होती है, धर्मशीलके पास लोग जाते हैं, धर्मसे पापोच्छेद होता है, धर्मपर ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, धर्म ही परम पुरुषार्थ है[2]।' इधर मनुने धर्मकी महिमाके सम्बन्धमें कहा है—'मृत शरीरको काठ और ढेलेकी तरह धरतीपर छोड़कर बान्धव-गण मुँह फेरकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उस समय पीछे-पीछे जाता

१. 'रामायन आव् तुलसीदास' पृ० १८५

२. 'तैत्तिरीय०' १०:६३

है[1]। यही नहीं, परलोकमें जहाँ हमारा कोई कुटुम्बी सहायता नहीं कर सकता वहाँ धर्म ही हमारे सामने महान् हितूके रूपमें खड़ा रहता है[2]। परम धर्मज्ञ भीष्म पितामहने 'महाभारत'में कुण्डधार और निर्धन ब्राह्मणके उपाख्यान द्वारा युधिष्ठिरको धर्मकी जो महिमा सुनायी है वह इस बातका प्रमाण है कि धर्मकी समता 'काम' और 'अर्थ' कदापि नहीं कर सकते। देखिये—

'देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः[3]॥

अब धर्मके व्यापक लक्षणोंकी ओर आइये। 'महाभारत'में कहा गया है—

'प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यःस्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः[4]॥'

अवतरणसे स्पष्ट है कि धर्म प्राणिमात्रकी उत्पत्तिका कारण है, उसमें धारण किये जाने और धारण करनेकी क्षमता है और वह अहिंसाका रूपान्तर है।

कणाद ऋषि प्रयोजन-सिद्धिके विचारसे कहते हैं—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः[5]।'

अर्थात् जिससे लोक-परलोक दोनों बनें वह धर्म है। मनुने इस व्यापक धर्मके दस लक्षण निर्धारित किये हैं—

---

१. 'मनु०' ४ : २४१

२. 'मनु०' ४ : २३९.

३. 'महाभारत' शान्ति० २७० : ५५

४. 'महाभारत' राज० १०९ : १० : १२

५. 'वैशैषिक सूत्र' "२"

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्[1] ॥'

धर्मके इन दस अंगोंके आचरणका अधिकार सभी वर्णोंको दिया गया है और धर्मके संक्षिप्त रूपका वर्णन भी यों मिलता है—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः[2] ।'

कहना नहीं होगा कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह ये सामान्य धर्म हैं और इनपर मनुष्यमात्रका अधिकार है।

महर्षि याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें सर्व प्राणियोंका सामान्य धर्म यह है—

'दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्[3] ।'

सामान्य धर्मके अंग-भूत जिन सार्ववर्णिक गुणोंका संकेत 'महाभारत'में मिलता है वे ये हैं—अक्रोध, सत्य, संविभाग, क्षमा, दया, स्वपत्नीव्रत, पवित्रता, आर्जव और स्वभृत्य-भरण आदि[4] ।

'भागवत'में स्वयं भगवान्‌के द्वारा बताये गये सनातन धर्मके ये लक्षण, जिनके सम्पादनसे सभी वर्ण और आश्रमके लोग परम ज्ञान और भक्ति प्राप्त करते हैं, धर्मराजके पूछनेपर नारदजीने बतलाये हैं—

'सत्यं[1] दया[2] तपः[3] शौचं[4] तितिक्षेक्षा[5] शमो[6] दमः[7]
अहिंसा[8] ब्रह्मचर्यं च[9] त्यागः[10] स्वाध्याय[11] आर्जवम्[12] ।
संतोषः[13] समदृक्सेवा[14] ग्राम्येहोपरमः[15] शनैः
नृणां विपर्ययेहेक्षा[16] [17]मौनमात्मविमर्शनम्[18] ।
अन्नाद्यादेः[19] संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः
तेष्वात्मदेवता[20]बुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव।

---

१. 'मनु०' ६ : ९२

२. 'मनु०' १०:६३

३. 'याज्ञ० स्मृ०' १:१२२

४. दे० 'महाभारत' शा० ६०:१.

श्रवणं[२२] कीर्तनं[२३] चास्य स्मरणं[२४] महतां गतेः
[२५]सेवेज्या[२६]वन[२७]तिर्दास्यं[२८] सख्य[२९]मात्मसमर्पणम्[३०] ।'

'भागवत' ७:११:८—११

इन तीस गुणोंसे युक्त धर्मको नारदजी सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपयोगी व्यापक धर्म कहते हैं और इसीके आचरण द्वारा मनुष्य भगवत्कृपाका अधिकारी बनता है[१], अस्तु ।

प्राचीन शास्त्रोंके आधारपर जो संक्षिप्त विवेचन अभीतक किया गया उससे व्यापक धर्मका स्वरूप, उसकी महिमा तथा उसपर सर्वसामान्य-के अधिकारका निर्देश मिल जाता है । अब इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीके जो विचार हैं उनका निरूपण भी हो जाना चाहिये । पहले उनके धर्म-महिमा सम्बन्धी विचारोंको लीजिये । वे धर्मको गले पड़ी वस्तु समझने-वालोंमें नहीं । उनके मतमें धर्म दिव्य और अलौकिक वस्तु है, उसके पालनमें घोरातिघोर यातनाओंको सहकर भी उससे विचलित न होना ही परम कर्तव्य है—

'सहि कुबोल साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान ।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गये सुजान[२] ॥'

धर्मकी वेदीपर अपना सर्वस्व उत्सर्ग करनेवाले महापुरुषोंके दृष्टान्तोंमें गोस्वामीजीने अपनी अपार आस्था दिखायी है—

'सिवि दधीचि हरिचंद नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ।
रंतिदेव बलिभूप सुजाना । धरम धरेउ सहि संकट नाना[३] ॥'

इन दृष्टान्तोंके अतिरिक्त, एकसे एक बढ़कर धर्म-प्रतीक महात्माओंके दर्शन 'मानस'में होते हैं । 'धर्म धुरीन भानु कुल भानू' राम, 'धर्म-धुरन्धर' भरत तथा महान् धर्मज्ञ दशरथसे बढ़कर धर्मव्रती कौन होगा ? गोस्वामी-

---

१. 'भागवत' ७:११:१२.

२. दोहावली दो० ४६६

३. 'मानस'अयो० ९४. ३, ४

जीने इन पात्रोंके चरित्र द्वारा व्यक्त कर दिया है कि किस प्रकार धर्म-व्रतियोंका सर्वोत्सर्ग होता है—धर्मके लिए।

गोस्वामीजीका दृढ़ विश्वास है कि सांसारिक सुख सम्पत्ति-धर्मशीलके पीछे-पीछे स्वयं दौड़ती हैं—

'जिमि सरिता सागर पहँ जाहीं, जद्यपि ताहि कामना नाहीं'।
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए, धरम सील पहँ जाहिं सुभाए[1]॥'

परम पुरुषार्थ मोक्षका प्रथम सोपान भी धर्म ही है—

'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना, ग्यान मोक्ष प्रद वेद बखाना[2]।'

धर्मकी महिमा और उसकी अलौकिकतामें बाबाजी कैसी प्रबल आस्था रखते थे, इसके लिए कोई प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं, 'मानस'के पृष्ठ-पृष्ठपर इसका संकेत मिलता है। ग्रन्थमें चारों ओरसे धर्मकी प्रशंसा और अधर्मकी निन्दा सुनाई पड़ती है। इससे निष्कर्षरूपमें हम यही कह सकते हैं कि धर्म-महिमाके विषयमें तुलसीके वैसे ही विचार हैं जैसे हमारे प्राचीन धर्माचार्योंके।

अब रहा उनके व्यापक अर्थात् सामान्य धर्मकी भावनाके स्वरूपका निर्देश। पहले, रामके श्रीमुख द्वारा कहे गये गोस्वामीजीके उस 'धर्मरथ'[3]-को देखिये जो 'महा अजय संसार रिपु'पर भी पूर्ण विजय दिलानेकी सामर्थ्य रखता है। उस 'धर्मरथ'के अवयव हैं—शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, ईशभक्ति, विरति, सन्तोष, दान, बुद्धि, श्रेष्ठ ज्ञान, अचल पवित्र मन, सम, यम, नियम, विप्र-गुरु-पूजन आदि। इन विविध अवयवोंको देखते हुए कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता न होगी कि ये सब उसी व्यापक धर्मके अवयव हैं जो सामान्य धर्म कहा गया है। मनुष्यमात्र इन गुणोंको ग्रहण करनेका अधिकारी है। पहले संकेत किया जा चुका है कि प्राचीन धर्मशास्त्रोंमें भी

१. वही, बा० २९३. २, ३ २. वही. अरण्य० १५. १
३. 'मानस' लं० ७९. ५—११

प्रायः इन्हीं गुणोंको सार्ववर्णिक माना गया है। हमारे कविने स्वयं या कहीं नहीं कहा है कि अमुक वर्ण या आश्रमका ही प्राणी इन्हें अपनाये किन्तु जहाँ कहीं इन गुणोंका उल्लेख हुआ है वहीं इनके साथ ही इनक आचरण करनेवालोंकी बिना किसी भेद-भावके प्रशंसा की गयी है औ उक्त गुणोंके विरोधी दुर्गुणोंको व्यापक अधर्म कहकर उनकी तथा उनवे सेवियोंकी अधर्मी कहकर कड़ी निन्दा भी की गयी है।

व्यापक धर्मके कुछ विशिष्ट अवयवोंकी गोस्वामीजीने जो निष्पक्ष स्तुति की है उसमेंसे कुछके दो-एक उदाहरण लीजिये—

'सत्य मूल सब सुकृत सहाये। बेद पुरान विदित मुनि गाये'[1]।

× × ×

'धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना'[2]॥

सत्यव्रती दशरथ एवं सत्यसन्ध रामके चरित्र द्वारा भी सत्यकी अपूव प्रतिष्ठा हो जाती है।

उन्होंने अपने इष्टदेव रामको 'शील-सागर' बनाकर उसी बहाने 'शील'की बड़ी महिमा दिखायी है और हमारे लिए शील-प्राप्तिका साधन यों इंगित किया है—

'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई[3]।'

विरति, विवेक, वैराग्य आदिके विषयमें कहते हुए स्थल-स्थलप उन्होंने इनकी महिमा बड़े ही मार्मिक एवं जोरदार शब्दोंमें व्यक्त की है[4]

---

१. वही, अयो० २७. ६ २. वही, अयो० ९४. ५

३. 'मानस' उ० ८९ ६

४. दे० वही उ० ४३.१; ७०.६; ३७.२; ३८; ४०.७; अरण्० १४ ८; १५.७; अयो० ३१२.८; १४८.५ ७; 'विनय०' पद ७३, १२७, ११८, ८८, ५९, ८१, ८२, १२३, ११७ ११९, १२०, १२१, १३६, १९८, १९९, २००; 'वैराग्य-सन्दीपिनी' दो० २७, २८, ४४, ५१

अविचल पवित्र मन भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अवयव है। मनकी चञ्चलता वर्णनातीत है। इस अजेय शत्रुकी चालसे क्या उत्कृष्ट विद्वान्, क्या नितान्त मूढ़, सभी आक्रान्त रहते हैं; इसकी चञ्चलता मनुष्यसे क्या नहीं करा सकती। अतएव मानवमात्रका कर्तव्य है कि इसे स्थिर करके पवित्र बनाये। निस्सन्देह यह 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्'[1] है, उसका निग्रह दुष्कर है, तथापि अभ्यास और वैराग्यके सहारे यह वशमें किया जा सकता है[2]। गोस्वामीजीने मनको स्थिर एवं शुचि रखना अत्यावश्यक समझा है। यही कारण है कि उन्होंने 'विनय पत्रिका'में मनकी चञ्चलताके कारण उठनेवाले उत्पातोंका सजीव चित्र खींचते हुए[3] बिना नमक-मिर्च लगाये ही साफ-साफ कह दिया है कि मनको बिना वशमें किये मनुष्य परम लक्ष्यको कदापि नहीं प्राप्त कर सकता[4]।

प्रायः जितने भी अनाचार, व्यभिचार आदि होते हैं सभीका कारण है—मनकी अशुचिता एवं चञ्चलता। शुचि एवं स्थिर मन परनारी आदि वर्ज्य विषयोंकी ओर कदापि उन्मुख न होगा। राम अपने मनके विषयमें कहते हैं—

'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मन कुपन्थ पग धरहिं न काऊ।
मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी[5]।'

सामान्य धर्मके अन्यान्य अवयवोंकी चर्चा एवं प्रशंसा भी गोस्वामीजीने जहाँ-तहाँ की है, पर विस्तारभयसे हम उन्हें छोड़कर आगे बढ़ते हैं।

सामान्य धर्ममें गृहीत गुणोंके विपरीत जिन दुर्गुणोंकी निन्दा द्वारा व्यापक सामान्य धर्मकी पुष्टि होती है उनमेंसे भी कुछकी ओर संकेत कर

१. 'गीता' ६:३४ २. वही, ६:३५
३ दे० 'विनय०' पद ८१, ८४, ८९ ४. वही, पद १०८
५. 'मानस' बा० २३०. ५, ६

देना अप्रासंगिक न होगा। व्यापक धर्ममें जैसे सत्यको प्रधान दिखाया गया है ठीक उसके विपरीत 'असत्य'को अधर्मका प्रधान अंग ठहराया गया है—

'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं न कोटिक गुंजा[१]।'

ऐसे बड़े अधर्मका त्याग केवल किसी वर्णविशेषके मनुष्यके लिए नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत प्राणिमात्रका कर्तव्य है कि इस पापसे बचे।

परनारी-गमन भी ऐसा ही अधर्म है जिसका परित्याग सभी लोगोंके लिए अपेक्षित है। परनारी कलंकका साधन है, अतएव अपनी कीर्ति, सुयश, सुबुद्धि एवं अन्यान्य सुखोंकी स्पृहा रखनेवालेको चाहिये कि—

'सो परनारि लिलारु गोसाईं। तजइ चौथ चंदाकी नाईं[२]।'

यदि कामी अपनी आदतोंसे बाज नहीं आता तो निश्चय ही वह कलंकका भागी होगा[३], उसे शुभ गति न मिलेगी[४]। ऐसे विचार भी किसी वर्गविशेषके लिए नहीं कहे जा सकते।

किन-किन व्यापक दुर्गुणोंको अधर्म मानकर गोस्वामीजीने उनकी निन्दा की है, इसपर विस्तार करनेका अवकाश न देखकर हम संक्षेपमें यही कहेंगे कि 'मानस'में उन्होंने मायाके कटकका जो स्वरूप दिखाया है उसके सभी अंगोंसे छुटकारा पाना दुर्जेय अधर्मसे बचना है, और इस अधर्मसे बचनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है, चाहे वह किसी वर्ण या आश्रमका हिन्दू, मुसलमान या ईसाई कोई भी हो। यही गोस्वामीजीके व्यापक धर्मपर सर्वसामान्यका अधिकार समझना चाहिये।

प्रसंगकी समाप्तिके साथ ही यह भी कह देना असंगत न होगा कि जिस धर्मके आचरणमें पुष्कल स्वर्ण चाहिये वह धर्म जन-साधारणकी सम्पत्ति नहीं, जिस धर्मवृक्षके चारों ओर स्वर्णके काँटेदार जाल फैले हों

१. 'मानस' अयो० २७. ५ २. वही, लं० ३७. ५, ६
३. वही, उ० १११. २ ४. वही, उ० १११. ४

और जो व्यवसायकी ज्वालासे दग्ध हो रहा हो अथवा जो अपनी ओटमें विलासिताका परोक्ष समर्थन करता हो वह धर्म जन-साधारणके किसी कामका नहीं। गोस्वामीजीने जिस व्यापक धर्मका प्रसार किया है उसमें उपर्युक्त दोषोंकी रञ्चमात्र छाया नहीं। इसीसे उसे व्यापक और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार कहना सत्य है।

अहिंसावादका सर्वोच्च स्थान

धर्मका व्यापक स्वरूप और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार जताना तुलसीको अभीष्ट था अवश्य, पर इससे भी बढ़कर जो धार्मिक सन्देश उन्होंने दिया वह है उनका 'परम धर्म'—अहिंसा। उनके इस 'परम धर्म'-के सम्बन्धमें पहले किञ्चित् शास्त्रीय विवेचन अवांछित न होगा। परम पुरुषार्थतक ले जानेवाले मार्गोंमें अहिंसाका सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग माना गया है। चाहे अष्टांग योग, चाहे ज्ञानकाण्ड, चाहे उपासना-काण्ड, चाहे कर्मकाण्ड किसी क्षेत्रमें देखिये सर्वत्र अहिंसाकी व्यावहारिक उपादेयताका गुणगान मिलेगा। विशेषतया भक्ति-क्षेत्रमें तो अहिंसा अनिवार्य रूपसे सर्वोत्कृष्ट साधन मानी गयी है।

अहिंसा अष्टांग योग[1] परिवारके यमकी पहली [2]सीढ़ी है। यह वह सार्वभौम महाव्रत है जो जाति, देश, काल आदिसे परिच्छिन्न नहीं होता[3]। हिंसा करनेकी छूट न कोई जाति दिला सकती है, न देश दिला सकता है और न काल अथवा समय दिला सकता है। किसी जातिका कोई प्राणी कहीं या कभी यदि हिंसा करता है तो वह हिंसक ही कहा जायगा। जाति, देश, काल या समय इनमेंसे कोई उस हिंसकका बचाव नहीं कर सकता। हिंसा केवल प्राण-वियोगके अनुकूल व्यापार तक ही सीमित नहीं है। किसीके प्रतिकूल किसी प्रकारका मानसिक, वाचिक या क्रियात्मक आचरण भी

---

१. दे० पतंजलि : 'साधनपाद' सूत्र २९.

२. वही, 'साधनपाद' सूत्र ३०.

३. वही, „ „ ३१.

हिंसाकी ही कोटिमें आता है। इस प्रकारकी हिंसाके त्रैकालिक अभावको महामुनि व्यासने 'धर्म सर्वस्व' कहा है—

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥'

हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठाके लिए उसके प्रतिपक्ष हिंसाकी व्यापकता—जैसे, कृत-हिंसा, कारित-हिंसा अथवा अनुमोदित-हिंसा, उसकी उत्पत्तिके कारण काम, क्रोध और मोह और उसके दुरन्त फल दुःख और अज्ञानकी ओरसे सदा सचेत रहना चाहिये[१]। हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जानेके पश्चात् साधक स्वतः तो निर्भय हो ही जाता है, उसके समीपवर्ती अन्य प्राणियोंमें भी भयमूलक वैर नहीं रहता[२]। इसे ही अहिंसाका परम फल समझना चाहिये। इस प्रकार जब मनुष्यको अहिंसा व्रत सिद्ध हो जाता है तो उसके हृदयमें किसी कारण किसीको दुःख पहुँचाने या सतानेकी भावना नहीं रह जाती।

अहिंसाका माहात्म्य असामान्य है। 'महाभारत' एवं 'मनुस्मृति'में अहिंसाकी बड़ी प्रशंसा और हिंसाकी घोर निन्दा की गयी है[३]। इधर जब हम गोस्वामीजीकी रचनाओंमें समाविष्ट अहिंसा-विषयक उक्तियोंका परिशीलन करते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि उन्होंने अहिंसाके व्यापक अर्थको ग्रहण किया है, उनकी अहिंसाकी भावनाके अन्तर्गत किसी जीवकी हत्या न करनेकी भावनासे लेकर किसीको न सताना, जीवमात्रपर क्रूरता न करना, परोपकारमें सदैव निरत रहना, किसीसे द्रोह अथवा मनोमालिन्य आदिका न रखना इत्यादि सभी बातें आती हैं। प्राचीन धर्माचार्योंकी भाँति तुलसीने भी हिंसाको पाप

१. दे० पतञ्जलिः 'साधनपाद' सूत्र ३४.
२. वही, 'साधनपाद' सूत्र ३५
३. देखिये { 'महाभारत' अनु० ११५ : १०, २५, ७८, ८२
'मनुस्मृति' ५ : ४५—५५

माना है[१]। उन्होंने बताया है कि आसुरी प्रकृतिवाले ही सर्व-भूत-द्रोह रत होते हैं। परद्रोह कितना जघन्य पाप है इसका अनुमान इस एक ही पंक्तिसे कीजिये—

'गिरि सरि सिन्धु भार नहिं मोही।
जस मोहि गरुअ एक परद्रोही[२]॥'

धर्मात्मा पर-हित-चिन्तनमें निमग्न रहता है। पर-हितके विषयमें गोस्वामीजीकी धारणा यह है—

'स्रुति कह परम धरम उपकारा।
परहित लागि तजइ जो देही।
संतत संत प्रसंसत तेही[३]।'

परहित-व्रत-परायणको संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं[४]। हेतु-रहित परोपकारी ही भगवान्‌के प्रिय भक्त होते हैं[५]; उनकी सम्पत्ति लोकहितके लिए होती है[६]; वे दूसरोंके लिए उचित अवसरोंपर अपनी खालतक खिंचवानेको प्रस्तुत रहते हैं[७]। जैसे वेदव्यासने परोपकारको परम पुण्य और पर-पीडनको परम पाप ठहराया है वैसे ही तुलसीने भी—

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई।
निरनय सकल पुरान बेद कर।
कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर[८]।'

यदि इस मानव-देहको पाकर भी किसीने 'श्रुतिसार परोपकार'का आचरण न किया तो उसका दुर्लभ नर-देह पाना ही व्यर्थ हुआ—

१. दे० 'मानस' बा० १८३; १८०–१८४; १८०.१
२. वही, बा० १८३.५
३. 'मानस' बा० ८३.१, २
४. वही, अरण्य० ३०.९
५. वही, अरण्य० ४५.७, उ० ४६.५
६. वही, किष्कि० १४.२
७. वही, उ० १२०.१५, १६
८. वही, उ० ४०.१, २

'काज कहा नर तनु धरि सार्यो।
पर उपकार सार स्रुतिको जो सो धोखेहु न बिचार्यो[1]।'

यह जानकर भी कि इस भवार्णवका सन्तरण करनेके लिए केवल मनसा-वाचा-कर्मणा परहित-व्रतका करना ही श्रेयस्कर है, लोग इसके विपरीत आचरण करते हैं। ऐसी दशामें उद्धारकी क्या आशा हो सकती है? इसपर खेद प्रकट करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'जानत हूँ मन-बचन-करम परहित कीन्हें तरिए।
सोइ बिपरीत देखि पर-सुख बिनु कारन ही जरिए[2]।'

परहितव्रतकी भाँति 'दया' भी धर्मका प्रधान अंग है। इसीसे गोस्वामीजी घोषित करते हैं—

'दयामें बसत देव सकल धरम[3]'

कहना नहीं होगा कि दूसरोंके दुःखको देखकर दुःखी होनेकी प्रवृत्ति हमारे हृदयकी सात्विक दयाके सञ्चारसे होती है। जिस हृदयमें दयाका स्रोत जितना ही तीव्र होगा वह उतना ही परोपकारी, उतना ही पर-दुःख-दुःखी, दयालु होगा। इस पर-पीड़ाकी अनुभूतिके द्वारा हम न जाने कितने किल्विषोंसे मुक्त हो जाते हैं, यह अनायास ही हमारे हृदयसे अनेक विकारोंको उखाड़ फेकती है। इसीसे गोस्वामीजी समझाते हैं—

'सेइ साधु, सुनि समुझि कै पर-पीर पिराती
जनम कोटि कै कँदलो हृद हृदय थिराती[4]।'

हृदयका निर्मल होकर स्थिर हो जाना मामूली बात नहीं। इसके निर्मल होनेपर हम परम पुरुषार्थतक पहुँच सकते हैं। इसीलिए दयाका स्थान अत्युच्च एवं उदात्त है—'धरम कि दया सरिस हरिजाना[5]।'

---

१. 'विनय०' पद २०२ २. वही, पद १८६
३. वही, पद २४९
४. 'विनय०' पद १५१ ५. 'मानस' उ० १११.१०

गोस्वामीजी वैष्णव धर्मके अहिंसावादको सर्वोच्च मानते हैं। इसका प्रतिपादन भरत जैसे अहिंसाकी प्रतिमूर्ति आदर्शचरित्रके आधारपर भी किया जा सकता है। सन्त-प्रकृतिके निरूपणमें तुलसीदासजीने अहिंसाकी मौलिक उपादेयता दिखाकर उसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है और उसके विपरीत राक्षसों, खलों अथवा असज्जनोंकी हिंसाप्रिय प्रकृतिकी भर्त्सनाकी है। इससे भी उनके अहिंसावादका प्रकारान्तरसे समर्थन हो जाता है।

मनुष्य स्वभावतः अभ्युदय चाहता है। उसके लिए वह विविध कार्योंका सम्पादन भी करता है। जो अभ्युदय-सांसारिक वैभवके साथ निःश्रेयस् अर्थात् पारलौकिक अभ्युदयकी भी कामना रखते हैं उन विवेकी प्राणियोंकी दृष्टि सदैव उस ओर भी रहती है, क्योंकि बिना उभयविध प्रेय और श्रेयकी सन्तुलित उपलब्धिके मानव-जीवन अकृतार्थ ही रहता है।

धर्मके कठिन विधि-विधान और सरलतम रामनाम जप

भारतवर्षके ऋषिगण अध्यात्मचिंतक थे। उन्होंने सदैव ऐसे ही मार्गका अनुसरण श्रेयस्कर बताया है जिसपर चलनेसे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका उत्थान हो। उनके विचारसे इन दोनोंमें भी पारलौकिक अधिक श्रेयस्कर है। हम भी उन्हीं आर्योंकी सन्तान होनेके कारण ऐसे ही मार्गपर चलना चाहते हैं जिससे दोनों लोकोंके बननेकी सम्भावना हो। यही इच्छा हमें धर्मावलम्बी बनाती है और हम वेदविहित अनुष्ठानोंकी ओर झुकते हैं, योग, यज्ञ, तप, व्रत आदिमें पूर्ववत् प्रवृत्त होनेका हौसला किया करते हैं।

हमारी ऐसी लालसा और आश्वासनके लिए बाबा तुलसीदासजीने हमें यह सरलतम साधन बताया—

'पावन प्रेम राम चरन जनम लाहु परम।
राम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम॥

जोग, मख, बिबेक बिरति बेद बिदित करम।
करिबे कहँ कटु कठोर, सुनत मधुर नरम॥
तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जनि मरम।
तेहि प्रभु को होहि, जाहि सबकी सरम[१]॥'

   

'जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास[२]॥'

कितने ही सीधे-सादे श्रद्धालु साधक ज्ञानकी अटपटी बातोंके रहस्य-दर्शन तथा पञ्चाग्नि-सेवनके प्रदर्शनसे छुट्टी पा, श्रद्धापूर्वक नाम-जप द्वारा विश्राम पाने लगे। संक्षेपमें, तुलसीके राम-नाम-जपके प्रस्थापनका यही फल हुआ।

सर्वधर्ममय इस जपने जहाँ अनेक सन्तप्तोंको शीतल किया, अनेक भ्रान्तोंको ठीक मार्गपर लगाया, अज्ञानके घोर तिमिरसे आच्छादित उरोंमें 'चिन्तामणि'का प्रकाश फैलाया, प्राचीन संस्कृतिका प्रतिभास दिया वहीं इसकी ओटमें आलस्य, अकर्मण्यता और प्रमादमें पड़े असत्पात्रोंकी भी खूब बन पड़ी। ढोंगियोंका दल दिन दूना रात चौगुना बढ़ा। चिलमपर गाँजेका दम लगानेवाले न जाने कितने मालपूआखोर ऐसे भी हैं जिनके आचरणका नग्न नर्तन देखकर स्तब्ध हो जाना पड़ता है। इन मुस्टण्डोंसे समाजका कोई कल्याण होता है, यह नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहना अलं होगा कि बहुतसे खलों, लम्पटों और 'धींगधमधूसरों'को कालनेमि बननेका अवसर राम-नामने ही दिया है। मिहनत-मजदूरीसे जी चुराकर केवल बाह्याडम्बरके आधारपर सीता-रामकी अनन्य भक्तिका झूठा दावा करना, नाना प्रकारके अधार्मिक कृत्यों द्वारा समाजको छलकर अपनी टेट गरम करना ही तो अधिकांश राम-नामकी ओट लेनेवाले धूर्तोंका व्यवसाय हो गया है। यही राम-नाम-जपका अफल या कुफल है।

१. 'विनय०' पद १३१। २. 'दोहावली' दो० २९

ऐसे प्रच्छन्न पापियों, बक-दाम्भिकों और बिड़ाल-व्रतिकोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है।

वैष्णवों और शैवोंमें ऐक्य-स्थापन

शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता और तत्फलभूत मनोमालिन्य और द्वेष बहुत बढ़ गये थे। गोस्वामीजीका ध्यान इस ओर भी विशेष रूपसे गया और उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाके अनुरूप इनका पारस्परिक संघर्ष मिटाकर ऐक्य स्थापनका उद्योग भी विशेष रूपसे किया। ऐसा करनेके लिए उन्होंने जो उपाय अपनाया वह ऐसा है कि उसकी प्रेरणाशक्तिके केन्द्रमें दोनों सम्प्रदाय अबोधपूर्वक स्वतः आकर्षित होकर एक दूसरेके प्रति अपनी अनुदारता-जनित विद्वेष-वृत्तिका परित्याग कर दें। 'मानस'के दिव्य सरोवरमें प्रवेश करनेके पहले ही घाटपर वे शिवको उपस्थित कर देते हैं और बड़े ही चित्ताकर्षक ढंगसे याज्ञवल्क्य द्वारा उनकी कथाका विस्तार कराते हैं। पश्चात् झट उसी कथामें अनुरक्तिको ही राम-भक्तिकी कसौटी मानते हैं—

'प्रथमहिं कहि मैं सिव चरित बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह रामके रहित समस्त बिकार[1]॥'

राम-भक्त होनेके लिए शिवकी भक्ति अनिवार्य है। शिवकी आराधना किये बिना कोई राम-भक्त नहीं हो सकता और राम स्वप्नमें भी ऐसे भक्तपर कृपा न करेंगे[2]। शंकरके समान रामका अनन्य भक्त कौन है। किसने अपनी भक्तिकी प्रतिष्ठाके लिए सती जैसी स्त्रीका परित्याग किया है। शिवसे बढ़कर रामका प्रिय कोई नहीं[3]। दोनों देवोंकी भक्तिका गूढ़ सम्बन्ध समझनेके लिए रामके श्रीमुख द्वारा कथित यह गुप्त मत भी स्मरणीय है—

---

१. 'मानस' बा० १०४.

२. वही, बा० १०३. ५

३. वही, बा० १०३. ६, ८

'अउरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि[1]।'

गोस्वामीजीका निजी विश्वास भी ऐसा ही है। देखिये—

'जलज नयन, गुन अयन, मयन-रिपु महिमा जान न कोई।
बिनु तुअ कृपा राम-पद-पंकज सपनेहु भगति न होई[2] ॥'

यदि कोई शिव-द्रोही बनकर रामका प्रिय दास होना चाहता है तो यह उसका घोर अविवेक है; वह उत्तम गति कदापि नहीं पायेगा[3]। शंकर-द्रोही सुख-प्राप्तिका अधिकारी न होगा[4]। यही नहीं, शिवका प्रिय होकर भी यदि कोई रामका द्रोही हो अथवा रामका प्रिय होकर शिवका द्रोही हो तो वह कल्पपर्यन्त नरकमें पड़ा रहेगा[5]। इन विचारोंसे प्रभावित विरला ही कोई शैव या वैष्णव धर्मान्ध होकर पारस्परिक द्वेषकी वृद्धि करेगा। कोई वैष्णव रामके इन वचनोंको सुनकर शिवद्रोह न करेगा—

'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे, असि परतीति तजहु जनि भोरे।
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी, सो न पाव मुनि भगति हमारी[6] ॥'

इसी प्रकार काकभुशुण्डिके जन्मान्तरके परम शैव गुरुद्वारा वर्णित ऐसे तथ्यको जानकर कोई शैव रामसे द्रोह करनेका दुस्साहस भूलकर भी न करेगा—

'सिव सेवा कै फल सुत सोई, अबिरल भगति राम पद होई।
रामहिं भजहिं तात सिव धाता, नर पाँवर कै केतिक बाता।
जासु चरन अज सिव अनुरागी, तासु द्रोह सुख चहसि अभागी[7]।'

---

१. वही, उ० ४५
२. 'विनय०' पद ९
३. 'मानस' लं० १.७,८
४. वही, किष्क० १६.५
५. 'मानस' लं० २, 'दोहावली' दो० १०१
६. 'मानस' बा० १३७.६,७
७. वही, उ० १०५.२-४

शिव और रामकी उपासनामें इस प्रकारके अन्योन्याश्रय सम्बन्धकी अनिवार्यताका परिणाम यह होता है कि दोनों सम्प्रदाय परस्पर उदार होकर प्रिय बन जाते हैं।

गोस्वामीजीके व्यक्तिगत आचरणकी स्पृहणीयताने भी दोनों सम्प्रदायोंमें ऐक्यकी प्रतिष्ठा करायी है। वे स्वयं शिव-भक्त भी हैं। रामकी अनन्य उपासना स्वीकार करते हुए भी वे शिवोपासनामें तल्लीन थे। यही कारण है कि दोनों देवोंकी भक्तिके उद्गार-स्वरूप ही उन्होंने दोनों देवोंका खूब गुणानुवाद किया है। उन्होंने 'रामायण' निकाला जरूर पर जबतक उसमें शिवके अयनका मेल नहीं कराया उसे पूरा नहीं समझा। राजा रामके दरबारमें प्रवेश पानेके लिए उन्होंने 'विनयपत्रिका' लिखी, पर उसमें भी शिव-महिमाका गान करनेसे वे न चूके। रामके विवाहोत्सवसे उन्होंने जैसे 'जानकीमंगल'की प्रेरणा प्राप्त की वैसे ही शिवके गार्हस्थ्य-जीवनसे 'पार्वतीमंगल'की भी।

हमारे कविके आदर्श पात्रोंके शीलानुशीलनसे भी शैवों और वैष्णवोंमें ऐक्य भावकी प्रतिष्ठा होती है। रामके परम भक्त भरत भी 'सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना' और 'माँगहिं हृदय महेस मनाई'[1]के कारण शिवाराधनमें आस्था रखते दिखाये गये हैं। रामके परम अनुरागी महाराज दशरथ भी 'सदाशिव'से याचना करते हैं—

'सुमिरि महेसहिं कहइ वहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी।
आसुतोष सिव अवढर दानी। आरति हरहु दीन जन जानी[2]।'

अन्य पात्रोंकी बात छोड़िये। स्वयं राम भी शिवके परिवारका स्मरण करते हैं—'गनपति गौरि गिरीस मनाई[3]।'

शिवकी ओरसे देखा जाय तो उनके मानसरोवरमें राम सदैव हंसवत् विहार करते दिखाई पड़ेंगे। मुनि, धीर, भोगी, सन्त आदिसे सेवित अपने

१. 'मानस' अयो० १५५. ७,८ २. वही, अयो० ४३.७,८
३. वही, अयो० ८०.२

इष्टदेव रामके नामका महामन्त्र शिव अहर्निश जपते हैं[1]। अपने स्वामी रामकी सभी आज्ञा उन्हें शिरोधार्य है और उसे ही अपना परम धर्म मानते हैं[2]।

इसमें सन्देह नहीं कि तुलसीकी रचनाओंमें ऐसे विशेष प्रसंग समाविष्ट हैं जिनमें उन्होंने राम और शिवका सम्बन्ध क्रमशः उपास्य और उपासकके रूपमें इंगित किया है और इस प्रकार रामकी श्रेष्ठता दिखायी है, पर कुछ ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जहाँ उन्होंने राम और शिवका तादात्म्य[3] कर दिया है, साथ ही 'सेवक स्वामि सखा सिय पीके'[4] के समान वचन भी कहे हैं जिनसे दोनों देवोंकी बड़ाई-छोटाईका प्रश्न उठाना ही व्यर्थ-सा लगता है।

राम और शिवकी कथाका संयोग, दोनोंकी भक्तिका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध, दोनोंकी उपासनामें तुलसीकी समान रुचि, आदर्श पात्रोंमें दोनोंके प्रति प्रबल आस्था तथा दोनोंके सम्बन्धकी गहराईका चित्रण ऐसे मार्मिक ढंगसे किया गया है कि उसे देखकर स्वभावतः वैष्णव और शैव दोनों सम्प्रदायोंको परस्पर उदार होना पड़ा। साम्प्रतिक युगमें दोनों सम्प्रदायोंमें जो उदारता एक दूसरेके प्रति दिखाई पड़ती है उसका बहुत-कुछ श्रेय तुलसीको है। निश्चय ही तुलसीने तत्कालीन मत-मतान्तरोंकी विद्वेषज्वाला अपने शीतल उपदेश-सलिलसे शान्त की। ऐसी शान्त कर दी कि फिर उसके प्रज्वलित होनेकी सम्भावना ही न रही।

जैसे विविध अंगोंसे युक्त हमारे स्थूल शरीरके भीतर चेतन आत्मा बैठी हुई है वैसे ही धर्मके बाह्य विधि-विधान-रूप स्थूलके भीतर उसको संचालित करनेवाली सूक्ष्म शक्ति या भावना वर्तमान है। जैसे आत्मा-रहित देह सड़-गलकर अनेकानेक विकारोंका लक्ष्य होती है ठीक उसी प्रकार आत्म-शून्य धर्मका बाह्य शरीर भी विकृत होकर अनेकानेक

---

१. वही, बा० २८४.५

२. वही, बा० १८.३

३. इसकी चर्चा आगे की गयी है।

४. 'मानस' बा० १४. ४

दुराचारों या रोगोंका आकर बन जाता है। उसके विपरीत धर्म यदि अपनी विशाल आत्मा और बाह्य कलेवरके समुचित सामञ्जस्यसे युक्त है तो उसका अवलम्ब लेकर संसार अबाध गतिसे उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता रहता है। धर्म केवल अमूर्त अन्तरात्माके ही आधारपर चल सकेगा या आचरणीय होगा यह सम्भावना निर्मूल है, क्योंकि बिना आधारके आत्माका अधिष्ठान ही कहाँ होगा। अतः सूक्ष्म धर्म-भावनाके लिए किसी आधारका होना आवश्यक है। भले ही वह मूर्ति-पूजा न होकर आसन, प्राणायाम या समाधि ही क्यों न हो, अथवा गिरजेकी हाजिरी, मसजिदका सिजदा या संघारामका भाणक या चैत्यका नमस्कार ही क्यों न हो। ऐसा कोई भी धर्म न होगा जिसका कोई न कोई बाह्य स्वरूप न हो, यह दूसरी बात है कि किसीका बाह्य रूप विस्तृत और विशेष स्थूल है और किसीका संक्षिप्त और सूक्ष्म। सनातन धर्मका बाह्य रूप दोनों प्रकारका है। बहुत व्यापक और विशाल भी है, बहुत संकीर्ण और सूक्ष्मातिसूक्ष्म भी। कबीर-पन्थको एक अलग धर्म मानें तो उसका बाह्य रूप बहुत सूक्ष्म है। इसी प्रकार ईसाई धर्म या इस्लाम किसीको लीजिये, सबका कोई न कोई बाह्य स्वरूप अवश्य है।

अतः किसी धर्मके बाह्य रूपकी निन्दा करना ठीक नहीं। हाँ, यदि उससे व्यष्टि या समष्टिका अहित होता हो, उसमें अनाचार समाविष्ट हो गये हों तो वह प्रशंसनीय न होगा। इसीलिए कभी-कभी तटस्थवृत्ति महात्माओंको भी बहुत-सी उपासना-पद्धतिके बाह्य रूपकी निन्दा करनी पड़ी है। तुलसीने भी ऐसा किया है[1]।

सनातन-धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्था, उसमें प्रतिष्ठित नियम, व्रत, उपवास, स्वाध्याय, यज्ञ, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, तिलक-मुद्रा प्रभृति सभी बातें उस धर्मके बाह्य स्वरूप हैं। कहना न होगा कि इन सभी बाह्य रूपोंपर गोस्वामीजीने पूर्ण आस्था प्रकट की है और भूलकर भी इनकी निन्दा नहीं की है।

---

१. इसका विशेष विवरण 'षष्ठ परिच्छेद'में है

धर्मकी अन्तरात्मा और उसके बाह्य रूपका सामञ्जस्य

इतना कहनेके उपरान्त धर्मकी अन्तरात्माके विषयमें भी थोड़ा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। जैसे नाना प्रकारकी योनियोंमें उत्पन्न विविध जीवधारियोंकी अन्तरात्मा एक ही है, वैसे ही नाना प्रकारके रूपोंके भीतर वर्तमान अनादि अनन्त धर्मतत्त्व भी एक ही है। अन्तरात्माके समान उस एक ही तत्त्वको विविध बाह्य रूप विविध कालतक धारण कर सकता है। उस सूक्ष्म तत्त्वके प्रवेशसे भिन्न-भिन्न देहोंमें नियत कालतक भिन्न-भिन्न कार्य-सम्पादनकी शक्ति आ जाती है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। मक्खीकी देहमें वही आत्मतत्त्व परिच्छिन्न होकर वर्तमान रहता है और वह देह उसे दो-चार महीनेकी अवधितक ही धारण किये रहती है। उसी अवधितक मक्खी अपने जीवनका व्यापार चलानेमें समर्थ रहती है। अन्तमें मक्खीकी देह उस तत्त्वको नहीं रख सकती और वह अपने अनन्त रूपमें मिल जाता है। मनुष्यादि सभी जीवधारियोंकी यही दशा है। हाँ, मनुष्य-देहमें उच्चसे उच्च कार्य-सम्पादनकी क्षमता है, देही उसका उपयोग करे या न करे, उसके अधीन है।

इसी प्रकार सभी धर्मोंकी अन्तरात्मा एक है। उसको धारण करनेकी शक्ति या धारण करनेका रूप भिन्न-भिन्न है। चारों ओर अनादि अनन्त सत्-चित् आनन्दका पारावार हिलोरें ले रहा है। उसमेंसे जिस धर्ममें जितनी धारणशक्ति है वह उतने ही को ग्रहण कर अपने बाह्य रूपको देदीप्यमान कर रहा है। हिन्दू धर्मके अतिरिक्त प्रायः जितने धर्म हैं वे इस अनन्त सागरसे कुछ ही अंश लेकर उतनीसी ही अन्तरात्माके बलपर अपनी सत्ताको सँभालते हैं, पर प्राचीन भारतीय वैदिक सनातन धर्मने इस समस्त विशाल सच्चिदानन्द-सागरको ही अपनी व्यापकतासे परिच्छिन्न कर लिया है और नाना रूपोंमें उसकी अभिव्यक्ति की है। महात्मा तुलसीदास धर्मकी इसी विशाल अन्तरात्मापर अपनी अमित आस्था रखते थे, क्योंकि इसीमें उन्होंने धर्मका पूर्ण स्वरूप देखा। अन्यान्य धर्मोंसे उन्हें कोई विद्वेष नहीं क्योंकि वे सभी धर्मोंकी अन्तरात्माको उसी

सच्चिदानन्द-सागरका अंश मानते हैं। यही कारण है जो गोस्वामीजीके विशाल धर्ममें विभिन्न धर्मोंसे अविरोध ही नहीं, उनकी झलक भी मिलती है। उनमें हिन्दू धर्मके प्रायः सभी सम्प्रदायोंकी अन्तरात्मा तो स्पष्ट रूपसे लक्षित होती ही है, बहुतोंके बाह्यरूप भी सम्मानित हुए हैं।

प्राचीन आर्य धर्मकी अन्तरात्मा और उसका बाह्य रूप, दोनोंमें सामञ्जस्यपूर्ण अविच्छिन्न सम्बन्ध सुरक्षित रखते हुए चलना चाहिये—यही तुलसीका अन्तिम धार्मिक सन्देश है। 'भारतीय प्राचीन आर्य धर्मकी सभी समाजकी उन्नायक पद्धतियोंको एक साथ ही पकड़े रहना उनकी प्रधान विशेषता है। एकदेववादके अनुरागमें पड़कर वे शिवको नहीं छोड़ते, यदि वे सुधारक हैं तो भीतरसे। कबीर, दादू आदिकी भाँति उन्होंने आर्य धर्मके बाह्य रूपपर कोई आघात नहीं किया[1]।'

धर्मके दोनों रूपोंमें समन्वय एवं उनके प्रति सम्मान-भावकी स्थापनाका परिणाम बड़ा उत्तम हुआ। हिन्दू धर्मके यथेष्ट रूपको ग्रहण करनेवाले सभी लोगोंमें ऐक्य और प्रेमका भावोदय पर्याप्त मात्रातक हो चला है और उससे हिन्दू धर्मकी श्रेष्ठता बढ़ गयी है। साथ ही देशका कल्याण भी हुआ है। इस दृष्टिसे सर ग्रियर्सनका यह कथन सर्वथा सत्य है—'भारत-वर्षीय धर्मोन्नतिके इतिहासमें जो आसन तुलसीको दिया जाता है उससे कहीं उच्चतर आसनके वे अधिकारी हैं, क्योंकि हम किसी धर्म-प्रचारक महात्माकी श्रेष्ठताका अटकल उसके फलसे लगाते हैं, यह कहनेमें कि नौ करोड़ मनुष्य महात्मा तुलसीकी रचनाओं पर ही अपने धर्म तथा सदाचारके तत्त्वोंकी स्थापना किये हुए हैं, हम सामान्य गणनासे बहुत कम आँकते हैं। वर्तमान कालमें इनकी रचनाओंने लोगोंपर जो प्रभाव डाल रखा है, यदि हम इसीको मानदण्ड मानकर जाँच करें तो एशियाके तीन या चार महान् लेखकोंमें गोस्वामीजी एक ठहरते हैं[2]।'

---

१. जे० एम० मैक्फी : 'रामायन आव् तुलसीदास' पृ० २१५

२. 'जर्नल आव् दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' १९०३, पृ० ४५५

चतुर्थ परिच्छेद

तुलसीकी साम्प्रदायिकता

वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंकी झलक

तुलसीकी रचनाओंमें अन्य सम्प्रदायोंसे अधिक प्रतिष्ठित तथा अधिक मान्य वैष्णव और शैव इन दोनों सम्प्रदायोंकी जो विशिष्ट झलक मिलती है उसके अनुसार उनके देववाद, पूजा-पद्धति एवं धार्मिक प्रतीकोंपर कुछ प्रकाश डालना उपेक्षणीय न होगा। देववादसे हमारा तात्पर्य क्या है, पहले इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वैदिक कालके अनन्तर पौराणिक कालमें वैदिक देवोंकी क्या स्थिति हो गयी थी और कौन-कौनसे देव प्राधान्य प्राप्त कर चुके थे, सम्प्रदाय-विशेषमें इनका क्या स्वरूप हो गया था और तुलसीमें ये देव किस रूपमें गृहीत हुए—इत्यादि सभी प्रश्नोंका सम्बन्ध देववादसे है।

देववाद

हमारे आदि धर्म-कालमें ही जब कि साम्प्रदायिकताका नाम-निशान भी न था, आर्योंने विविध देवोपासना आरम्भ की थी। उस वैदिक कालमें भी अग्नि, सोम, इन्द्र, विष्णु, पृथ्वी, मरुद्गण, रुद्र, बृहस्पति, वरुण, पूषा, ऊषा, अश्विनीकुमार, यम, सरस्वती, प्रजापति प्रभृति देवोंकी महिमाका विशद गान, उनके विशेष कार्य आदि सभी बातोंका उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद'की ऋचाएँ इसके प्रमाण हैं। देवोंके विविध कुल होते थे। वरुणने एक अप्सरासे प्रेम किया और उसके फलस्वरूप गन्धर्व-कुलकी उत्पत्ति हुई आदि बातें कथित हैं। देवगण सन्तानोत्पत्ति करते थे; उन्हें भी सुरांगनाओंका भोग प्रिय था। भोगों और सुखोंके वे भी इच्छुक

थे। उनका पराक्रम और उनकी शक्ति अलौकिक थी। मनुष्यकी शक्ति उनकी शक्तिके सामने पासंग थी। इन विविध देवोंसे परे भी कोई एक था जो अनादि, अजन्मा और सर्वशक्तिमान् था। अत्यन्त संक्षेपमें आदि कालमें यही देवोंकी स्थिति थी।

कालचक्र बदला, वैदिक युग गया और साथ ही वैदिक देवोंका महत्त्व भी बहुत-कुछ जाता रहा। पौराणिक काल आते-आते वैदिक देवोंमें कतिपय अग्रगण्य देव सामान्य कोटिमें चले आये और विष्णु जैसे वैदिक देव इस कालमें भी देवोंके अनन्य संरक्षक और अजेय होकर सर्वोपरि मान्य हुए। वैदिक कालके अन्यान्य देवोंकी अमोघ शक्ति तो सामान्य वीरों-की-सी हो गयी, केवल विष्णु ही प्रधान रहे। वे जबतक स्वयं संग्राममें न उतरते तबतक संग्राम कोई असाधारण रूप न धारण करता। अन्य देवगण किसी यशस्वी अवतारी योद्धाकी मूर्च्छा दूर करनेके लिए खड़े दिखाई पड़ते। वीर नायकमें उत्साह भरनेके लिए उसका गुणानुवाद करनेके अतिरिक्त, कुछ वैदिक देव रणमें प्रवृत्त नायकके मुख-मण्डलके स्वेद-कण सुखानेमें ही सहायक होते थे। वे कुहरेकी भाँति अदृश्य आधारमें लटके दर्शक बने रहते थे। नायकको विजयी होते देख पुष्प-वृष्टि करना और दुन्दुभी बजाना उनके मुख्य कार्य थे। जितना अपने धर्म और कर्तव्यका मान था उतना इन देवोंका नहीं। वैदिक देवोंकी पौराणिक कालमें यही स्थिति थी।

वैदिक कालके रुद्र और प्रजापति औपनिषद कालमें क्रमशः शिव और ब्रह्मा(विरञ्चि)के रूपमें दिखाई पड़े। विष्णुका क्या स्थान था, इसकी ओर किञ्चित् संकेत ऊपर किया जा चुका है। शिव और विष्णुके विषयमें अभी बहुत-कुछ कहना है, क्योंकि हिन्दू धर्म और उसके विविध सम्प्रदायोंका मूल स्रोत इन्हीं दोनों देवोंसे सम्बद्ध है। ब्रह्माके विषयमें पहले दो-चार शब्द कहकर उनका प्रसंग समाप्त किया जाता है। स्वतन्त्र रूपमें ब्रह्मा अवश्य ही देवोंमें सबके वृद्ध पितामह माने गये हैं। वे ही उत्पत्तिकर्ता और भविष्यद्रष्टा भी हैं। वे स्वयं भावातीत नहीं हैं, देवोंके

सुख-दुःखसे वे सुखी और दुःखी होते हैं। वे सर्वज्ञ नहीं है। उनको सृष्टि-निर्माणका कार्य सौंपा गया है। वे परमोच्च देव नहीं हैं।

ब्रह्माके विषयमें और कुछ न कहकर हिन्दू धर्मके मूलभूत दोनों देवोंकी ओर बढ़ता हूँ। साम्प्रदायिकता हिन्दू धर्मकी एक विशेषता है। हिन्दू धर्मके अधिकांश सम्प्रदायोंकी प्रवृत्ति यही रही है कि वे अपने नवोद्भावित देवको सर्वोपरि दिखाते हैं। वे अपने देवको पहले एक भौतिक व्यक्तिगत स्वरूपमें प्रतिष्ठित करते हैं और अन्तमें उसका शिव अथवा विष्णुसे तादात्म्य करके उसे सर्वोच्च कोटिमें बिठाते हैं। जो लोग अपने उपास्य देवका शिवसे तादात्म्य करते हैं वे शैव और जो विष्णुसे तादात्म्य करते हैं वे वैष्णव कहे जाते हैं। ये ही दोनों सम्प्रदाय समस्त हिन्दू धर्ममें अधिक व्याप्त हैं। इन्हींके सैकड़ों रूप रूपान्तर फैले हुए हैं। इन सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिका पचड़ा छेड़ना यहाँ व्यर्थ है। यहाँ केवल यही विचारणीय है कि दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार शिव और विष्णुका स्वरूप कैसा है। पहले शिवकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। किस प्रकार 'ऋग्वेद'के रुद्र 'यजुर्वेद'में 'ईशान', 'महादेव' और 'त्रिपुरारि'रूपमें परिणत हुए और फिर वे ही 'महाभारत'में 'शिव'हो गये, इसे इतिहास जाने, हमें तो शिवका सम्प्रदाय-मान्य रूप निरूपित करना है।

अपने गणों सहित शिव पुराणोंमें अन्यान्य देवोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माने गये हैं। ब्रह्मा और विष्णुके अतिरिक्त उनके समान कोई देव नहीं। वे कैलासके वासी हैं; कैलासके चतुर्दिक् यक्षगण तथा विविध भूतगण पहरा देते हैं। इन गणोंके परामर्शदाता हैं गणेश, और उस देव-सेनाके सेनानी हैं स्कन्द। वीरभद्र शिवके सर्वश्रेष्ठ गण हैं,। वे रणकी प्रचंड ज्वालाके प्रतीक हैं, साथ ही शिव-स्वरूप भी। यों तो शिवके नाना जन्म हुए हैं, पर वस्तुतः वे शाश्वत हैं, महाकाल है क्योंकि सभीका संहार करते हैं। वे ही मृत्युके प्रतीक भी हैं। उनका क्रोध असाधारण है। वे भूत-प्रेतोंके नाथ भी हैं; भैरव भी हैं। वे ताण्डव नृत्य करते हैं। उनमें अपार और अद्वितीय गुण हैं। वे महान् योगिराज हैं; दिगम्बर हैं;

व्याघ्र-चर्म ही उनका परिधान है; उनका जटाजूट विशाल है; उनका शरीर भस्मावगुण्ठित है; उनका तप अखण्ड एवं महाकठोर है; उनके तीन नेत्र है; तृतीय नेत्रके खुलनेपर वे किसे क्षार नहीं कर सकते, इसीसे कामको भस्म किया था; वे अजित हैं। उनके वाम भागमें उनकी अर्द्धांगिनी हैमवती उमा रहती हैं; वे देवी, पार्वती, दुर्गा, गौरी, सती, भैरवी, काली, कराला आदि नामोंसे परिचित और अवतीर्ण होकर पूजित हैं।

मुख्य पुराणोंके अतिरिक्त जब हम शिवपुराणादि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंको देखते हैं तो वहाँ भी शिवके ऐसे ही वर्णन मिलते हैं। हाँ, वहाँ शिवके नानावतारों, यथा कैलासनिवासी अवतार, नन्दिकेश्वरावतार, भैरवावतार, वीरभद्रावतार, यक्षावतार, महेश्वरावतार, अवधूतावतार, हनुमद्-अवतार, नटावतार प्रभृति अवतारोंका विशेष उल्लेख मिलता है, अस्तु।

'ऋग्वेद'में विष्णुका भी स्थान सामान्य नहीं था, वे सूर्यके प्रतीक थे, आवाहनके समय वे सर्वोत्कृष्ट कहे जाते थे। 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीयारण्यक'में विष्णुके स्वरूपमें कुछ हेर-फेर हुआ, पर उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमें तो 'महाभारत' और तत्कालीन पुराणादिमें विष्णुका जो स्वरूप था उसे व्यक्त करना है। विष्णु अपनी पत्नी लक्ष्मी सहित वैकुण्ठमें वास करते हैं। अज्ञात कालसे वे ब्रह्माका कार्य भी कर रहे हैं। वे हिरण्य-गर्भ और विशेषतः उन नारायणके प्रतीक हैं जिन्होंने प्रलयकालमें शेष अथवा अनन्त नागको धारण किया था, उनकी निद्रा और जागर्तिकी अवस्थासे सृष्टिके उद्भव और प्रलय होते हैं। उन्हींके नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है। विष्णुके पालन-कर्तृत्वके कारण प्राणियोंमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। लोक उनकी वन्दना करता है। केवल इतना ही नहीं, विष्णुने स्वयं जो विविध अवतार धारण किये और नाना प्रकारके प्राणियोंकी रक्षा की इससे वे प्रेम और प्रतिष्ठाके विशेष पात्र बने हैं। महाभारतकालमें विष्णुकी प्रतिष्ठा चरमोत्कर्षपर पहुँच चुकी थी। इसी कालमें यह निश्चय हो गया था कि वे अपने पूर्णांशसे श्रीकृष्ण-रूपमें प्रकट हुए हैं। इन्हीं श्रीकृष्णके प्रसादसे भागवत-धर्मका प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक देवोंमेंसे गोस्वामीजीने बहुतोंको अपनी रचनाओंमें गृहीत किया है। 'पृथ्वी'को इन्होंने देवकोटिमें माना है। वह भावशून्य नहीं है, उसे भी पीड़ा होती है—'परम सभीत धरा अकुलानी', वह विह्वल होकर सुर-मुनि-गन्धर्व-सहित अपने परित्राणके लिए ब्रह्माके पास जाती है। ब्रह्मा उसका परमशोक और भय देखकर कहते हैं—

'ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोरो कछु न बसाई।
जाकर तैं दासी सो अविनासी हमरउ तोर सहाई[1]।'

ब्रह्माके इस सान्त्वना-दानसे उनके स्वरूपका भी पता लग जाता है। देवोंका उनके पास जाना सिद्ध कर रहा है कि वे वृद्ध पितामह हैं। उनकी सम्मतिसे ही कल्याण होगा, और 'ब्रह्मा सब जाना' पदसे स्पष्ट है कि वे द्रष्टा भी हैं, पर उनकी शक्ति लोक-निर्माणतक ही सीमित है; उनके ऊपर जो है वही सर्वशक्तिमान् और अविनाशी है; उसीकी सहायतासे घोर निशाचरोंका अन्त हो सकता है। ब्रह्माका यह वर्णन देखकर कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता न होगी कि तुलसीने भी ब्रह्माका वही स्वरूप दिखाया है जो पौराणिक कालमें मान्य था।

'यम' यद्यपि 'ऋग्वेद'में ही पूजित हो चुके थे, पर उनके अपार नरक-राज्यकी यातनाओंकी भावना 'अथर्ववेद'में स्पष्ट हुई। गोस्वामीजी 'यम'का देवत्व तो मानते ही थे, नरक आदिमें भी उनका विश्वास था। तभी तो यम और नरक दोनोंका संकेत उनकी रचनाओंमें मिलता है। देखिए—

'अवनि जमहि जाँचति कैकेई।'
'राम बिमुख थल नरक न लहहीं[2]।'

सरस्वतीको भी तुलसीने देवकोटिमें रखा है। ये देवताओंकी बहुत बड़ी सहायिका हैं। जहाँ कहीं देवोंको किसीका मति-विभ्रम कराना होता वहीं ये सरस्वतीके पैरों पड़कर उसे संकोचमें डालकर अपना कार्य सिद्ध

१. 'मानस' बाल० १८३.११, १२ २. 'मानस' अयो० २५०.६, ७

करते। सरस्वती वाणी, विद्याकी देवी हैं, इसीसे इनकी आराधना आदि कालसे चली आ रही है। इनके देवत्व और महत्त्वको स्वीकार करते हुए गोस्वामीजीने अपनी कई रचनाओंमें इनकी वन्दना स्वयं की है। 'मानस'में इनके द्वारा कुम्भकर्ण तथा मन्थराकी बुद्धि फिरवाकर इनका बुद्धि पलटनेका कार्य भी दिखा दिया है।

सरस्वतीके अतिरिक्त अश्विनीकुमार, मरुद्गण, बृहस्पति, सूर्यादि वैदिक देवोंका उल्लेख भी गोस्वामीजीने किया है। वैदिक देवोंके राजा इन्द्रको तो 'मानस'के कई प्रसंगोंमें सन्निविष्ट किया है।

सारांश यह कि वैदिक कालके कतिपय देवोंका निर्देश करते हुए भी तुलसी उनकी वैदिक कालीन प्रतिष्ठाके पुजारी नहीं, वे उन्हें पौराणिक कालमें प्राप्त प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे ही देखते थे। तभी तो उन्होंने वैदिक देवोंके पौराणिक कालमें बताये गये कार्य दिखाये हैं अर्थात् देवता रामको युद्धोत्साह दिलानेके लिए उनके गुणानुवादके साथ ही समय-समयपर दुन्दुभी बजाते, पुष्प-वृष्टि करते और उनका जय-जयकार मनाते हैं। जब युद्धमें वे रामका अमित पराक्रम देखते थे तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहता था। वे रणक्रीड़ा देखते रहते और पुलकित होकर स्तुति भी करते; इसके विपरीत जहाँ रावणकी माया प्रबल पड़ती वहाँ—

'डरे सकल सुर चले पराई।
जयकै आस तजहु अब भाई॥
सब सुर जिते एक दसकंधर।
अब बहु भये तकहु गिरिकन्दर[1]॥'

हम कह चुके हैं कि वैदिक देव भी सुखों और भोगोंमें परिलिप्त रहते थे। अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए वे भी सामान्य लोगोंकी भाँति कूटनीति वर्तते थे। गोस्वामीजीने उनकी ऐसी प्रवृत्तिकी यथेष्ट भर्त्सना की है। स्वार्थी मनुष्योंके समान ही उन्हें भी देखा है। इसीसे देवोंके विषयमें

१. 'मानस' लं० ९५. ६,७.

कुछ ऐसी उक्तियोंका प्रयोग भी कर दिया है जो अवैदिक तथा अभव्य-सी लगती हैं[१]।

गोस्वामीजीकी देवोंके प्रति कथित कटु उक्तियोंको देखकर ऐसा न समझ लेना चाहिये कि उन्होंने देवोंकी जो निन्दा की है वह उनका स्वेच्छाचार है। वस्तुतः ऐसी देवनिन्दा भी परम्परागत है, वह ऐतिह्य-विरुद्ध नहीं। कितनी ही ऐसी पौराणिक कथाएँ हैं जो देवोंकी स्वार्थ-लिप्सा, परोत्कर्ष-भीरुता और मात्सर्यकी ओर संकेत करती हैं।

जहाँ कहीं देवोंकी कुचाल अथवा स्वार्थपरायणताकी दुर्गन्ध नहीं है वहाँ गोस्वामीजीने उनके देवत्वकी महिमा भी गायी है। जैसे, इन्द्रके महत्त्वको दिखानेके लिए तुलसीने रामसे, अमृतवर्षा करके अपने बन्दर-भालुको जिलानेकी प्रार्थना करायी है। देखिये—

'सुनु सुरपति कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे॥
मम हित लागि तजे इन प्राना। सकल जियाउ सुरेस सुजाना[२]॥'

इन्द्रादि वैदिक देवोंकी गोस्वामीजीके द्वारा की गयी निन्दाका समर्थन यद्यपि प्रकारान्तरसे इतिहास अथवा पुराणकी कुछ कथाओंसे हो जाता है, पर गोस्वामीजीकी इन देवोंकी फटकारमें मर्यादाका अतिक्रमण किसी-न-किसी अंशमें तो मानना ही पड़ेगा। जिस देवराज इन्द्रकी यज्ञादिमें सर्वोपरि प्रतिष्ठा हो उसे 'कपट कुचाल सींव', 'छली मलीन' आदि कहना समुचित नहीं माना जा सकता, निम्नांकित अवतरणमें इन्द्रकी हेयता और भर्त्सनाकी हद हो जाती है—

'सूख हाड़ लेइ भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीन लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिं न लाज[३]॥'

मर्त्यलोकसे कहीं श्रेयस्कर उच्च अमरलोकमें वास करनेवाले देवोंको

---

१. देखिये 'मानस' अयो० ११. ६.-३००. १.-३००. २.-३००. ८

२. देखिये 'मानस' लं० ११२. १,२

३. 'मानस' बाल० १२५.

'कुचाली',[1] 'जड़',[2] 'स्वार्थी मलीन मन'[3] प्रभृति विशेषणोंसे तिरस्कृत करना भी गोस्वामीजीकी विशेषता है। प्राचीन परम्परामें देवोंको ऐसी गालियाँ नहीं दी गयी हैं। मालूम होता है, बाबाजी देवोंसे रुष्ट थे, क्योंकि इन्होंने उनके उपास्यके राज्याभिषेकमें विघ्न उपस्थित किया और उसके परिणाम-स्वरूप रामको जंगलकी खाक छानकर नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़े। नीतिविरुद्ध अनौचित्यका कर्ता चाहे मनुष्य हो चाहे देव वह निन्दनीय है। इसलिए भी गोस्वामीजीने देवोंको बिना उनकी बड़ाईका ध्यान रखे हुए फटकारा है। यह भी हो सकता है कि स्वयं परम विरक्त होनेके कारण तुलसीको देवोंकी भोग-प्रियता खलती रही हो और इसीसे उन्होंने अन्यान्य विषयासक्तोंकी भाँति देवोंको भी लथेड़ा हो—

'इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई।
बिषय भोग पर प्रीति सदाई[4]॥'

कुछ वैदिक देवोंके प्रति गोस्वामीजीके विचार कैसे थे इसका किञ्चित् आभास देकर अब हम शिवकी ओर बढ़ते हैं। दूलहके रूपमें सजाये गये शिव-वेषकी एक झाँकी देखिये—

'सिवहिं सम्भुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि-मौर सवारा॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥
ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नर-सिर माला। असिव वेष सिव धाम कृपाला॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा[5]॥'

विवाहोपरान्त 'दूलह' किस घरकी ओर लौटता है—

'जबहि सम्भु कैलासहिं आये। सुर सब निज-निज लोक सिधाये॥
जगत मातु पितु सम्भु भवानी। तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी॥

---

१. 'मानस' अयो० १०. ६ २ वही, अयो० २३९. ७
३. वही, अयो० २९४.
४. वही, उत्तर० ११७. १५ ५. वही, बाल० ९१. १—५

करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा।
गनन्ह समेत बसहिं कैलासा[1] ॥'

इससे स्पष्ट है कि शिवका निवास-स्थान कैलास है। शंकर सर्वोच्च कोटिके देव हैं। देखिये—

'संकर जगत बंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा[2] ॥'

वैदिक रुद्र और शिवमें कोई भेद नहीं, इसीसे गोस्वामीजीने शिवके लिए रुद्रका प्रयोग किया है—

'रुद्रहिं देखि मदन भय माना।
दुराधर्ष दुर्गम भगवाना[3] ॥'

शिव-वेशकी जैसी विचित्रता 'मानस'में वर्णित है वैसी ही 'कविता-वली'[4]के कतिपय छन्दों और 'विनयपत्रिका'[5]के कई पदोंमें भी। इन विविध रचनाओंमें शिवका अंकित स्वरूप विशुद्ध साम्प्रदायिक है। इनमेंसे विशेषतया 'विनयपत्रिका'के पदोंमें शिवके कुछ अवतारोंका भी संकेत है। शंकरके हनुमत्-अवतारका संकेत 'दोहावली'[6]में भी मिलता है, 'विनयपत्रिका'[7]में तो है ही।

साम्प्रदायिक दृष्टिसे शिवके साथ उनकी अर्द्धांगिनी उमा नाना रूपोंसे पूजित होती हैं यह पहले ही संकेत कर आये हैं, तुलसीने भी उमाके नाना रूपोंकी ओर लक्ष्य करते हुए उनकी स्तुति की है, उनके कालिका रूपका जयजयकार करते हुए कहते हैं—

'जय महेस-भामिनी, अनेक रूप नामिनी,
समस्त लोक स्वामिनी हिमसैल-बालिका[8]।'

---

१. 'मानस' बाल० पृ० ५३ २. वही, बाल० पृ० २९
३. वही, बाल० पृ० ४४ ४. 'कविता०' उत्तर० छ० १४९–१५२
५. 'विनय०' पद १०–१४ ६. 'दोहावली' दो० १४२, १४३
७. 'विनय०' पद २५, २७ ८. वही, पद १६

रामके विष्णु स्वरूपकी व्यञ्जना भी तुलसीने साम्प्रदायिक ढंगसे की है। इस कथनकी पुष्टिके लिए यहाँ कोई प्रमाण देना व्यर्थ है। इसका विचार आगे किया जायगा।

गोस्वामीजीके देववादकी इति यहीं नहीं हो जाती। उन्होंने ग्रामदेव और कुलदेवतकको भी अपनी दृष्टिमें उच्च स्थान दिया है, इसीसे उनकी रचना में—

'पूजी ग्राम देवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलि भागा[1]॥'

जैसी पंक्ति भी दिखाई पड़ती है।

यों तो उन्होंने देव और पितर सभीको लिया है, तथापि विशेष रूपसे वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदायके उपास्य देव विष्णु और शिव तथा इनके विविध अवतारोंकी चर्चा की है और इनसे भी बढ़कर सर्वोपरि प्रतिष्ठा की है अपने उपास्य देव राम की।

पूजा-पद्धति

देववादपर सामान्य दृष्टि डालनेसे उक्त दोनों सम्प्रदायोंकी जो विशेष झलक मिलती है उसका किञ्चित् दिग्दर्शन यहीं समाप्त करके देखना है कि पूजा-पद्धतिके विचारसे इनका साम्प्रदायिक स्वरूप तुलसीमें कहाँतक वर्तमान है। गोस्वामीजी शिव अथवा विष्णुकी साम्प्रदायिक पूजा-पद्धति नहीं लिख रहे थे जो इनकी विशद विवेदना करते, फिर भी उन्होंने साम्प्रदायिक पूजा-पद्धतिकी कुछ 'बातोंका समावेश अपनी रचनाओंमें किया है। 'शिवपुराण'के नवम खण्डके कई अध्यायोंमें शिव-पूजा व्यापक रूपसे वर्णित है। जिन-जिन वस्तुओंके चढ़ानेसे शिव शीघ्रातिशीघ्र प्रसन्न होते हैं उनका विशेष रूपसे उल्लेख है। बाबाजी भी कुछ वैसे पदार्थोंका निर्देश करते हैं—

'देत न अघात, रीझि जात पात आक ही के।
भोलानाथ जोगी जब औढर ढरत हैं[2]॥'

---

१. 'मानस' अयो० पृ० १७३ २. 'कविता०'उत्तर० छ० १५९

यदि कोई सुरेशका ऐश्वर्य भी सहजमें ही प्राप्त करना चाहता है तो उसे क्या करना चाहिये—

'पात द्वै धतूरे के दै, भोरे के भवेस सों,
सुरेस हू की सम्पदा सुभाय सों न लेत रे[1]॥'

अज्ञात अथवा ज्ञात रूपसे भी यदि किसीने बिल्व-पत्र शिवको चढ़ाया तो उसे जो दुर्लभ पदार्थ मिलते हैं इसका गोस्वामीजीने बड़ी ही मार्मिकतासे वर्णन किया है[2]। गंगा-जल चढ़ानेका माहात्म्य भी असामान्य बताया गया है, वह चारों फलोंका देनेवाला है[3]। धतूरा और मदारके फल-फूल चढ़ाना भी जिस गतिको दिलाता है वह वर्णनातीत है[4]।

शैव सम्प्रदायके अनुसार भस्मका माहात्म्य भी अत्यधिक है। उसके सदृश पवित्र और कल्याणकारी कोई दूसरी वस्तु नहीं। उसका धारण करना शिव-भक्तका परम कर्तव्य है। गोस्वामीजीके हृदयमें भस्मके प्रति ऐसी ही श्रद्धा थी। इसीसे उन्होंने—

'भव अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी[5]।'

कहा है।

सभी शिव-भक्तोंको त्रिपुण्ड्र लगाना और रुद्राक्षकी माला आदि भी पहननी चाहिये, क्योंकि यही शैवोंका बाह्य चिह्न है। परशुराम-जैसे शिवके अनन्य भक्तको उपस्थित कर गोस्वामीजीने परम शैवका रूप खड़ा कर दिया है[6]।

शैव सम्प्रदायमें शिव-नाम-जपका माहात्म्य भी असाधारण है। इसे गोस्वामीजी कितना महत्त्व देते हैं, यह इसीसे अनुमित हो सकता है कि

---

१. 'कविता०' उत्तर० छ० १६२.

२. देखिये 'कविता०'उत्तर० छ० १६३. ३. देखिये 'कविता० 'उत्तर० छ०

४. 'कविता०'उ० छ० १६४.   १६१. देखिये 'मानस'लं० २.२

५. 'मानस'बाल० ९. १४

६. दे० 'मानस'बाल० २६७.४,५,७

उन्होंने विष्णुके द्वारा परम भक्त महर्षि नारदको इस नाम-जपका ही उपदेश कराया है—

'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिस्रामा[1] ॥'

इस प्रकार शिव-नाम-जप हृदयके विश्रामका साधन है। गोस्वामी-जीने कामधेनु काशीका प्राण पञ्चाक्षरी मन्त्र[2] (नमः शिवाय) माना है।

प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी उपासना-पद्धतिमें अपने इष्टदेवके नामजपका माहात्म्य सर्वोत्तम स्वीकार करता है। गोस्वामीजीने वैष्णव सम्प्रदायकी पूजा-पद्धतिकी अन्यान्य विधियोंकी ओर तो इंगितमात्र किया है, परन्तु नाम-जपकी बड़ी ही विशद महिमा गायी है।

वैष्णवोंकी वैधी भक्तिके अन्तर्गत उनकी साम्प्रदायिक पूजा-पद्धति भी आती है। उसका सन्निवेश भी गोस्वामीजीकी कृतियोंमें हुआ है। वैष्णव सम्प्रदायकी पूजा-पद्धतिमें सशक्ति और सपार्षद भगवान्की उपासना होती है। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें इसका पूर्ण रीतिसे निर्वाह है। यथा रामके त्र्यायतन ध्यानका संकेत देखिये —

'राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुर-तरु तुलसी तोर[3] ॥'

वैष्णव प्रायः तिलक मुद्रा, चौतनी, तुलसीकी माला आदि धारण करते हैं। राम और लक्ष्मण दोनोंको गोस्वामीजीने इन साम्प्रदायिक वस्तुओंसे विभूषित किया है—

'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं।'
'पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई[4]।'
... ...
'कुंजर मनि कंठा कलित, उरन्ह तुलसिका माल[5]।'

---

१. दे० 'मानस' बाल० १३७.५
२. दे० 'विनय०' पद २२.
३. 'दोहावली' दो० १
४. 'मानस' बाल० २४२. ६, ७
५. 'मानस' बाल० २४३.

राम-लक्ष्मणको इन साम्प्रदायिक भूषणोंसे भूषित करनेके कारण गोस्वामीजीकी कृतिमें काल-दोष भी आ गया है।

धार्मिक प्रतीक

जैसे इन साम्प्रदायिक देवोंके स्वरूप और इनकी पूजा-पद्धतिके कुछ प्रकार गोस्वामीजीमें मिलते हैं वैसे ही इन दोनों सम्प्रदायोंके कुछ धार्मिक प्रतीक और चिह्न भी वर्तमान हैं। शैव सम्प्रदायमें शिव-स्वरूपको व्यञ्जित करनेके लिए उनके प्रतीक और चिह्न नदी, चन्द्रमा, गंगा, सर्पराज, त्रिशूल, डमरू, बाघम्बर आदि तो हैं ही, पर उनके भयावह रूपको प्रकट करनेके लिए मुण्ड-माला भी है। शिवजीका जहाँ कहीं विशेष वर्णन है वहीं इन प्रतीकों या चिह्नोंका निर्देश है। शिवका पूर्ण प्रतीक है शिवलिंग। इसकी प्रतिष्ठा योनिमें होती है। योनि देवीका प्रतीक है। शैव लिंगकी पूजा करते हैं। लिंग-पूजनमें तुलसीने अपनी पूर्ण आस्था दिखायी है, यही कारण है कि उन्होंने रामके द्वारा लिंग-स्थापन और पूजन कराया है—'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा'[1], पर इस साम्प्रदायिक विचारको लिखते समय गोस्वामीजीका विचार इधर नहीं गया कि यह बात उनकी कृतिमें काल-दोष मानी जायगी।

विष्णु-स्वरूपकी अभिव्यक्तिके विशेष प्रतीक या चिह्न शंख, चक्र, गदा, पद्म और गरुड आदि आये दिन भी वैष्णव सम्प्रदायमें पूजित हैं। वैकुण्ठ एवं लक्ष्मी तो विष्णुके प्रसिद्ध परिग्रह हैं—प्रथम उनका धाम और द्वितीय उनकी अर्द्धांगिनी। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें इन प्रतीकों या चिह्नोंकी भी कमी नहीं। राम और विष्णुके तादात्म्यकी चर्चामें इन सबका विशेष उल्लेख किया गया है[2]।

वैष्णव सम्प्रदायके अनुसार तुलसीदल श्रीका प्रतीक है, तभी तो विष्णुके प्रतीक शालग्रामपर तुलसी चढ़ायी जाती है। 'पद्मपुराण'में शिवने

---

१. 'मानस' लं० १. ६

२. दे० 'चतुर्थ परिच्छेद'

नारदसे तुलसीका बड़ा ही माहात्म्य बताया है[1]। भगवान्‌को अपनी प्रिया तुलसीसे बढ़कर प्रिय अन्य कोई नहीं। इस साम्प्रदायिक विचारकी अभिव्यक्ति गोस्वामीजीने यों की है—

'रामहिं प्रिय पावन तुलसी-सी[2]।'

वनवासके दिनोंमें भी, चित्रकूटमें राम, सीता और लक्ष्मण तुलसीके महत्त्व और ममत्वको नहीं छोड़ पाये थे[3]। निशाचरोंके मध्य रहते हुए भी भक्त विभीषणने अपने 'हरि-मन्दिर'की शोभा 'नव तुलसीका बृंद'[4]से खूब बढ़ायी थी। इसी प्रकार अवधमें भी सरयूके घाट-घाटपर तुलसीकी शोभा बढ़ रही थी[5]।

रामनाम-माहात्म्य और साम्प्रदायिक उपनिषद्

गोस्वामीजीने रामनामको जो 'महामन्त्र'[6] और 'मन्त्रराज'[7] माना है वह भी कुछ अर्वाचीन साम्प्रदायिक उपनिषदोंकी देन है। 'रामोत्तर-तापिनी उपनिषद्'में स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि राममन्त्रके फलकी प्राप्ति गायत्री मन्त्रादिसे कई गुना बढ़कर होती है, यह मन्त्र गाणपत्य, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभीको अभीष्ट फलदायक है, साथ ही गाणपत्यादि मन्त्रोंसे अधिक श्रेयस्कर है, यही नहीं, इस मन्त्रकी घोरातिघोर पापोंको दग्ध करनेकी अमोघ शक्ति गाते हुए अन्तमें 'मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः'[8]की घोषणा की गयी है।

'रामतापिनी' ही नहीं, 'रामरहस्योपनिषद्'में भी दिखाये गये नाम-माहात्म्यसे राममन्त्रका 'महामन्त्रत्व' प्रकट होता है[9]। 'रामोत्तरतापिनी'में

१. दे० 'पद्मपुराण' उत्तरखण्ड, अध्या० २४
२. 'मानस' बाल० ३०.१२
३. 'मानस' अयो० २३५.७
४. 'मानस' सुन्दर० ५.
५. 'मानस' उत्तर० २८.६
६. 'मानस' बाल० १८.३
७. 'मानस' अयो० १२७.६
८. दे० 'रामोत्तर० उ०' ५:४६
९. दे० 'रामरहस्यो०' ५:१४, १५

एक प्रसंग[1] आया है कि शिवने एक सहस्र मन्वन्तरपर्यन्त काशीमें राम-मन्त्रका जप, होम, अर्चन आदि किया। श्रीराम प्रकट हुए। उन्होंने प्रसन्न होकर शिवसे मनोभिलषित वर माँगनेको कहा। शिवने मणि-कर्णिका-क्षेत्रमें गंगा-तटपर सभी देह त्यागनेवालोंकी मुक्ति माँगी। इसपर रामने उत्तर दिया—'हे महादेव! आपकी पुरीमें कृमि, कीट आदि भी मुक्तिके भाजन होंगे, यही नहीं, आपकी पुरीमें सबको मुक्ति प्रदान करनेके लिए मैं भी प्रतिमा आदिके रूपमें उपस्थित रहूँगा'—

'अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये।
अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु॥'

ऐसे ही साम्प्रदायिक विचारोंके आधारपर गोस्वामीजीने भी शंकर-पुरीके कीट-पतंगोंको परमगतिका अधिकारी बताया है। देखिये—

'जो गति अगम महामुनि गावहिं,
तुअ पुर कीट पतंगउ पावहिं[2]॥'

रामका स्वरूप और साम्प्रदायिक पुराणोंके ढंग

त्रिदेववादके साम्प्रदायिक उपयोगकी ओर ध्यान रखते हुए भी गोस्वामीजीकी साम्प्रदायिकता विचारणीय है। शुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म सत्त्व, रज और तमकी बहुलतासे क्रमशः युक्त होकर अपनी अभिव्यक्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें करता है और उसीसे सृष्टिका उद्भव, पालन और लय होता है। त्रिदेवोंमेंसे प्रत्येक देव 'ओम्'के प्रत्येक वर्णसे क्रमशः व्यञ्जित किया गया है। समस्त पद 'ओम्' उस पूर्ण ब्रह्मका वाचक माना जाता है। साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें त्रिदेववादका एक दूसरे ढंगसे उपयोग मिलता है। वहाँ अपने इष्टदेवका विष्णु या शिवमें तादात्म्य करके शेषको उसके आश्रित बतानेकी रीति है। अथवा, उपास्यकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करनेके लिए उसे त्रिदेवोंसे परे एवं त्रिदेवों-

---

१. दे० **'रामोत्तरतापिनी'** ४:१, ५ २. 'विनय०' पद ७

का नियामक दिखाना भी साम्प्रदायिक पुराणोंकी विशेषता है। 'भागवत' वैष्णवोंका मान्य ग्रन्थ है, उसमें वर्णित कृष्णको देखें तो वे कभी विष्णुसे तादात्म्य करके दिखाये गये हैं तो कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनोंसे परे और तीनोंके नियामक भी माने गये है। कृष्ण और विष्णुका एकत्व तो सैकड़ों जगह प्रतिपादित है, अतः उसके उदाहरण प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता नहीं। कृष्ण त्रिदेवोंसे परे ब्रह्म ही हैं, ऐसे प्रसंगोंकी ओर संकेत करना आवश्यक है। शिवजीने कृष्णको परम ज्योतिः-स्वरूप परब्रह्म कहकर नाना विधिसे उनकी स्तुति की है[१]। अपने सहित ब्रह्मादि सभी देवोंको उनके आश्रित बताते हुए अन्तमें कहा है—'हे देव ! जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण, सर्वत्र समान, अत्यन्त शान्त, सबके सुहृद् , आत्मा एवं ईश्वर, अद्वितीय तथा जगत्‌के अधिष्ठान-रूप जो आप हैं, उन्हें हम संसारसे मुक्त होनेके लिए भजते हैं।' इसी प्रकार ब्रह्माने कृष्णकी जो स्तुति की है उसमें भी कृष्णको त्रिदेवोंसे परे ब्रह्म-स्वरूप ही दर्शाया गया है[२]। स्वयं वसुदेवने भी कृष्णके परब्रह्म-रूपकी महिमा गायी है[३]। 'भागवत'के अतिरिक्त 'देवीभागवत', 'ब्रह्मवैवर्तपुराण', 'नृसिंहपुराण', 'शिवपुराण' प्रभृति अन्य साम्प्रदायिक पुराणोंकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो वहाँ भी पुराणका प्रतिपाद्य देव कभी त्रिदेवोंमेंसे शिव या विष्णुके साथ तादात्म्य करके अन्य दोनोंका आश्रय बताया गया है अथवा त्रिदेवोंका नियामक, आदि कारण सिद्ध किया गया है।

गोस्वामीजीने रामको भी इन्हीं साम्प्रदायिक पुराणोंके ढंगपर वर्णित किया है। त्रिदेवोंमें रामका विष्णुसे अभेद माना गया है। राम और विष्णु-के सभी अवतारोंमें भी अभेद दिखाया गया है[४]। रामका त्रिदेवोंसे परे, उनका नियामक होना भी तुलसीकी रचनाओंमें मिलता है। देखिये—

---

१. दे० 'भागवत' १०:६३:३४, ४४

२. दे० 'भागवत' १०:१४:१–४०   ३. दे० 'भागवत' १०:८५:२–२०

४. दे० 'चतुर्थ परिच्छेद'

'जग पेखन तुम देखनिहारे।
विधि हरि सम्भु नचावनिहारे[१] ॥'

इतना ही नहीं, केवल एक राममें सृष्टि-रचनाका जो नैपुण्य, उस पालनकी जो क्षमता अथवा उसके संहारकी जो शक्ति है वह करोड़ सम्मिलित ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमें ही हो सकती है—

'......विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई
विष्नु कोटि सम पालनकर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहरता[२]'

वस्तुतः हरिको 'हरिता', विधिको 'विधिता' और शिवको 'शिवत देनेवाले राम हैं—

'हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता, जेहि दई
सोइ जानकीपति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई[३]'

जगद्वन्द्य जगदीश भगवान् रामके चरण-रजकी स्पृहा ब्रह्मा, विष्णु शिव सभी रखते हैं, इसीसे ये त्रिदेव भी रामकी उपासनामें लवलीन रह हैं। 'विनयपत्रिका' और 'मानस'में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जिनमें राम का परमात्मत्व सिद्ध करनेके लिए इसी ढंगका अवलम्बन किया गया है

सूर आदि हिन्दीके अन्य भक्त कवियोंमें भी इस प्रकारकी साम्प्रद यिकताका अभाव नहीं। 'सूरसागर'में ही त्रिदेववादके अनुसार कृष्णक प्रभुता, उनका ईश्वरत्व अथवा नियामकत्व अनेकानेक पदोंमें प्रदर्शित है

राम और शिवका सम्बन्ध पौराणिक परम्परानुसार

गोस्वामीजीने अपने समकालीन वैष्णवों और शैवोंकी संकीर्णत और काल-दोषके कारण उनमें चलनेवाले संघर्षको मिटाकर ऐक्य स्थापनाका जो उद्योग किया है उसकी चर्चा पहले ही कर चुके हैं। प्रस्तु प्रसंगमें यह दिखाना आवश्यक प्रतीत होता है कि तुलसीने राम औ

---

१. 'मानस' अयो० १२५. १

२. 'मानस' उ० ९१. ५, ६

३. 'विनय०' पद १३५, ३

शिवका जो सम्बन्ध माना है वह भी पौराणिक परम्परागत रीतिके अनुसार है। गोस्वामीजीने रामको विष्णु और उनके सभी अवतारोंसे अभिन्न माना है[1]। पौराणिक परम्परामें विष्णु एवं उनके सभी अवतारों और शिवके बीच जैसा सम्बन्ध गोस्वामीजीको दिखाई पड़ा उसीको उन्होंने राम और शिवके बीच दिखाया है। 'महाभारत'के 'खिल' अर्थात् परिशिष्ट 'हरिवंश'की प्रचीनता असन्दिग्ध है। इस ग्रन्थमें 'हरिहरात्मक' ऐसा स्तोत्र मिलता है जिसमें 'हरि' और 'हर'में गूढातिगूढ सम्बन्ध और दोनोंका अभेद बताया गया है। यह बात नीचेके उद्धरणसे स्पष्ट हो जायगी—

'रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः।
एक एव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यशः[2] ॥'

'हरिवंश'के अतिरिक्त 'भागवत', 'शिवपुराण' आदिमें भी विष्णु और शिवका पारस्परिक निकट सम्बन्ध मिलता है। देखिये, 'शिवपुराण'-में विष्णु किस प्रकार शिवको प्रभु आदि सम्बोधित कर रहे हैं—

'देवदेव महादेव शरणागतवत्सल।
कार्यकर्त्ता स्वभक्तानां विज्ञप्तिं शृणु मे प्रभो[3]॥'

हिमाचलकी भार्या मेनाको समझाते हुए विष्णुने कहा है कि उन्हीं शिवसे हम और ब्रह्मा सभी उत्पन्न हैं[4]।

'भागवत'में शिवका क्या स्थान है, यह निम्नोद्धृत वाक्यसे समझा जा सकता है—

'वैष्णवानां यथा शम्भुः[5]'

समुद्र-मन्थनके अनन्तर महाविष-पानके लिए प्रजापतिने शिवकी जो स्तुति की है उससे प्रकट होता है कि शिव सम्पूर्ण जगत्के बन्धन और मोक्षके अधीश्वर हैं, अतः विचक्षण पुरुष उन शरणागत-भयहारी जगद्गुरु-

---

१. दे० 'चतुर्थ परिच्छेद' २. 'हरिवंश' विष्णुपर्व अ० १२५:४१
३. 'शिवपुराण' पार्वतीखण्ड २९:४६ ४. वही, पार्वतीखण्ड ४४:९२
५. 'भागवत' १२:१३:१६

की पूजा करते हैं[1]; महादेव ही सर्वव्यापक प्रभु हैं, जब अपनी गुणमय शक्तिसे वे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करना चाहते हैं तो स्वयं ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इन नामोंको स्वीकार कर लेते हैं[2]। कैलासपति जिसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं तथा जो सब प्रकारसे भेदरहित है उस ब्रह्मरूप महादेवके परम तेजको सकल लोकपाल तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि देवेन्द्रगण भी नहीं जानते[3]; उस परम पुरुषके स्वरूपकी स्तुति करनेमें ब्रह्मादि भी पार नहीं पाते, अतएव भक्तगण उसके त्रिनयनादि विशिष्ट सगुण स्वरूपपर ही लुभाये रहते हैं[4]।

'भागवत'में ऐसे कई प्रसंग तो आये ही हैं जहाँ शिवने कृष्णको अपना उपास्य परब्रह्म-स्वरूप मानकर स्तुति की है। साथ ही ऐसे प्रसंगोंका भी अभाव नहीं है जिनमें परम भागवतों द्वारा शिव और पार्वतीकी नाना प्रकारसे पूजा और स्तुति की गयी है। भगवान् रुद्र वासुदेवको कैसे नमन करते हैं, यह देखिये—

'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते[5]॥'

उधर प्रियतम कृष्णकी प्राप्तिके हेतु शिवकी आराधनमें परम भक्त गोपिकाएँ भी संलग्न दिखायी गयी हैं[6]। इस शिवाराधनका वर्णन सूरदासने भी किया है—

'गौरी पति पूजति ब्रज नारि।
नेम धरम ते रहत क्रियाजुत बहुत करति मनुहारि।
इहै कहति पति देहु उमापति गिरधर नंद कुमार।
... ...
महादेव पूजति मन बच क्रम करि सूर स्याम की आस।'

सूरसागर १०:२१:३२

१. 'भागवत' ८:७:२२ २. वही, ८:७:२३, २४
३. वही, ८:७:३१ ४. वही, ८:७:३४, ३५
५. वही, ४:३:२३ ६. वही, १०, २२,१,४

बंगालकी एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित 'नारदपञ्चरात्र'में 'ज्ञानामृतसार' नामकी संहिता है। इसमें कृष्णकी महिमाका बड़ा गान है। नारदको भगवान्की पूजन-विधिका माहात्म्य और विस्तार जाननेकी प्रबल उत्कण्ठा हुई और भगवान्ने उन्हें आदेश दिया कि वे कैलास-निवासी शंकरके यहाँ जाकर अपनी जिज्ञासाका परितोष करें। नारदजी सप्त द्वार-युक्त कैलास-प्रासादकी ओर चल पड़े और वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने प्रत्येक द्वारपर कृष्ण-चरितकी लीलाओंको आद्योपान्त चित्रित देखा[1]। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कृष्ण और शिवका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, शिव परम भागवत हैं।

'पद्मपुराण'में शिवकी यह उक्ति भी ध्यान देने योग्य है—

'धन्याऽसि कृतपुण्याऽसि विष्णुभक्ताऽसि पार्वति।
दुर्लभा वैष्णवी भक्तिर्भागधेयं विनेश्वरी॥
राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्र नाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने[2]॥'

विष्णु या उनके अवतारों और शिवमें जिस घनिष्ठ सम्बन्धका ज्ञान प्राचीन पुराणादिकोंकी परम्परासे होता है उसका अत्यन्त संक्षेपमें संकेत करनेके उपरान्त हम तुलसीकी ओर बढ़ते हैं।

राम और शिवका उपास्योपासक सम्बन्ध स्वतः शिवके द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा[3]॥'

भगवान् शिव भक्तोंके लिए अवतीर्ण होनेवाले, भुवनपति, मायाधीश, व्यापक, ब्रह्मरूप रामके अनवरत चिन्तनमें तल्लीन रहते हैं। अपनी प्रियतमासे अपने इष्टदेवकी विविध लीलाओंका सतत निरूपण और गान करके वे निरन्तर पुलकित होते हैं। इस दम्पतीका सर्वस्व है राम-नाम—

१. भण्डारकरः 'वैष्णवइज्म एण्ड शैवइज्म' पृ० ५७
२. 'पद्म पु०' चतुर्थ खण्ड अ० २८१:२०, २१
३. 'मानस' बाल० ५०.८

'जासु नाम सर्बसु सदा सिव-पार्वतीको[1] ।'

गोस्वामीजीके अनुसार भक्तोंमें शंकरका प्रथम स्थान है। इसीसे उनका नाम प्रथम गिनाया गया है । देखिये—

'जानि है संकर, हनुमान, लषन, भरत राम भगति ।
कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लगति[2] ।'

और भी—

'राम रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ
जान्यो हर हनुमान लषन भरत[3] ।'

यों तो गोस्वामीजीने शंकरको रामके परम भक्तके रूपमें ही निरूपित किया है, तथापि शिव उन्हें जगद्वन्द्य, जगद्गुरु, जगदीश, अविनाशी, ज्ञान-गुण-राशि भगवान्के रूपमें भी मान्य हैं। उनका गुणगान 'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्' कहकर भी किया गया है। 'विनयपत्रिका'में शिवकी परब्रह्मत्व-प्रकाशक स्तुतियोंकी कमी नहीं। शिवके रुद्राभिन्न भैरव-रूपका वर्णन करते हुए तुलसीने रुद्र और रामका तादात्म्य भी कर दिया है—

'पाहि भैरवरूप रामरूपी रुद्र बन्धु गुर जनक जननी विधाता[4] ।'

जैसे भगवान् शिव अपने सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपोंमें अभिन्न रूपसे पूजित हैं, वैसे ही त्रिपुरारि-पियारी भी। रामकी वल्लभा श्रीजानकी स्वयं गिरिराजकिशोरीके दोनों रूपोंका गुण-गान और जय-जयकार करती हुई दिखाई पड़ती हैं[5] ।

राम और शिवके सम्बन्धका परिचायक यह संक्षिप्त विवरण यह स्पष्ट कर देता है कि तुलसीने इस विषयमें भी पौराणिक परम्पराका पालन किया

१. 'गीतावली' बा० गीत १२ २. वही, अयो० ८२ [१]
३. 'विनय०' पद २५१ ४. वही, पद ११
५. दे० 'मानस' बा० २३४.५–८

है। इसके विरुद्ध पुराणोंमें कहीं-कहीं शाप या विशिष्ट परिस्थिति आदिके कारण दो-एक ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं—

'भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्[1]॥'

... ...

'मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः[2]॥'

ऐसी उक्तियोंके प्रसंगको यथातथ्य रूपमें न समझनेके कारण विल्सन सदृश विद्वान्ने इन्हीं उक्तियोंके आधारपर सिद्ध किया है कि शैवों और वैष्णवोंका परस्पर विद्वेषात्मक सम्बन्ध चलता रहा है[3]। पर गोस्वामीजी-की कृतियोंमें इस प्रकारकी उक्तियोंका सर्वथा अभाव है। एक शब्द भी ऐसा न मिलेगा जो राम और शिवमें किसी प्रकारका संघर्ष प्रकट करता हो।

अन्य देवोंका दिग्दर्शन भी परम्परागत

विष्णु, राम, शिव प्रभृति देवोंके सम्बन्धमें गोस्वामीजी द्वारा पौराणिक रीतिका जैसा आश्रयण है उसका उल्लेख कर चुकनेपर अब कुछ अन्य देवों, यथा गणपति, सूर्य आदिके विषयमें कुछ विचार कर लेना चाहिये। गणपति और सूर्य, इन दोनों देवोंके उपासक दो सम्प्रदाय चले थे—गाणपत्य तथा सौर। सूर्योपासनाका आरम्भ यों तो वैदिक युगमें ही हुआ था, तथापि सौर-सम्प्रदायकी स्थापना चाहे जब हुई हो उसकी प्राचीनता अस-

१. 'भागवत' ४:२:२८, २९

२. वही, ४:२:२६

३. 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन रेलिजन्स आव् हिन्दूज़' पृ० ३,४

न्दिग्ध है। 'महाभारत'के वनपर्वमें यह कथा आयी है कि अपने पुरोहित धौम्यके उपदेशसे युधिष्ठिरने वनवासके दिनोंमें सूर्योपासना की और वर-दानमें उनसे वह ताम्र-पात्री प्राप्त की जिसके प्रभावसे उन्हें वनवासके बारह वर्षोंमें कभी अन्न-कष्ट नहीं सहना पड़ा। 'भविष्य, 'वाराह' और 'शाम्ब'पुराणमें आदित्य-पूजन-विधिका विशेष वर्णन मिलता है। इससे सौर-सम्प्रदायका प्राचीनत्व प्रमाणित होता है। इन ग्रन्थोंमें वर्णित है कि कुरुक्षेत्र-युद्धके उपरान्त श्री कृष्णके पुत्र शाम्ब कुष्ठ-रोग-ग्रस्त हुए, पीछे उन्होंने सूर्यदेवकी आराधना करके मुक्ति-लाभ किया[1]। 'दीघानिकाय'के 'बम्भजालसुत्त'[2]से पता चलता है कि बुद्धदेव सूर्य-पूजक ब्राह्मण ज्योतिषियों-को बड़ी अवज्ञाकी दृष्टिसे देखते थे। इससे भी सूर्योपासनाकी प्राचीनता सिद्ध होती है। पारसी धर्मशास्त्र अवस्ताका 'मिहरयस्त' भी सूर्योपासनाकी प्राचीनताका द्योतक है। इसी प्रकार कितने ही प्राचीन सिक्कोंपर सूर्यका चित्रांकन देखते हुए विद्वानोंने सौर-सम्प्रदायकी ख्याति और उसकी प्राचीनतापर गवेषणात्मक विचार प्रकट किये हैं[3]। आज दिन भी हिन्दू धर्मानुयायियोंमें कितने ऐसे हैं जो आदित्याराधनमें तत्पर रहते हैं। साम्प्रदायिक सूर्यके उपासकोंका मत यही है कि सूर्य ही परमब्रह्म हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव-रूप होकर सृष्टिकी स्थिति, पालन और लय, सभी करते हैं। वे एकमात्र उपास्य देवता है। 'भविष्योत्तरपुराण'का यह श्लोक देखने योग्य है—

'उदये ब्रह्मरूपस्तु मध्याह्ने तु महेश्वरः।
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रयीमूर्तिर्दिवाकरः॥'

अब देखिये, तुलसीने सूर्यको किस रूपमें अपनाया है—

'दीन दयाल दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा॥
हिम-तम-करि-केहरि कर-माली। दहन दोष दुख दुरित रुजाली॥

---

१. 'हिन्दी विश्वकोष' भाग २४ पृ० ४१७

२. वही, ,, ,, ,, ,,

३. दे० डा० वार्थ : 'रेलिजन्स आव् इण्डिया' पृ० २५७, ५८

कोक-कोक-नद-लोक-प्रकासी । तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी ॥
सारथि पंगु दिव्य रथ गामी । हरि-शंकर-विधि-मूरति स्वामी[1] ॥'

इस स्तुतिसे सूर्यका जो स्वरूप परिलक्षित हो रहा है वह सौर-सम्प्रदायके प्रतिकूल नहीं है। सूर्य ही षडैश्वर्ययुक्त भगवान् हैं, वे ही ज्ञान-स्वरूप हैं, त्रिदेव-मूर्ति-स्वरूप भी वे ही हैं, इत्यादि। 'मानस'में भी कई ऐसे प्रसंग आये हैं जो स्पष्टतया व्यञ्जित करते हैं कि गोस्वामीजी सूर्य-देवकी आराधनापर भी पूर्ण आस्था रखते थे।

गाणपत्य-सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा भी शैव अथवा वैष्णव सम्प्रदायकी भाँति किसी समय रही। 'ऋक्वेदसंहिता' [२:२३:१] और 'वाजसनेयिसंहिता' [१६:२२, २३] में गणपतिकी स्तुति मिलती है[2]। इससे प्रकट होता है कि गणपतिकी उपासना भी बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। तन्त्र-शास्त्रमें शिवादिकी उपासनाकी तरह गणपतिकी उपासना भी वर्णित है। यही नहीं, तन्त्र-शास्त्रमें एक और विशेष विधान दिखाई पड़ता है कि किसी देवताकी उपासना क्यों न की जाये, सर्वप्रथम, गणेशको पूजना पड़ेगा। ऐसा न करनेवाला पूजक अपने पूजनके इष्टफलसे वञ्चित समझा जाता है। पुराणोंमें भी गणेश-पूजनका प्रायः उल्लेख मिलता है। 'शिवपुराण'के चतुर्थ खण्डमें गणपतिकी कथाका विशेष रूपसे वर्णन है। इसी खण्डके सत्रहवें अध्यायमें दिखाया गया है कि गिरिजाने भी स्वयं गणपतिका व्रत रखा था। प्राचीन ग्रन्थोंके आरम्भमें हिन्दू लेखकोंकी सर्वप्रथम 'श्री गणेशाय नमः' करनेकी जो परिपाटी दिखाई पड़ती है, उससे भी यही संकेत मिलता है कि गणपति-वन्दनाने किसी न किसी रूपमें प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें स्थान पाया था। कालकी गतिसे इस सम्प्रदायका ह्रास होते-होते भी हिन्दुओंके हृदयमें गणेशके प्रति श्रद्धा और भक्ति वर्तमान है।

'गणेशाथर्वशीर्ष' प्रभृति साम्प्रदायिक उपनिषद्के अनुसार गणपति ही अनादि ब्रह्म हैं। गणेश ब्रह्मा, विष्णु शिवादि सब देवताओंके अधिपति,

---

१. 'विनय०' पद २ २. दे० 'हिन्दी विश्वकोष' भाग ६, पृ० २९३

गुणत्रयातीत, अवस्थाशून्य, देहत्रयरहित, त्रिकालके अधिकारी हैं। वह सभी प्राणियोंके मूलाधारमें अवस्थिति करते हैं। अपनी त्रिविध शक्तियोंसे सृष्टिकी स्थिति, पालन और लय करते हैं। वह सगुण और निर्गुणरूपसे दो प्रकारके हैं। योगी जन उनके सगुण रूपकी उपासना द्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल कर अन्तमें परमपद प्राप्त करते हैं, इत्यादि[1]।

तुलसीकी रचनाओंमें गणेशका जो प्रसंग मिलता है उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि गोस्वामीजीको गणपतिका अनादि देवत्व मान्य है। गणेशका यह परमत्व ही है जो शम्भु और भवानी भी उनका पूजन करते हुए दिखाये गये हैं—

'मुनि अनुसासन गनपतिहि, पूजेउ सम्भु भवानि।
कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि[2]॥'

गणपति सभी देवताओंमें प्रथम पूज्य हैं, इस ओर संकेत करते हुए बाबाजी कहते हैं—

'महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥'

ज्ञान और शुभ गुणोंके आगार करि-वर-वदन गणनायक ही सभी मनोभिलषित आकांक्षाओंको सिद्ध करते हैं, एतदर्थ उनके प्रसादकी आकांक्षा रखते हुए उनकी स्तुति 'मानस'के आरम्भमें इस प्रकार की गयी है—

'जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करि-बर-बदन।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ-गुन-सदन॥'

'विनयपत्रिका'के पहले पदसे प्रकट होता है कि गणपति ही 'सिद्धि-सदन' हैं, 'विद्यावारिधि' और 'बुद्धिविधाता' तो हैं ही। 'रामाज्ञा-प्रश्न', 'पार्वतीमंगल', 'जानकीमंगल' एवं 'रामललानहछू' आदिके आरम्भमें तुलसीने गणेशके अभिवादन द्वारा उनके प्रति अपनी पूज्यत्व-

---

१. दे० 'गणेशाथर्वशीर्ष उप०' अध्याय ६

२. 'मानस' बाल० १००.

बुद्धि और श्रद्धाका भाव व्यक्त किया है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी गणेशके पूजक और तद्विषयक प्राचीन परिपाटीके समर्थक थे।

गोस्वामीजीकी रचनाओंमें पवित्र नदियों और पुण्यस्थलोंका जो वर्णन मिलता है, वह भी प्राचीन पौराणिक परम्परानुसार ही है। पहले गंगाको ही लीजिये। 'ऋग्वेद'में जिन दो स्थलोंपर गंगाका नाम आया है उन्हें देखते हुए विद्वानोंने यही माना है कि गंगाका देवत्व और उनकी पतितपावनता आदिकी भावना वैदिक युगमें नहीं थी[१]। गंगा और उनके तटपर स्थित कुछ स्थानोंकी पवित्रता और दिव्य महिमाकी घोषणा वस्तुतः चौथी शताब्दी बी. सी. (ईसाके पूर्व)के ग्रीक लेखकोंकी साक्षीसे प्रकट है, जो इस विषयपर प्राचीनतम साक्षी हैं। 'महाभारत'में गंगाका माहात्म्यगान नाना प्रकारसे किया गया है[२]। स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा भी कर दी गयी है कि गंगासे बढ़कर अन्य तीर्थ नहीं—

'न गंगा सदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः[३]॥'

'महाभारत' ही नहीं, अन्यान्य पुराणों और इतिहासोंमें भी गंगाका बड़ा भारी माहात्म्य बताया गया है। 'बृहद्धर्मपुराण'के मध्यखण्डके १२ वें अध्यायसे २८ वेंतक गंगाके माहात्म्यकी बड़ी ही सुन्दर, उपदेशप्रद और विचित्र कथा मिलती है। 'गीता'का 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी[४]' भी गंगाकी महत्ताका द्योतक है। 'भागवत'के 'निम्नगानां यथा गंगा[५]' के द्वारा भी भगवती भागीरथीकी महिमा ही व्यक्त होती है। महर्षि वाल्मीकिने भी अपनी रामायणके बालकाण्डमें गंगाकी कथाका यथेष्ट विस्तार करते हुए उनकी महिमा गायी है। भारतीय संस्कृतिके प्रतिनिधि कवि कालि-

१. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड ऐथिक्स' भाग ६, पृ० १७८.
२. 'महाभारत' वनपर्व, ८५:८९, ९०, ९१, ९४, ९५, ९७
३. वही, 'महाभारत' वनपर्व, ८५:९७
४. 'गीता' १०:३१
५. 'भागवत' १२:१३:१६

दासने भी अपने काव्योंमें प्रसंगतः और 'कुमारसम्भव'के दशम सर्गमें विशेषतः[१] गंगाकी अमोघ तारणशक्ति, उनकी परमपावनता एवं उनकी उत्पत्ति आदिकी चर्चा करके अपनी वाणीको कृतार्थ किया है।

प्राचीन पौराणिक कथाओंके अनुसार गंगाकी उत्पत्ति, उनकी पावन कीर्ति तथा उनके माहात्म्य आदिमें गोस्वामीजीका अटल विश्वास था। वे गंगाको 'देवापगा'के रूपमें शिवके मस्तकपर विराजमान मानते हैं—

'वामांगे च विभाति भूधरसुता, देवापगा मस्तके।'

ईश-शीशपर शोभित होनेवाली 'जह्नु-बालिका' 'सुर-नर-नाग-वन्दिता' होकर तीन नामोंसे तीन लोकमें विचरती है, 'पुण्यरासि' 'पापछालिका' है, यह भी उन्हें मान्य है[२]। उन्होंने विष्णु भगवान्‌के चरण-कमल और ब्रह्माके कमण्डलुसे सम्बद्ध गंगाकी कथा भी ग्रहण की है[३]। सगर-सुत-तारिणी गंगाकी कथा भी गोस्वामीजीको मान्य है, इसका संकेत 'पुन्य कृत सगर[४]-सुत' तथा 'सगर-सुवन-साँसति-समनि[५]' आदिमें मिलता है। गंगा साक्षात् ब्रह्मद्रव[६] रूप हैं, इसका आभास भी मिलता है।

गंगाकी पाप-निर्हरण-शक्तिके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। उसके स्मरणमात्रसे पाप एवं त्रिविध ताप दूर हो जाते हैं; वे सभी अभीष्ट फलोंको देनेवाली हैं[७]; वे स्वर्ग-सोपान और ज्ञान-विज्ञान-प्रद भी हैं; मोहमद-मदन नाशिनी तो हैं ही[८]; जिस देशमें गंगा बहती हो वह धन्य है[९]। कलिके प्राणियोंके उद्धारके लिए तो गंगा ही एकमात्र आश्रय है—

१. 'कुमारसम्भव' दशम सर्ग श्लो० २८–३१
२. दे० 'विनय०' पद १७ ३. दे० 'विनय०' पद १८
४. दे० 'विनय०' पद १८ ५. ,, ,, ,, २०
६. 'कवितावली' उ० छ० १४६
७. 'विनय०' पद १९, 'मानस' अयो० ८६. ४
८. वही, पद १८, 'कविता०' उ० छ० १४५ ९. 'मानस' उ० १२६.५

'तो बिनु जगदंब गंग, कलियुग का करित।
घोर भव-अपार-सिंधु तुलसी कैसे तरित[१]।'

गंगाके अतिरिक्त यमुना, सरस्वती, सोन, सरयू, गोदावरी, मन्दाकिनी प्रभृति नदियोंका भी गोस्वामीजीने जो माहात्म्य दिखाया है वह भी पौराणिक परम्परानुगत है।

अयोध्या, चित्रकूट, रामेश्वर, काशी, नैमिषारण्य एवं प्रयाग आदि तीर्थोंका गुणगान भी पौराणिक ढंगका है। उदाहरणके लिए प्रयागको ही लीजिये। 'महाभारत'के वनपर्वके ८५वें अध्यायमें श्लोक ७० से ८९-तक बड़े ही जोरदार शब्दोंमें प्रयाग-माहात्म्य वर्णित है। प्रयाग तीर्थ-राज कहा गया है, वहीं सब देवोंका वास बताया गया, यज्ञ और वेद भी मूर्ति धारण करके वहीं रहते हैं—

'ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो॥'

'महा०' वन० ८५:८०

इस तीर्थराजकी यात्रा और नामस्मरणसे पुरुष मृत्यु-भय-रहित होकर पापोंसे मुक्त हो जाता है[२]; जो साठ करोड़ तीस हजार तीर्थ कहे गये हैं वे सबके सब प्रयागमें निवास करते हैं[३] इत्यादि। गोस्वामीजीने 'मानस'में प्रयागका जो रूपक बाँधा है उससे प्रयागका अमित माहात्म्य व्यक्त है—

'को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ।
कलुष-पुंज-कुंजर मृगराऊ[४]॥'

तीर्थराज प्रयाग ही 'सकल कामप्रद'[५] है। इसके दर्शनमात्रसे 'जनम-कोटि अघ' भागते हैं[६]। 'अपराध अगाध' मिटते हैं[७]।

---

१. 'विनय०' पद १९
२. 'महाभारत' वन० ८५:८१
३. वही, वन० ८५:८५
४. 'मानस' अयो० १०५.१
५. वही, अयो० २०२.६
६. वही, लं० ११९.७
७. 'कविता०' उ० छ० १४४

अवतारवादका प्राचीन साम्प्रदायिक सिद्धान्त भी वैष्णव-धर्म और उसके धार्मिक वातावरणको एक नवीन सञ्जीवनी शक्तिदायक सिद्ध हुआ है। इसीके आधारपर भक्तिका सतत स्यंदमान अमृतमय स्रोत प्रवाहित हुआ है। यह उसीका प्रताप है कि हमने निर्गुणके सगुण तथा विराट् रूपको भी अपनी चक्षुरिन्द्रियका विषय बना लिया है। उसे सुन्दरतम व्यक्तिके रूपमें देखकर उसकी रूप-मधुरिमाको अपनी आँखोंमें भर लिया है। उससे अपना निकट सम्बन्ध जोड़ लिया है। अपनी बोधवृत्ति एवं रागात्मक वृत्ति सभीको उसमें रमा दिया है।

भागवत धर्मका मूल स्रोत 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। वहींसे हमें अवतार-वादका मञ्जुघोष सुनाई पड़ता है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥' ४:७,८

अवतारवादके सिद्धान्तकी व्यञ्जना तुलसीकी रचनाओंमें प्रायः मिलती है। रामके अनेकानेक अवतारोंमें गोस्वामीजी पूर्ण आस्था रखते हैं। इसीसे—

'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा'॥[1]

जैसी उक्तियाँ मिलती हैं।

यदि कोई सन्देह करे कि इन नाना भाँतिके अवतारोंकी आवश्यकता क्यों हुई तो उसका समाधान यों है—

'जब जब होइ धरमकी हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहीं बरनी। सीदहिं बिप्र-धेनु-सुर-धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन-पीरा[2]॥'

---

१. 'मानस' बाल० ३२. ६

२. वही, बाल० १२०. ६-८

अस्तु, रामके अवतारके विषयमें गोस्वामीजी कहते हैं—

'विप्र-धेनु-सुर-सन्त-हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार[1]॥'

जब भगवान् निजेच्छया सुर-महि-गो-द्विजके हेतु अवतीर्ण होते हैं तो उनके सगुणोपासक भक्तगण मोक्षादि सुखोंको त्यागकर उनके सान्निध्यमें ही सुखका अनुभव करते हैं—

'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर-महि गो-द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ-सुख त्यागि[2]॥'

निस्सन्देह पीड़ित भक्तों, गो, ब्राह्मण आदि वर्गोंकी विपत्ति हटानेके लिए भगवान् अवतार लेते हैं, पर साथ ही उनके अवतारका एक बड़ा रहस्यपूर्ण कारण उनकी भक्त-प्रेम-वशता भी है जिसमें उनके भक्तगण उनकी लीलाओंका गान कर संसार-सागरसे सहजमें ही पार हो जायँ। अवतारके विषयमें गोस्वामीजी अपनी रचनाओं, विशेषतया 'मानस', 'दोहावली[3]' 'कवितावली[4]' और 'विनय पत्रिका[5]'में संकेत करते गये हैं।

साम्प्रदायिक एवं पौराणिक कथाएँ और वर्णन

तुलसीकी रचनाओंमें बहुत-सी ऐसी कथाओंके प्रसंग और समावेश मिलते हैं जिनके आधारपर भी उनकी साम्प्रदायिकता और पौराणिकता अवगत होती है। गज, गणिका, अजामिल एवं प्रह्लाद आदिकी कथा-को ही देखें तो 'कवितावली'के उत्तरकाण्ड, 'विनयपत्रिका' तथा 'मानस' आदि रचनाओंमें इन कथाओंकी नजीरें सैकड़ों बार दुहरायी गयी हैं। बात यह है कि 'भागवत' सदृश साम्प्रदायिक वैष्णव पुराणोंमें इन

---

१. वही, बाल० १९२.
२. 'मानस' किष्कि० २६.
३. दे० 'दोहावली' दो० ११३, १२३
४. 'कविता०' उ० छ० १२२
५. 'विनय०' पद ५२, ९८, २४८

कथाओंका बहुत महत्त्व है, एतदर्थ गोस्वामीजी जैसा परम भागवत भक्त इन दृष्टान्तोंको बार-बार दुहरानेमें क्यों हिचकता ?

भगवान्‌के नाम, धाम, गुण अथवा माहात्म्य व्यक्त करनेवाली गृध्रराज, काकभुशुण्डि, अहल्या, द्रौपदी, नारद, वाल्मीकि आदिकी कथाओंके अतिरिक्त अन्यान्य और भी कितनी ही पौराणिक कथाओंका संकेत बाबाजीने दिया है। वैष्णव साम्प्रदायिक कथाओंके अतिरिक्त शैव-सम्प्रदायकी कतिपय शैव पुराणान्तर्गत कथाओं, यथा सती-चरित्र, कामदहन, तारकासुरवध, जलन्धर-वध, पार्वतीमंगल आदिका उल्लेख भी तुलसीने अपने 'मानस'में किया है। गुण-निधि द्विजकी साम्प्रदायिक कथाका, जो 'शिवपुराण'के कई अध्यायोंमें वर्णित है, संकेत भी 'विनय-पत्रिका'की एक स्तुतिमें है—

'कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज।
होइ प्रसन्न दीन्हेहु सिव पद निज[1]।'

दुर्गाकी स्तुतिमें चण्ड, मुण्ड, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, आदि दैत्योंकी ओर इंगित करना भी गोस्वामीजी नहीं भूले हैं[2]।

निष्कर्ष

साम्प्रदायिकता-विषयक इस संक्षिप्त विवेचनको देखते हुए हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि तुलसीमें जिस साम्प्रदायिकताका दर्शन होता है वह ऐसी कट्टरता और संकीर्णतासे विनिर्मुक्त है जो हिन्दू समाजमें पारस्परिक संघर्ष, विद्वेष और पार्थक्यकी जड़ें जमाती हैं। प्राचीन पौराणिक संस्कृतिके अभ्युदय-कालमें जिन सम्प्रदायोंकी उद्भावनाएँ हुईं, तुलसी उन सबके सात्त्विक और तात्त्विक स्वरूपमें पूर्ण आस्था रखनेवाले थे। यही कारण है कि प्राचीन परम्पराके अनुरूप ही वैष्णव सम्प्रदायसे लेकर शैव, शाक्त, गाणपत्य तथा सौर प्रभृति सभी सम्प्रदायोंके इष्टदेवोंको

१. 'विनय०' पद ७

२. 'विनय०' पद १५

उच्चसे उच्चतम स्थानोंपर उन्होंने बिठाया है। सभीके चरणोंमें अपना शीर्ष नवाकर उनकी वन्दनाएँ की हैं और उनसे यही याचना की है कि वे सब प्रसन्न होकर उन्हें (तुलसीको) रामका अनन्य भक्त बना दें। रामका अनन्य भक्त होनेकी स्पृहा और राम-भक्तिको सर्वोपरि माननेका आग्रह, यही एक ऐसी बात है जो तुलसीकी विशेष साम्प्रदायिकता कही जा सकती है। परन्तु उदार दृष्टिसे विचार करनेपर निखिल विश्वमें अनेक धर्मोंके धुरन्धरोंमें ऐसे बहुतेरे व्यक्ति न होंगे, जो इस प्रकारकी साम्प्रदायिकतासे आबद्ध न हों।

साम्प्रदायिकता अपने विकृत रूपमें ही एक प्रकारकी सकीर्णताकी द्योतक है। तभी तो एक सम्प्रदाय दूसरेसे अपना पार्थक्य मानता है, यही नहीं, एक दूसरेके प्रति तटस्थ न होकर विद्वेष और ईर्ष्या आदिके वात्याचक्र कभी-कभी चलाता है। फलतः साम्प्रदायिक संघर्षोंके अवसर आये दिन भी आते ही रहते हैं। तुलसीकी साम्प्रदायिकता ऐसे वातावरणको जन्म देनेवाली नहीं है। अपनी विश्व-संग्राहिका-बुद्धि तथा अपने महान् विचक्षण उदार हृदयके कारण उन्होंने अपनी साम्प्रदायिकताको वह व्यापक रूप दिया है जिसमें आर्य सनातन धर्मको किसी भी सात्विक रूपमें मान कर चलनेवाले सम्प्रदायोंकी अन्तरात्माका सुसम्बद्ध समन्वय है।

पंचम परिच्छेद

तुलसीकी परम्परागत भक्ति

प्राचीन आचार्योंके द्वारा भक्तिका जो सांगोपांग स्वरूप कतिपय भक्ति-सूत्रों, पुराणों तथा अन्यान्य भक्ति-ग्रन्थोंमें निरूपित किया गया है वही तुलसीने भी सर्वांशमें ग्रहण किया है। जिस अनपायिनी प्रेम-भक्तिको शुक, सनकादि, नारद, शेष, ध्रुव, प्रह्लादप्रभृति पौराणिक भक्तोंने अपना परम लक्ष्य माना है उसीको गोस्वामीजीने भी। यही कारण है कि इनकी भक्ति-भावना आचार्योंकी पारम्परिक भक्ति-भावनासे सर्वथा अभिन्न है।

भक्तिकी परिभाषा

शाण्डिल्यके कथनानुसार भक्ति है, 'परानुरक्तिरीश्वरे[1]'। भक्त प्रह्लाद भी कहते हैं—

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु[2]।'

महर्षि नारदका भी ऐसा ही विचार है—'सा त्वस्मिन प्रेमस्वरूपा[3]।' इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि परमेश्वरमें अतिशय प्रेमका होना ही भक्ति है। कोई भक्ति-ग्रन्थ देखिये, सर्वत्र ही भक्तिकी आधारशिला भगवद्-विषयक अनन्य प्रेम ही मिलेगा। 'गीता'में श्रीकृष्णने स्वीकार किया है कि जो भक्त मुझमें मन जमाकर और प्राणोंको लगाकर परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथा कहते हुए (उसीमें) सदा सन्तुष्ट और रममाण

---

१. 'शाण्डिल्यसूत्र' ॥२॥ २. 'विष्णुपुराण' १ : २ : १७

३. 'नारदसूत्र' ॥२॥

रहते हैं, समाधानसे रहकर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं उनको मैं ही ऐसी बुद्धिका योग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लें[1]। हमारे भक्त कविने भी इन्हीं विचारोंका नाना प्रकारसे प्रतिपादन किया है। उसने चातकको प्रेमीका प्रतीक मानकर उसके सहज स्वभावकी मार्मिक एवं व्यापक अभिव्यक्तिके द्वारा अनन्य और एकांगी प्रेमका स्वरूप निर्दिष्ट करके साधकको परमात्माके प्रति स्वाभाविक प्रेम करनेका मार्ग प्रदर्शित किया है।

सामान्यतः प्रेमके दो स्वरूप होते हैं—सकाम प्रेम तथा निष्काम प्रेम। इन दोनोंमें महान् अन्तर है। भगवान्‌के प्रति निष्काम प्रेमकी जननी है—प्रेमाभक्ति। यदि भगवत्प्रेम सकाम हुआ तो भले ही वह भक्ति-की संज्ञा ग्रहण कर ले, पर वह अविरल, विशुद्ध प्रेम-भक्ति नहीं। इसे अन-पायिनी भक्तिकी संज्ञा तभी प्राप्त होती है जब यह सर्वतोभावेन स्वार्थरहित ही नहीं, अपितु परमार्थ-सिद्धिकी कामनासे शून्य भी हो—

'स्वारथ परमारथ रहित, सीता राम सनेहु।
तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत एहु[2]॥'

गोस्वामीजीने मीनका वारिसे अनन्य तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध[3] दिखाकर भी उपासकोंको सच्चे भगवत्प्रेमका स्वरूप सुझाया है। उन्होंने 'चातकछत्तीसी'में प्रेमकी अनन्यता, अटलता और अमरताका साकार स्वरूप निर्दिष्ट करके भी यही चिताया है। चातकके ही प्रसंगमें जलदके द्वारा किये गये नाना उत्पातोंका उल्लेख करके उन्होंने यह भी लक्षित कर दिया है कि निष्काम प्रेम आपत्तियोंके पहाड़ोंसे टकरानेपर भी टससे मस नहीं होता।

प्रियके प्रति अनन्य प्रेम होनेपर प्रिय ही सर्वस्व हो जाता है। उसके अतिरिक्त संसारमें दूसरा कोई स्वप्नमें भी नहीं दिखाई पड़ता। संसार

---

१. 'गीता' १० : ९, १०
२. 'दोहावली' दो० ६०
३. 'दोहावली' दो० ५७

क्या, स्वर्गापवर्गकी श्रेष्ठतम विभूति भी तुच्छ लगती है। अनन्य प्रेमका लक्षण नारदने भी यही कहा है—

'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता[१]।'

तुलसीने राममें अपनी ऐसी ही अनन्यता प्रकट की है। देखिये—

'एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास[२]॥'

प्रेमकी अनन्यताके हेतु श्रद्धा और विश्वास परमावश्यक तत्त्व माने गये हैं। उपासक श्रद्धा और विश्वासके निगूढ़ समन्वय बिना भक्तिका रहस्य नहीं जान सकता। गोस्वामीजीने 'मानस', 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली'के उत्तरकाण्डमें रामभक्ति-प्राप्तिके लिए श्रद्धा और प्रतीति-प्रीतिका होना अनिवार्य ठहराया है—

'बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।'
... ... 'मानस' पृ० ३२१

'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।'
... ... 'मानस' पृ० ४४९

'तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥'
... ... विनय० पद १७३

'प्रीति प्रतीति राम-पद-पंकज सकल सुमंगल खानी।'
... ... वही, पद १९४

प्रीति और प्रतीतिका चरमोत्कर्ष ही पत्थरकी भी पूजा कराने लगा—

'प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे।'
... ... 'कविता०' उ० १२८

---

१. 'नारदसूत्र' ॥१०॥

२. 'दोहावली' दो० २७७

'प्रेम बदौं प्रह्लादको जिन पाहन ते परमेसुर काढ़े।'
... ... 'कविता०'उ० १२७

भक्तिके भेद

भक्तिके हेतु सहायक तत्त्व तो होते ही हैं, क्रिया विधिके अनुसार उसके भेद भी होते हैं। नारदके मतसे भक्ति उभय प्रकारकी मानी गयी है—प्रेमरूपा भक्ति और गौणी या गुणाश्रिता। 'भागवत'में नवधा भक्तिका विधान है। पहले अन्तिम दोनों प्रकारके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जायगा।

गौणी भक्ति गुण-भेदसे अथवा आर्तादि-भेदसे तीन[1] प्रकारकी होती है। जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यसे कर्मफलोंको भगवान्में समर्पण करनेके रूपमें, अथवा जिसमें पूजन करना कर्तव्य है यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की जाती है, वह सात्त्विकी है[2]। जो भक्ति विषय, यश और ऐश्वर्य-कामनासे भेद-दृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमा आदिके पूजनके रूपमें की जाती है वह राजसी[3] है। और जो भक्ति क्रोधसे हिंसा, दम्भ और मत्सर लेकर भेद दृष्टिसे की जाती है वह तामसी है[4]। इसी तरह आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुष त्रिविध उपासनासे तीन प्रकारकी भक्ति करते हैं, अर्थात् भक्तोंके भाव-भेदसे गौणी भक्तिके तीन भेद होते हैं।

गौणी भक्ति स्वयं साध्यरूप नहीं होती; इसके साधनोंसे यद्यपि साक्षात् भगवत्प्राप्ति नहीं होती, फिर भी इस भक्तिके साधक भी सुकृती ही होते हैं और उन्हें भी निरन्तर इसका अनुष्ठान करते-करते अन्तमें साक्षात् भगवत्स्वरूपा प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

गौणी भक्तिके भेदोंमें उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्वकी भक्ति श्रेयस्कर होती है[1]। अर्थात् तामसीकी अपेक्षा राजसी और राजसीकी अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति उत्तम है। इसी प्रकार अर्थार्थीकी भक्तिकी अपेक्षा जिज्ञासु-

---

१. 'नारदसूत्र'॥५६॥ 'गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।'

२. 'भागवत'३:२९:१० । ३. वही, ३:२९:९ । ४. वही, ३:२९:८

की और इन दोनोंकी अपेक्षा आर्तकी भक्ति विशेष कल्याणकारिणी होती है[1]। गौणी भक्तिके सम्बन्धमें यही दो-चार शब्द कहनेके अनन्तर, अन्तमें हमें यह संकेत करना है कि 'मानस'में इस भक्तिका स्वरूप भी इंगित किया गया है। भक्तोंके भेदानुसार आर्त, जिज्ञासु और अर्थीका उल्लेख तो है ही। सात्त्विकी, राजसी और तामसी त्रिविध उपासकोंका निर्देश भी है।

नवधा भक्ति भी गौणी भक्तिकी भाँति साधन-रूप ही होती है। इसीसे यह वैधी भक्ति भी कही जाती है। इसका सतत अभ्यास करते-करते भक्त उत्तरोत्तर परमात्मोन्मुख होता जाता है और अन्तमें साध्य-स्वरूपा प्रेम-लक्षणा भक्ति प्राप्त करता है। नवधा भक्तिके नौ प्रकार ये हैं[2]—भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभाव आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा उनका चरण-सेवन, पूजन, वन्दन करना, उनके प्रति दास्य भाव तथा सख्य भावकी निष्ठा रखना अथवा अपनेको समर्पण कर देना।

अब यदि हम नवधा भक्तिके नवों प्रकारोंके स्वरूप, विधि, हेतु और फलको दृष्टिमें रखते हुए उन सबका समावेश तुलसीकी रचनाओंमें दिखाना चाहें तो अनभीष्ट विस्तार होगा। एतदर्थ स्थालीपुलाक न्यायसे दो ही तीन प्रकारकी चर्चा करेंगे।

पहले श्रवण भक्तिका स्वरूप देखिये—

'जिन्हके स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे[3]॥'

अवतरणसे स्पष्ट हो रहा है कि भगवत्कथा-रूप प्रेमामृतके निरन्तर प्रवाहसे कर्णोंको परिपूर्ण होनेपर भी सदैव अपूर्ण मानना और पुनः पुनः उस श्रवणामृत भगवत्कथाकी आकांक्षा करते रहना ही श्रवण-भक्ति है।

---

१. 'नारदसूत्र' ॥५७॥ 'उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वा श्रेयाय भवति।'

२. 'भागवत' ७:५:२३ 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः...सख्यमात्मनिवेदनम्।'

३. 'मानस' अयो० १२६. ४, ५

इसकी विधिका पालन भी पूर्ण रूपसे दिखाया गया है। भरद्वाज मुनि परम विवेकी याज्ञवल्क्यके मुखसे कथाश्रवण करना चाहते हैं, अतः वे क्या करते हैं, सर्वप्रथम यह देखिये—

'सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥
नाथ एक संसउ बड़ मोरे। करगत वेद तत्व सब तोरे॥
कहत मोहिं लागत भय लाजा। जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा[1]॥'

इसी प्रकार राम-कथाकी श्रवणाभिलाषिणी पार्वतीने भी शिवके चरणोंमें सिर झुकाकर परम विनीत शब्दोंमें अपनी जिज्ञासा प्रकट की है[2]। गरुडने भुशुण्डिके पास जाकर जब राम-कथा सुननेकी अपना प्रबल उत्कण्ठा प्रकट की तो पहले उन्होंने भी काककी नाना प्रकारसे विनय की और तदुपरान्त बड़े ही आर्तभावसे कथा सुनी। तात्पर्य यह कि इन भक्तोंका ऐसा आचरण दिखाकर श्रवण-भक्तिकी विधिका व्यावहारिक निर्देश किया गया है।

श्रवण-भक्तिका प्रधान हेतु महापुरुषोंका सत्संग है[3]। यही गोस्वामी-जीको भी मान्य है—

'बिनु सत संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग[4]॥'

उद्धरणमें 'हरिकथा' श्रवण-भक्तिका और 'दृढ़ अनुराग' प्रेम-लक्षणा भक्तिका द्योतक है। इससे स्पष्ट है कि श्रवण-भक्ति प्रेमलक्षणा भक्तिकी ओर ले जानेका साधन भी है। यह मनको परम विश्राम-दायिनी, साथ ही कानोंको परमानन्द-प्रदायिनी है, संसार-सागरसे पार

१. 'मानस' बा० ४४. ५–८
२. दे० वही, बा० १०९. १–३
३. 'नारदसूत्र' ॥२९॥; ॥४२॥
४. 'मानस' उ० ६१

ले जानेका हेतु भी यही है[1]। जहाँ कहीं अवसर मिला है, श्रवण-भक्तिका माहात्म्य गानेमें भी गोस्वामीजी नहीं पिछड़े हैं।

श्रवण-भक्तिके पश्चात् बीचके तीन-चार प्रकारोंको छोड़ अर्चन-भक्तिकी ओर आइये। भगवान्के किसी रमणीय स्वरूपका बाह्य सामग्रीसे, उनके किसी अपने अभिलषित स्वरूपकी मानसिक प्रतिमा बनाकर मानसिक सामग्रीसे, अथवा सर्वभूतोंमें परमात्माको स्थित जानकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य विविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उनका सेवन-पूजन करना और उनका तत्त्व रहस्य एवं प्रभाव आदि समझ-समझकर प्रेम-मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है। इसके लिए बाह्य पूजनके उपकरण अनेक हैं, यथा, धूप, दीप, नैवेद्य आदि। इनका संकेत देखिये—

'प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
... ...
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाइ देहिं बहु दाना[2]॥'

मानसिक अर्चनका निर्देश भी किया गया है। विकारग्रस्त मनके द्वारा मानसिक अर्चन कदापि नहीं हो सकता। सत्य-तत्त्व-दर्शी, विकार-शून्य हृदयवाला ही भगवान्का सामीप्य प्राप्त करता है। देखिये—

'काम क्रोध मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया॥
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। ....॥
..........................। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी[3]॥'

बाह्य एवं मानसिक दोनों प्रकारसे अर्चनभक्ति करनेवाले भक्तका भी एकमात्र यही लक्ष्य होता है—

---

१. मानस, उ० ५२. १–४

२. 'मानस' अयो० १२७.१,२,७ ३. 'मानस' अयो० १२८.१,४,६,७

'सबु करि माँगहिं एक फल रामचरन रति होउ[१]।'

गोस्वामीजीने शबरी और भुशुण्डिके द्वारा अर्चनभक्तिका बड़ा ही मनोज्ञ दृश्य उपस्थित किया है[२]। अर्चनार्थ यह आवश्यक नहीं है कि बहुमूल्य वस्तुएँ ही विविध विधि-विधानपूर्वक अर्पित की जायँ, वहाँ तो केवल सच्चे भावकी अपेक्षा होती है, सामान्यसे सामान्य वस्तु यदि परम श्रद्धा और प्रेमसे अर्पित की गयी है तो भगवान् उसे अनर्घ ही मानकर ग्रहण करते हैं। श्रीमुखकी उक्ति है—

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः[३]॥'

तुलसीने इस आप्तवाक्यका बड़ा ही सुन्दर एवं व्यावहारिक दृष्टान्त भी दिखाया है। कोल-किरात-जैसे असभ्य वनचारी लोग अर्चनकी कोई विधि नहीं जानते तो केवल दोना भर-भरकर कन्द-मूल-फल ही भगवान्के चरणोंमें अर्पित करते हैं, पर उनके अर्पणमें श्रद्धा और प्रेम लबालब भरे हैं। देखिये—

'कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥
... ...
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने[४]॥'

इन सब असभ्योंको और कोई सेवा-विधि नहीं मालूम थी तो वे यही सेवा करना चाहते थे—

'हम सब भाँति करबि सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड़ गिरि कन्दर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥

---

१. वही, अयो० १२८

२. द्रे० वही अरण्य० ३३. १०,३४ उ० ५६.४,६

३. 'गीता' ९:२६

४. 'मानस' अयो० १३२. २, ५, ६, ७

जहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब।
सर निरझर सब ठाउ देखाउब[1]॥'

प्रेमके भूखे भगवान् किरातोंके इन्हीं वचनोंसे तुष्ट हो गये—

'रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा[2]॥'

अब अन्तिम प्रकार अर्थात् आत्मनिवेदन-भक्तिपर भी कुछ विचार कर लीजिये। परमात्माके तत्त्व, रहस्य, महिमा और प्रभावको समझकर ममता और अहंकार-शून्य होकर तन-मन-धन-जन-सहित अपने आपको और सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्म-समर्पण कर देना ही आत्मनिवेदन-भक्ति है। यह शरण-भक्ति भी कही जाती है। इसमें लीन भक्त सोते-जागते प्रत्येक दशामें भगवच्छरणकी आकांक्षा करता है। देखिये—

'जागत सोवत सरन तुम्हारी। ……………………॥
तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं[3]॥'

भगवच्चरणोंमें अपने आपको सर्वभावेन समर्पित कर चुकनेपर भक्त सांसारिक वैभव, सामाजिक बन्धन तथा पारिवारिक मोह-माया आदिसे उपरत हो जाता है, उसके हृदयमें एकमात्र राम ही रमते हैं[4]। ऐसे भक्तकी निःस्पृहता भी निःसीम होती है। वह ऐहिक विभवोंका परित्याग ही नहीं करता, अपितु आमुष्मिक सुखोंको भी ठीकरी मानता है। उसे सर्वत्र ही अपने हृदय-वल्लभ राम दिखाई पड़ते हैं—

'सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना[5]॥'

भक्त जब अपने आपको ईश्वरार्पण कर देता है तो उसका अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। वह ईश्वरेच्छाका पूर्ण अनुगामी हो जाता है। भगवान् स्वयं गुण-ग्राही हैं, विप्र-धेनुकी रक्षाके लिए अवतीर्ण

१. 'मानस' अयो० १३४. ५—७ २. वही, अयो० १३५. १
३. 'मानस' अयो० १२८. ४, ५ ४. वही, अयो० १२९. ५, ६
५. वही, अयो० १२९. ७

होते और संसारमें धर्म-नीतिकी प्रतिष्ठा करते हैं, अतः उनकी शरणमें स्थित भक्त भी उनकी ऐसी रुचिका पालन करते हैं। देखिये—

'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।
बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कर जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका'[1] ॥'

प्रपन्न भक्त भगवान्‌के गुणोंका निरन्तर स्मरण तो करता ही रहता है, साथ ही उनके अपार गुणोंके समक्ष स्वयंको गुणहीन, दीन, मलीन आदि समझकर बार-बार शरणागतिकी याचना करता है[2]।

भगवत्प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो, इसके लिए आत्मनिवेदन-भक्ति कैसे की जाय, इस विषयमें गोस्वामीजी श्रीमुखसे कहलाते हैं—

तजि मद मोह कपट छल नाना। .... ॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कइ ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बट डोरी॥
सम दरसी इच्छा कछु नाहीं। हरषु सोकु भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे[3] ॥'

आत्मनिवेदन-भक्तिका फल भी जिज्ञास्य है। 'विष्णुसहस्रनाम'में कहा गया है—'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींको परायण मानता है, उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है और वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है[4]'; 'गीता'के कतिपय श्लोकोंमें आत्म-निवेदन (शरण भक्ति) का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए उसके परम फलकी प्रशंसा की गयी है[5]। भगवान्‌ने अपने परम भक्त अर्जुनको अपनी शरणमें ही आनेका आदेश भी किया है—

१. 'मानस' अयो० १२९. १, २ २. वही, अयो० १२९.३
३. 'मानस' सुन्दर० ४७. ३—७ ४. 'विष्णुसहस्रनाम' श्लोक १२०
५. दे० 'गीता' ७:१४, ९:३२, ३४

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्[१]॥'

शरणागति भक्तिका फल एवं माहात्म्य गोस्वामीजीने भी बहुत प्रबल दिखाया है। उन्होंने अपने इष्टदेवके स्वरूप-चित्रणमें उनकी शरणागत-वत्सलताका जितना मार्मिक, व्यापक और सूक्ष्म निर्देश किया है उतना किसी अन्य विशेषताका नहीं। यह भी प्रकारान्तरसे सिद्ध करता है कि वे आत्मनिवेदन-भक्तिके उत्कट समर्थक थे। रामके मुखारविन्दसे शरणागतिकी ऐसी महिमा कहलाकर भी उन्होंने इसके विषयमें अपना व्यक्तिगत विचार प्रकट किया है—

'कोटि बिप्र अघ लागइ जाही। आये सरन तजउँ नहिं ताही[२]॥'

इतना ही नहीं, 'जो नर होइ चराचर द्रोही, आवइ सभय सरन तकि मोहीं[३]; कहकर जब भगवान् घोरातिघोर आततायीको भी प्रसन्न होकर उद्धार पानेका आश्वासन देते हैं तो आत्मनिवेदन-भक्ति करनेवाले अनन्य भक्तका क्या कहना है, उसे तो भगवान् अपनी सहज बानिके कारण अपनाते ही हैं—

'एक बानि करुना-निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की[४]॥'

आत्मनिवेदन-भक्तिके प्रतापसे क्षणमात्रमें मनुष्यके हृदयके जन्म-जन्मान्तरके कुसंस्कारोंका नितान्त अभाव और सुसंस्कारोंकी प्रतिष्ठा हो जाती है, अतः गोस्वामीजी विश्वास दिलाते हैं—

'बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगै न आधु।
पाहि कृपानिधि! प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु[५]॥'

---

१. वही, १८ : ६२
२. 'मानस' सुन्दर० ४३. १
३. वही, सुन्दर ४७. २
४. वही, अरण्य० ९. ८
५. 'विनय०'पद १९३

प्रेम-भक्तिका स्वरूप

प्रेमकी गहराईकी दृष्टिसे सामान्यतः उसकी तीन अवस्थाएँ या संज्ञाएँ ठहरती हैं—गौण प्रेम, मुख्य प्रेम एवं अनन्य प्रेम। इनका तारतम्य समझनेके लिए एक उदाहरण लीजिये। गाय नन्हें बछड़ेको छोड़ जब वनमें जाकर घास चरती है तो उसका घासमें प्रेम गौण, बछड़ेमें मुख्य और अपने लिए अनन्य होता है। वह बछड़ेके लिए घासका और अपने लिए बछड़ेका त्याग कर सकती है। गौण प्रेमवाला भक्त विषयोंकी ओर आकृष्ट हो जाता है। मुख्य प्रेमवाला भगवच्चिन्तन सांसारिक कर्तव्य कर्मोंके साथ बिना किसी अवरोधके करता है और अनन्य प्रेमीके समक्ष जागतिक विषय और सांसारिक कर्मोंका कोई महत्त्व नहीं होता। अनन्य प्रेमीकी चित्तवृत्ति ज्ञान, कर्म आदिके आश्रयसे रहित और चारों ओरसे स्पृहाशून्य होकर अनन्य भावसे एकमात्र भगवान्में ही रम जाती है, ऐसी चित्तवृत्तिवाला भक्त ऐहिकामुष्मिक सुख-सामग्री ही नहीं, अपितु मोक्ष आदिसे भी विरत होकर एकमात्र अपने प्रेमास्पद भगवान्में लीन रहता है। उसकी सारी ममता और आसक्ति सर्वत्रसे सर्वथा हटकर केवल प्रियतम भगवान्में प्रतिष्ठित हो जाती है। ऐसा भक्त संसारके सबसे बड़े भय मरण-भयसे अपनेको मुक्त कर लेता है। उसे न मरनेकी चिन्ता रहती है और न आवागमनकी परम्पराका कोई खटका। इसीसे अनन्य भक्तिको नारदजीने अमृतस्वरूपा कहा है—'अमृतस्वरूपा च[1]।'

गोस्वामीजीने भी भक्तिको अमृत-स्वरूपा ही माना है और बार-बार जन्म लेकर ऐसी ही भक्ति करनेकी वांछा की है—

'पूरन राम सुप्रेम पियूषा। .... ॥
राम भगत अब अमिय अघाहू। कीन्हिहु सुलभ सुधा बसुधाहू[2]॥'

... ...

१. 'नारद सूत्र' ॥३॥

२. 'मानस' अयो० २०७. ५, ६; नोट : भक्तिके अमृतत्वके लिए और भी देखिये 'विनय०' पद १३२, 'कृष्ण गीतावली' पद ५१

'जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ[1] ।'

मुक्तिकी उपेक्षाका हेतु है अपने उपास्यके चरित्रोंके अवलोकन, सान्निध्य आदिके अनेक अवसरोंकी उपलब्धि—

'अस बिचारि हरि भगत सयाने ।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने[2] ॥'

❀ ❀ ❀

'जाके पद-कमल लुब्ध मुनि-मधुकर
बिरत जे परम सुगतिहुँ लुभाहिं न[3] ।'

जगत्‌के अध्यासकी इस अनन्यताके कारण निवृत्ति हो जाती है, अतः भक्ति आनन्ददायिनी कही गयी है । अनन्य प्रेमी केवल आनन्दकी अनुभूति करता है, दुःखसे उसका छुटकारा हो जाता है । तुलसीदासजीने इसीसे अनन्य भक्तिको स्थल-स्थलपर 'अनुपम सुख मूला', 'सब सुख खानि', 'सुखदायिनी' आदि बताया है[4] और उसे अन्तःकरणके नाना विकारोंका उन्मूलक ठहराया है—

'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई ।
अभि अन्तर मल कबहु न जाई[5] ॥'

... ...

'रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै[6] ।'

वासनाओंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जानेके कारण अनन्य भक्ति निर्हेतुकी होती है और सच्चा भक्त निष्काम प्रेमका ही इच्छुक रहता है—

'चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु रिधि सिधि, बिपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग नाथ पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई[7] ॥'

... ...

---

१. 'मानस' किष्कि० ९. ११
२. वही, उ० ११८.७
३. 'विनय०' पद २०७
४. 'मानस' अरण्य० १५.४; सुन्दर० ३३.१; उ० ८४.३; ११८.१०
५. वही, उ० ४८.६
६. 'विनय०' पद ८२
७. वही, पद १०३

'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम।
तिन्हके हृदय-कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम[1]॥'

इन्हीं बातोंको लक्ष्य करके नारदने अनन्य भक्तको सिद्ध, अमर और परितुष्ट कहा है–'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' अनन्य भक्त न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषय-भोगोंकी प्राप्तिका उत्साह होता है[2]। भक्त अपने प्रेमकी पराकाष्ठामें स्थित प्रेम भक्तिकी पूर्ण प्राप्ति हो जानेपर उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, आत्माराम बन जाता है[3]।

अनन्य प्रेमीके इसी स्वरूपका अंकन तुलसीदासजीने सुतीक्ष्णके चरित्रमें किया है—

'मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा।
पुलक सरीर पनसफल जैसा[4]॥'

गोस्वामीजीने 'मानस'के उत्तरकाण्डमें भक्ति और ज्ञानका भेद निरूपित करते हुए इसीसे भक्तिको 'चिन्तामणि' कहा है—

'परम प्रकास रूप दिन राती।
नहि कछु चहिय दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।
लोभ वात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।
हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहीं जाहीं।
बसइ भगति जाके उर माहीं[5]॥'
... ...

---

१. 'मानस' अरण्य० १६
२. 'नारदसूत्र' ॥५॥ ३. वही, ६
४. 'मानस' अरण्य० ९. १५ ५. वही, उ० ११९. ३—६

'ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्हके बस सब जीव दुखारी ॥
राम भगति मनि बस उर जाके । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके[१] ॥'

प्रेम-भक्तिकी आसक्तियाँ

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावोंके भेदसे उद्रेक-जन्य अनेक प्रकारकी आसक्तियाँ हो सकती हैं । नारदने ग्यारह प्रकारकी आसक्तियोंका उल्लेख किया है जिनमेंसे चार वे ही हैं जो भक्तिके चार प्रमुख सम्प्रदायोंमें गृहीत हैं । अन्योंका मेल 'भागवत'की नवधा भक्तिसे बहुत कुछ बैठ जाता है । ये आसक्तियाँ ये हैं—१. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति, ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति, ११. परम विरहासक्ति ।

प्रेम-भक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए भक्तोंमें ये सभी आसक्तियाँ स्वयमेव रहती हैं जैसा कि व्रजकी गोपिकाओंमें दिखाई पड़ता है । प्रेम-भक्तिमें सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण ही गोपियोंका उदाहरण शाण्डिल्य[२], नारद[३] आदि भक्तिके सभी आचार्योंने प्रस्तुत किया है । हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भक्तमें उक्त विविध आसक्तियोंमेंसे सबका उदय आकस्मिक और एककालिक नहीं होता, प्रत्युत अपनी-अपनी चित्तवृत्ति, शक्ति और रुचिके अनुसार एक या एकाधिक आसक्तियाँ परमात्माके प्रति प्रेमका कारण होती हैं । ये आसक्तियाँ एक ही प्रेम-बीजसे प्ररूढ भिन्न-भिन्न वल्लरियाँ हैं, अतः इनमेंसे किसी एक आसक्तिको निम्न स्तरकी और किसीको उच्च स्तरकी कहना आसक्त भक्तोंके प्रति अनुदारता समझी जाती है ।

गोस्वामीजीने सब प्रकारकी आसक्तियोंके भक्तोंके दृष्टान्त उपस्थित किये हैं, यथा, गुणमाहात्म्यासक्त भक्तोंमें नारद, भुशुण्डि एवं शिव; रूपासक्त

---

१. वही, उ० ११९. ८, ९

२. 'शाण्डिल्यसूत्र' ॥१४॥ ३. 'नारदसूत्र' ॥२१॥

भक्तोंमें मिथिलाके नर-नारी, राजा जनक तथा दण्डकारण्य के ऋषि; पूजासक्त भक्तोंमें भरत; स्मरणासक्त भक्तकी कोटिमें प्रह्लाद, ध्रुव सनकादि; दास्यासक्त भक्तोंमें हनुमान् एवं लक्ष्मण; सख्यासक्त भक्तोंमें निषाद, सुग्रीव और विभीषण; कान्तासक्त भक्तोंमें जानकी; वात्सल्यासक्त भक्तोंमें मनु, शतरूपा, दशरथ तथा कौसल्यादि; आत्मनिवेदनासक्त भक्तकी कोटिमें विभीषण एवं हनुमान्; तन्मयतासक्त भक्तोंमें सुतीक्ष्ण; परम विरहासक्त भक्तोंमें महाराज दशरथको समझना चाहिये।

प्रश्न उपस्थित होता है कि भक्ति इनमेंसे सबकी समष्टि है या इनमेंसे प्रत्येक भक्ति है अर्थात् भक्तिका स्वरूप-लक्षण क्या है। अनेक आचार्योंने अनेक प्रकारसे इसका निरूपण किया है। 'नारदसूत्र'में कुछ मतोंका निर्देश किया गया है। व्यासका मत है कि 'भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है[1]। गर्गाचार्यके अनुसार 'भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है[2]।' 'शाण्डिल्य'के मतमें 'आत्मरतिके अविरोधी आलम्बनमें अनुराग होना ही भक्ति है[3]।' स्वयम् नारदने अपना मत यों दिया है—'अपने सब कर्मोंको भगवान्‌को अर्पण करना और उनका थोड़ा-सा विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है[4]।'

'गीता'में सब प्रकारके योगियोंमें भक्तियोगीको परमोत्कृष्ट माना गया है—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः[5]॥'

महाभीषण संग्राममें जहाँ तीक्ष्ण सरसन्धानके अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं रह जाता, भगवान् भक्तको यही उपदेश देते हैं—'तू सर्वकाल-

१. 'नारदसूत्र' ॥१६॥ 'पूजादिष्वनुराग इति पराशर्यः'
२. वही, ॥१७॥ 'कथादिष्विति गर्गः'
३. 'नारदसूत्र' ॥१८॥ 'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः'
४. वही, ॥१९॥ 'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।'
५. 'गीता' ६:४७

सदैव ही (बिना विराम) मेरा स्मरण कर और (स्मरण करता हुआ मेरे लिए ही) युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करनेसे तू निश्चय ही मुझमें आ मिलेगा[१]।'

प्रेम-भक्तिके लक्षण

भक्ति प्रेमका ही एक स्वरूप है। प्रेममें जिस प्रकार एकनिष्ठता होती है उसी प्रकार भक्तिमें भी। दोनोंमें अर्थात् प्रेम और भक्तिमें अन्तर यही है कि प्रेमी अपने प्रियपर एकाधिकार चाहता है, भक्त एकाधिकार नहीं चाहता। वह किसी दूसरेको भक्ति करनेसे रोकता नहीं। पर इतना अवश्य चाहता है कि मेरा आराध्य मेरे प्रति आकृष्ट हो। वस्तुतः भक्तिमें प्रेमके अतिरिक्त अन्य भावका भी मिश्रण होता है, इसीसे भक्तिको भावकी दृष्टिसे प्रेम और श्रद्धाका सम्मिलित रूप कहा गया है। निष्कर्ष यह कि जैसे प्रेमके अन्य स्वरूपोंसे रसावस्था उत्पन्न होती है उसी प्रकार भक्तिसे भी। भक्त अपने आलम्बन उपास्यके धर्ममें (उसके द्वारा किये जगत्-कल्याणके कर्ममें) लीन होता है। जैसे शृंगारादि रसोंमें चित्तकी द्रुति होती है उसी प्रकार भक्तिमें भी। इसीसे मधुसूदन सरस्वतीने स्पष्ट घोषित किया है कि—

'द्रुतस्य भगवद्धर्म्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते[२]॥'

धारावाहिकता वैसी ही होती है जैसी मीनकी जलमें। भगवत्प्रेमके दृष्टान्तमें मीन-वृत्तिका उल्लेख गोस्वामीजीने बार-बार किया है—

'मीन तें न लाभ-लेस पानी पुन्य-पीन को,
जल बिनु थल कहा मीचु-बिनु मीन को[३]॥'

... ...

१. गीता ८:७।

२. 'भक्तिरसायन' प्रेमोल्लास, श्लोक ३ ३. 'विनय० पद १७८

'राम भगति जल मम मन मीना।
किमि विलगाइ मुनीस प्रवीना[1] ॥'

... ...

'सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन-उदधि अपारि।
देख्यो सुन्यो न कबहुँ काहु कहुँ मीन-वियोगी बारि[2] ॥'

प्रेम-भक्तिके प्रमुख साधन

अब भक्ति-निष्पादक साधनोंको देखिये। भक्ति-शास्त्रोंके अनुसार भक्तिके समस्त साधन दो प्रकारके दिखाई पड़ते हैं—अन्तरंग साधन और बहिरंग साधन। शाण्डिल्यने ज्ञानको अन्तरंग साधन और ज्ञानेतर विधान जिनमें गौणी भक्ति विशेष रूपसे आती है, बहिरंग साधन कहा है। भक्तिकी निष्पत्ति यद्यपि भगवद्विषयिणी बुद्धिसे होती है[3], तथापि श्रवण, मनन, निदिध्यासनके अंगोंके अनुष्ठान भी अपेक्षणीय माने गये हैं—'तदंगानां च[4]।' साँराश यह कि श्रवण, मनन आदि तथा इनके उपांग गुर्वनुगमन, वेद-निष्ठा, शम, दम आदिके अनुष्ठानसे जो ज्ञानोदय होता है वह अविरल प्रेमाभक्तिका निष्पादक होता है। नारदने विषय-त्याग एवं संग-त्याग दोनोंको भक्तिका साधन ठहराया है—

'तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च[5]।' त्यागके सम्बन्धमें स्मरण रखनेकी बात है कि विषय ही नहीं, विषयासक्तिका भी त्याग होना चाहिये। 'महाभारत'में भी कहा गया है—

'त्यागः स्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च[6]।'

---

१. 'मानस' उ० ११०.९
२. 'कृष्णगीतावली' पद २७
३. 'शाण्डिल्यसूत्र' ॥२७॥
४. वही, ॥२८॥
५. 'नारदसूत्र' ॥३५॥
६. 'महाभारत' शान्ति० १९२:१७

विषयोंका त्याग तो सहज है पर विषयासक्तिका त्याग अत्यन्त दुष्कर। अतः जबतक विषयोंके साथ विषयासक्तिका त्याग नहीं होता तबतक भगवच्चरणोंमें आसक्ति नहीं हो सकती।

यह तो त्यागकी बात हुई। अब संग्रहका विचार कीजिये। अखण्ड भजनकी वृत्ति भक्तिका उच्च साधन है। 'नारदसूत्र'में कहा गया है— 'अव्यावृतभजनात्'[१]। भजनकी महत्ता पतञ्जलिने भी स्वीकार की है— 'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य सत्कारसेवितो दृढभूमिः[२]।' 'गीता' भी कहती है—

'अनन्यचेताः सततं यो माम् स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः[३]॥'

अखण्ड भजनके अतिरिक्त भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, कथा आदिके कथन, श्रवण और अनुमोदन भी अनन्य भगवत्प्रेम-प्राप्तिके साधन हैं[४]। सत्संग, साधु-कृपा और विशेषतः भगवत्कृपा प्रेमाभक्तिके सर्वोत्कृष्ट साधन तो हैं ही[५]।

इन परम्परा-प्राप्त साधनोंकी गोस्वामीजीने पूर्ण प्रतिष्ठा की है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'की यथार्थता स्वीकार करते हुए उन्होंने पहले पाञ्चभौतिक शरीरको ही अनिवार्य साधन कहा है[६]; विविध देह-धारियोंमें भी मानव-देहकी महत्ता[७], उसकी दुर्लभता[८] और सर्वसाधन-परायणता[९]का निर्देश भी मार्मिकतासे किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने जैसे स्थूल शरीर सदृश उपयुक्त साधन कहा है, वैसे ही उपयुक्त सूक्ष्म मन (भाव) भी नितान्त आवश्यक साधन माना है[१०] और यह विचार

१. 'नारदसूत्र' ॥३६॥
२. 'योगदर्शन' १ : १४
३. 'गीता' ८ : १४
४. 'भागवत' ११ : २६ : २९
५. 'नारदसूत्र' ३८, ३९, ४०, ४१, ४२. 'भागवत' १:१८:१३, ११:१२:१,२
६. 'मानस' उ० ९५. ५ 'तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना.'
७. दे० 'विनय' पद ८४, १९७, १९९, २००, २०२.
८. 'मानस' उ० ४२. ७, ८ 'विनय' पद १०२, २०१.
९. 'मानस' उ० १२०. १०
१० दे० वही, बाल० २८. ४, दोहावली दो० ४५५

पुनः-पुनः दुहराया है कि भगवान्‌में निष्काम प्रेम और अनन्य विश्वास ही जनको प्रेमाभक्तिका अधिकारी बनाता है[1]। इसी बातको यों भी कह सकते हैं कि उनकी दृष्टिमें भगवान्‌के प्रति निष्काम प्रेम और अटल विश्वास ही प्रेमाभक्तिके प्रमुख साधन हैं।

ज्ञान-वैराग्य-सदृश अपूर्व साधन भी भगवत्प्रेमोन्मुख होनेके लिए परम आवश्यक हैं। इनके बिना हृदय-गत विकारोंका उच्छेद नहीं होता। विकारोंका ध्वंस हुए बिना हृदय निर्मल नहीं होता। वासनाओंसे पंकिल हृदयमें भगवच्चरणोंका अनुराग नहीं उदय होता। इस तथ्यका संकेत देखिये—

'जानिय तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा[2]॥'

सारे विषयोंकी जड़ मद, मोह, लोभ आदि शत्रुओंका उन्मूलन जब-तक नहीं होता तबतक भक्ति-स्वरूपा विजय-श्रीकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः इसकी नितान्त आवश्यकता है कि हम वैराग्यरूप ढाल और ज्ञानरूप तलवारसे साधन-सम्पन्न होकर इन शत्रुओंका शीर्षोच्छेद करके भक्तिरूप विजयश्री प्राप्त करें—

'बिरति चरम असि ग्यान, मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि[3]॥'

आस्थापूर्वक सच्छास्त्रोंका पारायण एवं निरन्तर मनन करनेसे भी भगवत्प्रेमकी पुष्टि होती हैं, एतदर्थ वेद, पुराण आदि भी भक्तिके साधन माने गये हैं। गोस्वामीजीने इन साधनोंका परस्पर समन्वय करते हुए बड़े ही चित्ताकर्षक ढंगसे एक रूपकमें यों व्यक्त किया है—

---

१. 'मानस' उ० ८८. ७, ८

२. 'मानस' अयो० ९२. ४, ५

३. वही, उ० १२०

'पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥'
मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी[१]॥'

सत्संगको गोस्वामीजीने कैसा साधन ठहराया है, यह भी देखिये—

'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥
अस बिचारि जो कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा[२]॥

सत्संगसे भगवान्‌की कथा-वार्ता सुननेका सुअवसर आता है, हरि-कथाके श्रवणामृत-पानसे मोहादि दूर होते हैं और तत्परिणामस्वरूप हृदयके निर्मल होनेपर भगवत्प्रेम स्वयमेव दृढ़ हो जाता है[३]। सत्संग बोध-वृत्तियोंको जगानेमें भी सहायक होता है[४]। पारस पत्थर जैसे कुधातु-को काञ्चन बना लेता है वैसे ही सत्संग शठ, असज्जनको सज्जनरूपमें परिणत कर देता है[५]। गोस्वामीजीने सत्संग-माहात्म्य और उसके लक्ष्यकी मार्मिक अभिव्यक्ति अनेकानेक प्रसंगोंमें की है। विस्तारभयसे यहाँ दो-चार ही पंक्तियाँ उद्‌धृत की जाती हैं—

'बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलै द्रवै जब सोई॥
जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादि पाप-रासि नसाइये॥
जिन्हके मिले सुख-दुख समान अमानतादिक गुन भये।
मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये[६]॥

... ...

'सतसंगति दुरलभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा[७]॥'

१. वही, उ० ११९. १३–१५
२. वही, उ० ११९ १८,१९
३. 'मानस'उ० ६१.; 'दोहा०'दो० १३२
४. वही, बा० २. ७
५. वही, बा० २. ९
६. 'विनय०'पद १३६ [१०]
७. 'मानस'उ० १२२. ६

उपर्युक्त कतिपय साधनोंके अतिरिक्त नामजप, तीर्थाटन, वर्णाश्रमधर्म-पालन और सदाचरण आदिके द्वारा भी भक्तिका उत्तरोत्तर विकास होता है। फलतः ये सब भी भक्तिके साधनोंमें परिगणनीय होनेके कारण समर्थित हैं। गौणी भक्ति और नवधा भक्ति भी प्रेमाभक्तिके साधन हैं, कदाचित् इसे दुहरानेकी आवश्यकता न होगी।

भगवद्भक्तिपरायण बनानेमें यद्यपि उक्त अनेकानेक साधन सहायक होते हैं, पर जबतक भगवत्कृपाका आश्रय नहीं मिलता तबतक उत्कृष्टतम साधन भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। इसीलिए तुलसीने भगवत्कृपाको सर्वोपरि ठहराया है। 'विनयपत्रिका'के अनेक पद इसके प्रमाण हैं[१]।

प्रेमाभक्तिकी सर्वश्रेष्ठता और सुलभता

भगवत्कृपा एवं उत्तमोत्तम साधनोंके सतत अनुष्ठान द्वारा प्राप्त भगवद्भक्ति यद्यपि साधारण वस्तु नहीं है, तथापि इसकी सुलभता असन्दिग्ध है। यही इसकी विलक्षणता है। इस ओर प्राचीनसे प्राचीन भक्तिके आचार्य संकेत करते चले आये हैं[२]। फिर तुलसीदासजी ऐसा प्रबोधन क्यों न करते—

'सुलभ सुखद मारग यह भाई।'

... ... 'मानस'उ० ४४.२

'रघुपति भगति सुलभ सुखकारी।'

... ... 'विनय०'पद १३६ [१०]

भक्ति सबके लिए कितनी सुलभ है, इसका अनुमान करना हो तो यह देखिये—

---

१. देखिये पद ८९, १०२, ११३, ११४, ११६, ११९, १२३।

२ देखिये 'नारदसूत्र' ॥ ५८ ॥ 'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ'; 'गीता' ८:१४ 'तस्याहं सुलभः पार्थ'

'अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह[१]।'

... ...

'भोजन करिय तृप्ति हित लागी।
जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई।
को अस मूढ़ न जाहि सुहाई[२]॥'

विचारणीय है कि भक्तिकी ऐसी सुलभता कहाँतक तर्क-प्रतिष्ठ है? चञ्चल एवं कुचेष्टित मन स्वप्नावस्थामें भी न जाने कहाँ-कहाँ विग्रह करने चला जाया करता है, उसकी जाग्रदवस्थाकी दौड़-धूपके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। यदि मनके समक्ष उसे रिझाने या रमानेवाली वस्तु हों तो बहुत सम्भव है कि वह इधर-उधरकी चौकड़ी भरना छोड़ दे। ज्ञानादिकी साधनामें मनको रमानेवाला कोई आलम्बन नहीं रहता अतः निरवलम्ब मन अपनी चालसे बाज नहीं आता। यद्यपि साधक विवेकके कशाघातसे उसका नियन्त्रण करता रहता है, फिर भी वह कभी न कभी अवसर पाकर खन्दकमें डाल ही दिया करता है। इस प्रकार गिर-गिरकर उठना बड़ा कष्टकर होता है। इसी तथ्यका संकेत गोस्वामीजीने यों किया है—

'ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका[३]॥'

पर भक्तिमार्गमें मनको निराश्रय नहीं रहना पड़ता, यहाँ तो उसे लुभानेवाले इष्टदेवका अनन्याधार प्राप्त ही रहता है। साथ ही कठिन साधनात्मक विधि-विधानोंकी अपेक्षा भी नहीं होती—

'कहहु भगति पथ कवनु प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा[४]॥'

१. 'दोहावली' दो० ८०. २. 'मानस' उ० ११८. ९, १०

३. 'मानस' उ० ४४. ३

४. वही, उ० ४५. १

ज्ञान-मार्ग दुरूहताके कारण दुर्लभ और भक्ति-मार्ग सरलताके कारण सुलभ है। ज्ञान-मार्गकी दुरूहता और असाध्यताका तथा भक्ति-मार्गकी सरलता एवं सुलभताका मार्मिक चित्रण क्रमशः 'ज्ञानदीपक'[१] और 'भक्ति-चिन्तामणि'[२] के रूपकोंमें देखते ही बनता है।

भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता भी शास्त्र-विरुद्ध नहीं। भगवान्ने उद्धवसे कहा है—'जिस प्रकार मेरी दृढ़ भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग आदि वशमें नहीं कर सकते। सन्तोंका प्रिय आत्म-रूप मैं केवल श्रद्धायुक्त भक्तिके द्वारा वशमें हो सकता हूँ, मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्र बनानेमें समर्थ है[३]।' प्रेमाभक्तिको प्राप्त कर लेनेवाले भक्तकी दृष्टिमें ज्ञान, वैराग्य आदिसे प्राप्त फल कोई महत्त्व नहीं रखता[४]। 'गीता', 'शाण्डिल्यसूत्र', 'नारदसूत्र' प्रभृति शास्त्रोंमें भी भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका उल्लेख मिलता है[५]।

अब देखना यह है कि हमारे कविने भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताके सम्बन्धमें क्या विचार प्रकट किये हैं। सर्वप्रथम निम्नांकित दो अवतरण देखिये—

'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना[६]॥'

... ...

'भगति सुतंत्र सकल गुन खानी[७]।'

दोनों अवतरण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भगवान्को वशमें करनेका सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—भक्ति। ज्ञानादि इसके अधीन हैं। गोस्वामीजी भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करते हैं, यह उन उक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है

१. 'मानस' उ० ११६—११८ २. 'मानस' उ० ११९.१—१५
३. भागवत ११:१४:२०, २१ ४. 'भागवत' ११:२०:३१—३४
५. देखिये 'गीता' ११:५३, ५४, ६:४६, ४७, १८:२८, 'शाण्डिल्यसूत्र' ॥२२॥'नारदसूत्र' ॥२५॥
६. 'मानस' अरण्य० १५. १, २ ७- वही, उ० ४४.५

जो विविध प्रसंगोंमें यही ध्वनित करती हैं कि भगवान्‌का परम प्रिय भक्त ही है ।

एक दूसरे ढंगसे भी भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिष्ठित की गयी है। उसे 'सकल सुकृत फल'[१] कहा गया है और दिखाया गया है कि—

'जप तप नियम जोग निज धरमा।
स्रुति संभव नाना सुभ करमा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगि धर्म कहत स्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद-पंकज प्रीति निरंतर।
सब साधन कर फल यह सुंदर[२]॥'

भक्तिको समस्त साधनोंका मधुर फल बताकर उसकी सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित करनेवाले ऐसे प्रसंग तुलसीकी रचनाओंमें भरे पड़े हैं।

गोस्वामीजीने यह भी दिखाया है कि भक्ति-विमुख साधककी साधना उसके लिए वैसे ही व्यर्थ है जैसे रुग्णके लिए नाना प्रकारके भोग[३]; ऐसा साधक स्वप्नमें भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता[४]; वह अधोगतिका अधिकारी होता है[५]; उसकी अमित प्रभुता, ऐश्वर्य आदिकी प्राप्ति व्यर्थ है[६]; भक्ति-शून्य होनेपर अन्यान्य साधनोंसे प्राप्त सुख वैसे ही फीके होते हैं जैसे राम-रस (लवण) बिना विविध व्यञ्जनोंके स्वाद[७]। बड़ीसे बड़ी साधना करके कोई साधक महत्तम हो जाय, पर यदि वह भक्तिरहित है तो उसकी सारी

१. 'मानस' बा० २६.२
२. वही, उ० ४८. १—४
३. वही, अयो० १७६.५
४. वही, अयो० २५४.१
५. वही, अरण्य० १.५—७
६. वही, अरण्य० २२.५
७. वही, उ० ८३. ५

साधना और महत्ता किसी कामकी नहीं[1]। प्रेमाभक्तिके अभावमें वे अन्यान्य साधनोंको क्या समझते हैं, यह भी देखिये—

'बेद बिदित साधन सबै, सुनियत दायक फल चारि।
राम प्रेम बिनु जानिए, जैसे सर-सरिता बिनु बारि[2]॥'

प्रेमाभक्तिके फलके आधारपर भी उसकी सर्वश्रेष्ठता ठहरायी गयी है। ज्ञान, वैराग्य प्रभृति साधनोंसे जिस मुनिदुर्लभ फलकी प्राप्ति नहीं होती है वही फल अविरल प्रेमाभक्तिके द्वारा सहजमें ही मिल जाता है[3]। इसी भक्तिकी प्राप्तिके अनन्तर भक्त अनायास ही भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदिका मर्म समझ जाता है[4]; उसके हृदयकी दुर्वासनाएँ स्वयं ध्वस्त हो जाती हैं; दुर्लभ कैवल्य परम पद भी उसके चरणों पर लोटने लगता है, पर वह मुक्तिका निरादर करके भक्तिमें लीन रहता है[5]। उसका हृदय भगवान्‌की विहारस्थली बन जाता है, फलतः मनको परम विश्रामकी प्राप्ति होती है[6]।

प्रेमाभक्तिकी स्वयंसाध्यता

भक्ति-शास्त्रोंमें भगवत्प्रेमियोंकी ऐसी अनेकानेक उक्तियाँ सन्निविष्ट हैं जो स्पष्टतः प्रकट करती हैं कि भक्ति पुमर्थवादियोंके अर्थ, धर्म, काम, मोक्षसे पृथक् स्वतन्त्र पञ्चम पुरुषार्थ है। जैसे चतुर्वर्गकी सिद्धिके लिए कर्म, योग, ज्ञान आदिकी सरणि बतायी गयी है वैसे ही भक्तिके लिए भी विविध साधन अपेक्षित हैं। इन साधनोंकी चर्चा पहले ही हो चुकी है। यहाँ केवल यह दिखाना अभीष्ट है कि प्रेमाभक्तिमें लवलीन भक्तका लक्ष्य अर्थात् साध्य भी भक्ति ही है। भक्तिकी स्वयंसाध्यताका उल्लेख

---

१. 'कविता०' उ० छ० ४२.   २. 'विनय०' पद १९२.
३. 'मानस' उ० ८३. १, २   ४. वही, उ० ८४. ३,४
५. वही, उ० ११८.३-७
६. वही, सुन्दर० ४६.; लं० ७८.

'नारदसूत्र'में यों मिलता है—'फलरूपत्वात्'[१], 'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः'[२] वस्तुतः प्रेमाभक्ति फलरूप है, साधन नहीं। जो भक्ति ज्ञानादिकी साधन मानी जाती है वह गौणी भक्ति अथवा नवधा भक्ति है, प्रेमाभक्ति नहीं। प्रेमाभक्ति तो समस्त साधनोंका फल है, गोस्वामीजीको यही मान्य है—

'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना करम धरम ब्रत नाना। संजम नेम ग्यान बिग्याना॥
भूत दया गुरु द्विज सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरि भगति भवानी[३]॥'

प्रेमाभक्तिमें लेन-देनका भाव नहीं रहता। भक्तिके बदले उत्तम गति मिलेगी, इस भावनाको लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्तके लिए भक्तिका आनन्द ही उसका फल है। वह भगवान्‌के अमित प्रेमके अतिरिक्त और कुछ चाहता ही नहीं। उसकी भक्तिका फल केवल भक्ति ही है, अन्य फलोंको तो वह फूटी आँख भी नहीं देखता। इसीसे गोस्वामीजीने कहा है—

'परहु नरक, फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ।
तुलसी राम सनेहको जो फल सो जरि जाउ[४]॥'

भगवच्चरणोंमें अनुरक्त भक्तको अपने आराध्यसे पृथक् रहकर परमपद भी प्राप्त हो तो वह उससे कदापि सुखी नहीं रह सकता। इसके विपरीत नरकमें भी रहकर यदि उसे अपने प्रेमास्पद भगवान्‌की प्रेमाराधना, सेवा और सान्निध्य आदि उपलब्ध रहें तो वह अपने अनन्य प्रेमके फलस्वरूप और कुछ नहीं चाहता। गोस्वामीजी स्वयं जैसी कामना करते हैं वह अवलोकनीय है—

---

१. 'नारदसूत्र' ॥२६॥ २. वही, ॥३०॥
३. 'मानस' उ० १२५. ४—७
४. 'दोहावली' दो० ९२

'मोकों अगम, सुगम तुम्हको प्रभु ! तउ फल चारि न चहिहौं।
खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं।
इतनी जिय लालसा दासके कहत पानहीं गहिहौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिए तुलसीको पन निरबहिहौं'[1] ॥'

ऐसी लालसा देखकर कदाचित् यह फिर दुहरानेकी आवश्यकता नहीं कि भक्ति केवल भक्तिके लिए होती है। वह स्वयं साध्य है।

प्रेमाभक्तिकी विविध भूमिकाएँ

भक्तिके विविध अवयवोंमें भूमिकाओंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये भूमिकाएँ उपासकको उपास्यके समीप पहुँचानेवाली सीढ़ियाँ हैं। एकके अनन्तर दूसरे सोपानपर अधिष्ठित होता हुआ भक्त भक्तिके चरमोत्कर्षको प्राप्त करता है। भक्ति-शास्त्रोंमें सामान्यतया जिन सप्त भूमिकाओंका संकेत मिलता है वे ये हैं—

"दैन्यं[१] च मानमर्षित्वं[२] भयस्य[३] दर्शनं तथा।
भर्त्सना[४]श्वासनं[५] चैव मनोराज्यं[६] विचारणा[७]॥
मुनिभिरुक्ता भक्तानां सप्तैता भूमिकाः स्मृताः॥'

गोस्वामीजीके समकालीन आनन्द-काननके प्रतिष्ठित महात्मा और 'गीता'के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मधुसूदन 'सरस्वती'ने भक्तिकी ग्यारह भूमिकाओंका निर्देश किया है—

'प्रथमं महतां[१] सेवा तद्दयापात्रता[२] ततः।
श्रद्धा[३]ऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः[४]॥
ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः[५] स्वरूपाधिगति[६]स्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे[७] तस्याथस्फुरणं[८] ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः[९] स्वस्मिंस्तद्[१०] गुणशालिता॥
प्रेम्णोऽथ[११] परमाकाष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥'

'भक्तिरसायन' प्रथम उल्लास, कारिका ३२, ३३, ३४

---

1. 'विनय०' पद २३१

पहले सप्त भूमिकाओंके स्वरूपको दृष्टिमें रखते हुए यदि हम उन्हें गोस्वामीजीकी कृतियोंमें ढूँढ़ना चाहें तो विशेष रूपसे 'विनयपत्रिका'[१] तथा 'कवितावली'के उत्तरकाण्ड[२]में एकसे एक मार्मिक उदाहरण दिखाई पड़ेंगे। उनका परस्पर मिलान करनेसे यह भी प्रकट होगा कि 'दैन्य' और 'आश्वासन' भूमिकाके उदाहरणोंका प्राचुर्य है। विचारपूर्वक देखा जाय तो 'मानस'में भी यद्यपि सभी भूमिकाएँ हैं, पर विशिष्ट प्रतिष्ठा हुई है 'दैन्य' और 'आश्वासन'की। सिद्धान्ततः तो यह कहा ही गया है— 'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोसा', दृष्टान्त रूपमें भी हनुमान्, विभीषण, निषाद, सुग्रीव, भरत आदि सभी भक्तोंने अपने-अपनेको नाना प्रकारसे दीन-हीन ही कहकर अपनी पुनीत भक्तिका परिचय दिया है। आश्वासनके लिए तो रामका स्वरूप ही ऐसे ढंगसे चित्रित किया गया है कि उनके अपार गुणोंकी अभिव्यक्ति होती है और मनमें स्थिरता आती है। विश्वास और धैर्यकी पुष्टि होती है।

एकादश भूमिकाओंके दृष्टिकोणसे भी अत्यन्त संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि इन सबका समावेश भी तुलसीकी रचनाओंमें भली भाँति हुआ है। प्रथम भूमिका 'महतां सेवा'में 'महतां'पद साधु, सन्त, महात्माओंका ही द्योतक है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। इधर सन्तके प्रति तुलसीकी धारणा कैसी है, यह भी एक ही पंक्तिमें समझ लीजिये—

'संत भगवंत अंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी[३]।'

---

१. देखिये 'विनय०' पद १५८, १५९, १८६, ९२, ११४, १२२, १४८, ९४, ९५, ९६, ६६, ६७, ८६, ९०, १९८, १९९, २०२, ६९, ९७, ९८, ९९, १००, १३०, १३७, २६०, १३८, १७२, २२४, २७०, १११, ११५, १३६, २२०, २२१

२. देखिये 'कविता०' उ० छ० १३, ५६, ५७, ६१, ६२, ६४, ६५, ६८, ८२, १३७ आदि।

३. 'विनय०' पद ५७

फिर,, वे साधु-सेवा सदृश भूमिकाको परमावश्यक क्यों न मानते। उन्होंने कहा भी है,—

'सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुबीर-चरन लय-लागे[1] ॥'

सन्त और सत्संगकी जिस अमित महिमासे उनकी प्रधान रचनाएँ दीप्त हैं उससे अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि ये भी साधु-सेवा या सत्संगको भक्तिकी प्रथम भूमिका मानते हैं।

साधु-सेवाके उपरान्त दूसरी भूमिका साधुओंकी दयापात्रताको भी आवश्यक माननेके कारण उन्होंने ऐसे विचार प्रकट किये हैं—

'संसय समन दमन दुख सुख-निधान हरि एक।
साधु-कृपा बिनु मिलहिं नहिं करिय उपाय अनेक[2] ॥'

... ...

'भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलइ जो संत होहिं अनुकूला[3]।'

महापुरुषोंकी कृपा-प्राप्तिके पश्चात् उनके धर्मोंमें श्रद्धाका प्रादुर्भाव होना तृतीय भूमिका है। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें सत्पुरुषोंके लक्षणोंकी जो विशद व्याख्या पायी जाती है उसका अभिप्राय यही है कि इनमें उनकी अपार श्रद्धा थी। श्रद्धाको वे आवश्यक भूमिकाके रूपमें ग्रहण करते हैं, इसका समर्थन यह पंक्ति कर रही है—'स्रद्धा बिना धरम नहिं होई'; श्रद्धा उनकी रचनाओंमें किस प्रकार आदृत है इसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर इस चलते प्रसंगमें इतना ही कह देना अलं होगा कि उन्होंने श्रद्धाका जो महत्त्व स्वीकार किया है वह परम्परागत है। 'ऋग्वेद'[4] के 'श्रद्धा-सूक्त' में श्रद्धाके महत्त्वका विशेष रूपसे वर्णन है। 'यजुर्वेद' में कहा गया है—'श्रद्धासे सत्यरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है[5]'; 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के

---

१. वही, पद १३६ [११]
२. 'विनय०' पद २०३
३. 'मानस' अरण्य० १५.४
४. 'ऋक्०' १०:१५१
५. 'यजुर्वेद' १९:३०.

अनुसार—'श्रद्धासे देवत्वप्राप्ति तथा सब लोकोंकी प्रतिष्ठा सिद्ध होती है'[१]; योग और ज्ञानके हेतु भी श्रद्धाकी महान् आवश्यकता मानी गयी है। कहा गया है-'वह कल्याणकारिणी श्रद्धा माताके सदृश योगीकी रक्षा करती है'[२]। ज्ञानके लिए श्रद्धाकी कैसी अपेक्षा होती है वह इतने से ही समझिये कि—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्[३]।' अस्तु।

जब शुष्क ज्ञान और योगके क्षेत्रमें श्रद्धाका इतना महत्त्व स्वीकृत हुआ है तो रसमयी भक्तिके क्षेत्रमें उसका कितना उच्च स्थान होगा, इसका अनुमान हम स्वयं कर सकते हैं। भक्ति-ग्रन्थोंमें श्रद्धा भक्तिकी आधार-शिला मानी गयी है। उसका सम्बन्ध हृदयके परमोज्ज्वल सात्त्विक भाव प्रेमसे होता है। अतएव भक्तिके सम्पादनमें जिस श्रद्धाकी अपेक्षा होती है वह सात्त्विक श्रद्धा है। हमारे जप, तप, यम, नियम, हमारी ईश्वरपरायणता, हमारी आस्तिकता, किं बहुना हमारे शुभाचारोंका मूलाधार है—सात्त्विक श्रद्धा। यह रहस्य गोस्वामीजीने यों दर्शाया है—

'सात्त्विक स्रद्धा धेनु सुहाई।
जो हरि कृपा हृदय बसि आई॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा।
जे स्रुति कह सुभ धरम अचारा॥
तेइ तृन हरित चरइ जब गाई।
भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई[४]॥'

चतुर्थ भूमिका अर्थात् 'हरिगुण-श्रवण'को भी गोस्वामीजीने अत्यावश्यक माना है। इसीसे उनकी प्रधान कृतियोंमें स्थान-स्थानपर रामके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यपूर्ण कथाओंको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुननेका संकेत मिलता है।

---

१. 'तैत्तिरी० ३:१२:३
२. 'योगभाष्य' १:२०　　३. 'गीता' ४:३९
४. 'मानस' उ० ११६.९—११

सामान्य संसारी मनुष्यके विशिष्ट सद्‌गुणोंको देख-सुनकर हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं तो जगन्नियन्ताके अमित गुणोंका सतत श्रवण करते-करते उसके प्रति प्रेमांकुरके उगनेमें सन्देह ही क्या। भगवत्प्रेमकी यह अंकुरोत्पत्ति प्रेमाभक्तिकी पाँचवीं भूमिका है। तुलसीकी रचनाओंमें इस भूमिकाका सन्निवेश भी पूर्ण रूपसे हुआ है। उदाहरणके लिए केवल एक ही पंक्ति लीजिये—

'परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलन अति दूर[1]।'

प्रेमोद्रेकके अनन्तर प्रेमका अंकुर स्वाभाविक गतिसे उत्तरोत्तर विकसित होता चलता, और तत्परिणाम-स्वरूप भक्त परमात्म-स्वरूपकी प्राप्ति कर उसके परानन्द स्वरूपमें प्रेमवृद्धि करता हुआ उसके प्रतापसे अपनेमें परानन्दका स्फुरण देखता और वह स्वयं भागवत-धर्म-निष्ठ होकर अपनेमें उन गुणोंका प्राकट्य करता हुआ प्रेमकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही प्रेमाभक्तिकी ग्यारहवीं भूमिका है। प्रेमोद्रेकसे लेकर इस अन्तिम भूमिकातक पहुँचनेमें प्रेमकी जो विविध सीढ़ियाँ ऊपरके वाक्यमें इंगित हैं इन्हें हम गोस्वामीजीकी प्रधान रचनाओंमें व्यापक रूपसे देखते हैं। स्थानाभावसे विवश होकर हम ग्यारहवीं भूमिकापर ही एकाध वाक्यसे अधिक न कहेंगे। भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठाका आनन्द एवं उसका स्वरूप केवल भगवान्‌के अनन्य प्रेमी ही समझ सकते हैं—

'पूनो प्रेम-भगति-रस हरि-रस जानहिं दास।
सम सीतल गत-मान ज्ञानरत बिषय उदास[2]॥'

प्रेमाभक्तिके कण्टक

भक्तिके राजमार्गपर भक्त निश्चिन्त भावसे चलता रहता है; ज्ञान, वैराग्य प्रभृति साधन-रूप राजकर्मचारी राजमार्गकी देख-रेख बराबर करते रहते हैं; भक्त प्रेम-प्रवाहकी धुनमें साधनालीन रहता है; उसे क्या

१. विनय० पद २०३ २. वही, पद २०३

पता कि उसकी ताकमें बड़े-बड़े कुतर्क, संशय, अहंकार, काम, क्रोधादि सरीखे डाकू प्रत्येक क्षण छिपे बैठे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि इन्हीं तस्करोंके आक्रमणसे साधक 'राजमार्ग'में भी लुट जाता है। वह क्षुब्ध होने लगता है और इस प्रकार उसके पतनका द्वार स्वयमेव उन्मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रेमाभक्तिके सबसे बड़े कण्टक हैं—अभिमान, कुतर्क, संशय, काम, क्रोध, लोभ आदि। भक्त इनसे सदैव सतर्क रहकर ही भक्तिका चरमोत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। प्राचीन आचार्योंकी भाँति तुलसीदासजीने भी इन कण्टकोंसे सर्वदा तथा सर्वथा दूर रहनेकी चेतावनी दी है।

अभिमान सर्वोपरि कण्टक है। यह महान् साधकको भी क्षणमात्रमें पटक देता है। जब तपस्यामूर्ति नारद मुनिमें भी—'जिता काम अहमिति मन माहीं'[१]की स्थिति आ गयी तो सामान्य साधकोंका क्या कहना। तुलसीकी रचनाओंमें ऐसे अनेकानेक दृष्टान्त सन्निविष्ट हैं जिनसे प्रकट होता है कि महत्तम भक्त भी अभिमानके चपेटेमें आ गये हैं[२]। वस्तुतः अभिमान तामस भाव है। इसके रहते सात्त्विक भाव भगवत्प्रेम प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

'मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपा-सिन्धु भगवान[३]॥'

अभिमानकी भयावहताका अनुमान इस एक ही पंक्तिसे कर लीजिये—

'संसृतिमूल सूल प्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना[४]॥'

इसकी ऐसी भयंकरताके ही कारण भगवान् अपने भक्तको इसकी छायासे भी दूर रखना चाहते हैं। यदि दुर्भाग्यवश भक्तके हृदयमें यह काँटा गड़ ही जाता है तो भगवान् उसे निकालनेके लिए भक्तको कष्ट भुगताकर भी उसकी आँखें खोलते हैं[५]।

---

१. 'मानस' बा० १२६. ५
२. देखिये दोहावली दो० ४४०, ४४१, मानस लं० ५९. ७
३. 'मानस' सुन्दर० २३.
४. वही, उ० ७३. ६
५. वही, उ० ७४

भक्तिके दूसरे कण्टक कुतर्क और संशयके पाशमें आबद्ध होनेपर चित्तकी सहज चञ्चलता और भी बढ़ जाती है। तत्परिणाम स्वरूप नाना प्रकारके मोहकी वृद्धि होती है। तर्क श्रद्धाका विरोधी है। तर्ककी धारा प्रवाहित होनेपर श्रद्धाकी नीवँका कटना और घसकना अनिवार्य है। श्रद्धाके अभावमें भक्तिका निष्पादन ही असम्भव है। कोई आग्रह करे कि तर्कसे उस परमपदकी उपलब्धि होती है, तो यह ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रकारने स्वयं माना है—'तर्काप्रतिष्ठानात्'[1]। 'कठोपनिषद्'में भी कहा गया है—'बुद्धिके तर्कसे उस तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती[2]।' यदि किसीको संशय हो कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' क्यों कहा जाता है तो ऐसी शंका भी न होनी चाहिये, क्योंकि तत्त्वबोध करानेवाला 'वाद' दूसरे प्रकारका होता है। श्रद्धालु शिष्य जिज्ञासा-भावसे गुरुके सामने तर्क उपस्थित करता है और गुरु उसकी शंकाका निवारण कर और भी प्रबल तर्कसे उसे सिद्धान्त समझाते हैं। ऐसा 'वाद' स्पृहणीय है, निन्दनीय नहीं। किन्तु आग्रहपूर्वक अपने पक्ष-समर्थन एवं प्रतिपक्ष-मान-विमर्दनके लिए जो करामाती 'वाद' होता है उससे तो भक्तको अलग रहना ही चाहिये। 'नारदसूत्र'में कहा गया है—'वादो नावलम्ब्यः[3]।'

इधर हमारे महात्मा तुलसीदासने भी स्पष्ट शब्दोंमें कुतर्क और संशयको त्याज्य बताया है—

'अस बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु सदा रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद[4]।'

काक भुशुण्डिके ब्राह्मण-जन्ममें उनका और लोमश ऋषिका जो वाद-विवाद 'मानस'में प्रस्तुत किया गया है वह भी व्यञ्जित करता है कि भक्तको वाद-विवादके कुतर्क, संशय आदिमें नहीं पड़ना चाहिये। वाद-विवादसे संघर्ष होगा ही, उत्तर-प्रत्युत्तर बढ़ेगा ही और अन्तमें—

---

१. 'ब्रह्मसूत्र' २:१:११ २. 'कठो०' १:२:९
३. 'नारदसूत्र' ॥७४॥ ४. 'मानस' उ० ९०

'सुनु प्रभु बहुत अवग्या किए। क्रोध उपज ग्यानिन्हके हिए॥
अति संघर्षन जौ कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई[1]।'

की स्थिति आ जाती है।

भक्तिके अन्यान्य कण्टक—मोह, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादिसे भी निरन्तर सतर्क रहनेकी चेतावनी गोस्वामीजी स्थल-स्थलपर देते गये हैं, साथ ही, उन्होंने, इन सबकी प्रचण्डताको मूर्तिमान् करनेके लिए 'मानस' के उत्तरकाण्डमें मायाके विकट कटकका विलक्षण दृश्य भी खड़ा कर दिया है। उक्त कटककी योजनामें जिन दुर्वृत्तियोंका उल्लेख है उन्हें भक्तिके कण्टकके अन्तर्गत समझना चाहिये।

साधकके हृदयमें ही छिपे रहनेवाले इन सूक्ष्म कण्टकोंकी चर्चा यहीं छोड़ अब एक भयावह स्थूल कण्टकका निर्देश करना भी अनुपयुक्त न होगा। जैसे सत्संग भगवत्प्रीतिका प्रमुख साधन है, ठीक उसीके विपरीत कुसंग भक्तिका प्रधान बाधक है, यह स्थूल काँटा साधनाको अवश्य ही खण्डित कर डालता है। इसीसे आचार्योंने इसे भक्तिका भारी विघ्न माना है। 'नारदसूत्र'में कहा गया है—'दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः'[2]। गोस्वामीजीने भी कुसंगकी बड़ी कुत्सा की है[3]। उनकी रचनाओंमें खलों, असाधुओं और असज्जनोंकी प्रकृतिका जो व्यापक चित्रण मिलता है उसका अभिप्राय यही है कि इनकी विषाक्त प्रकृतिको जानकर भक्तिके प्रेमी इनसे दूर रहें। संसर्गका प्रभाव सभी स्वीकार करते हैं। दुष्टसंगतिसे आसुरी सम्पत्तिका विकास तथा दैवी सम्पत्तिका ह्रास अवश्यम्भावी है। अतः कुसंगसे सदा ही बचना चाहिये। अन्यथा—

'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई[4]।'

---

१. मानस, उ० ११०. १५, १६.

२. 'नारदसूत्र' ॥४३॥

३. देखिये 'मानस' सुन्दर० ४५, ७; उ० ३८. २, १०५. १५, १०५. ९ १४।

४. वही, अयो० २३. ८

भक्तोंके लक्षण और उनकी श्रेणियाँ

भक्ति और उसके विविध अवयवोंके सम्बन्धमें पर्याप्त विवेचन हो चुका। अब भक्तोंके सम्बन्धमें भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। पहले सच्चे भगवद्भक्तका लक्षण गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें देखिये—

'भौंह-कमान-संधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बान तें बाँचे,
कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।
लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि ज्यों जगमें बहु नाँच न नाँचे,
नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीरके सेवक साँचे[1]॥'

अवतरणसे प्रकट है कि यथार्थतः भक्त वही है जिसने काम, क्रोध, अहंकार और लोभसे अपना पिण्ड छुड़ा लिया है। प्रकृतितः सबसे सरल और तटस्थ रहना[2], विश्वमात्रको एक दृष्टिसे देखना और परमात्माके अतिरिक्त और किसीमें ममता न करना[3] भी भक्तके लक्षण हैं। भक्त परमात्म-प्रेम-हृदमें निरन्तर निमग्न रहनेपर भी अपनेको प्रेमविहीन समझता है[4]। जैसे अविवेकी पुरुष अपने स्थूल शरीरमें आसक्त रहता है वैसे ही भक्त भगवान् में[5]। अपने प्रियतम भगवान्के ध्यानमें भक्त सदैव पुलकित होता रहता है, उसके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होते रहते हैं[6]। भक्त अपने कर्मवश प्राप्त सभी योनियोंमें भी अपने प्रियतम भगवान्के प्रति अविरत आसक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता[7]। भक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त भक्त अपने हृदय-वल्लभ भगवान्के प्रति वैसे ही आसक्त हो जाता है जैसे

---

१. 'कविता०' उ० छ० ११८
२. दे० 'दोहावली' दो० ९३ ३. वही, दो० ९४
४. 'मानस' अयो० ८५. ५, २३२. ३ ५. वही, अयो० १४०. २
६. वही, अयो० ३२४. १; उ० १.; 'दोहावली' दो० ४२, ४४, ४५; 'विनय०' पद १००
७. वही, किष्कि० ९. ११, कविता० उ० छ० ५.८; 'विनय०' पद ५७, १०३

कामी नारीके प्रति अथवा लोभी धनके प्रति आसक्त होता है[१]। भक्त त्यागका भी प्रतिमूर्ति होता है; वह विषय-विमुख होता है[२]। निःस्पृहताके कारण भक्त न मान-प्रतिष्ठाका भूखा रहता और न वह लोकको रिझानेकी ही आकांक्षा करता है[३], उसे अपना निरभिमान जीवन ही अच्छा लगता है, क्योंकि वह जानता है कि 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे[४]।' हेतु-रहित परोपकार-व्रत भी भक्तका लक्षण है[५]। अतः लोक-कल्याणके लिए भी भक्तको कुछ न कुछ अवश्य करते रहना चाहिये; और नहीं तो विश्वका शुभचिन्तन ही करता रहे। ऐसा करते-करते उसकी विशाल दृष्टिमें समस्त जगत् भगवान्मय दिखाई पड़ने लगता है, उसे कहीं वैर-भाव नहीं अवगत होता[६]। अखण्ड भजनके प्रतापसे भक्त दिव्यशक्ति,कान्ति और तेज-सम्पन्न हो जाता है, अतः इन गुणोंको भी उसका लक्षण कहनेमें कोई अनुचित न होगा। प्रसंगको और बढ़ानेका अवकाश नहीं। अत्यन्त संक्षेपमें, श्रीमुखकी इस वाणीसे भक्त-लक्षणका सार समझा जा सकता है—

'बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥
बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई[७]॥'

'मम गुन ग्राम नाम रत तजि ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ चिदानंद संदोह[८]॥'

भक्ति-शास्त्रोंमें भगवद्भक्तोंकी श्रेणियाँ भी बतायी गयी हैं। यथा, 'गीता'में कहा गया है—

---

१. मानस, उ० १३०
२. वही, अयो० ८३. ८, १३१
३. वही, बा० १६१. २
४. वही, बा० १६०. ३
५. वही, उ० ४६. ५
६. वही, उ० ११२
७. 'मानस' उ० ४५.४—८
८. वही, उ० ४६.

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ[1] ॥'

समस्त भगवद्भक्तोंका इन्हीं चार प्रकारोंमें विभाजन किया जा सकता है। इन चतुर्विध भक्तोंका निर्देश भी गोस्वामीजीने किया है—'राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा[2] ।' यही नहीं, उन्होंने चारों प्रकारके भक्तोंका स्वरूपाभिव्यञ्जन भी यों किया है—

'नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लउ लाये। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी[3] ॥'

अवतरणकी प्रथम दो अर्द्धालियाँ 'ज्ञानी भक्त' अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान पाकर कृतार्थ हो जानेपर जिसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य शेष न हो, तो भी निष्काम-बुद्धिसे भक्ति करनेवालेका संकेत कर रही हैं; तीसरी अर्द्धाली 'जिज्ञासु' अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले भक्तका निर्देश कर रही है; चौथी अर्द्धाली 'अर्थार्थी' अर्थात् काम्य द्रव्यादिकी वासनाको मनमें रखनेवाले भक्तको बता रही है और अन्तिम अर्द्धाली-से 'आर्त' भक्तकी घोषणा स्पष्ट ही है। 'मानस'में चारों प्रकारके भक्तों-के दृष्टान्त भी दिखाये गये हैं, कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता न होगी।

भक्तोंकी महिमा

प्राचीन भक्ति-ग्रन्थोंमें भक्त-महिमाकी भी अपूर्व प्रतिष्ठा की गयी है। 'भागवत'में श्रीमुखकी वाणीसे ऐसे वचन निकले हैं कि मेरा परम भक्त

१. 'गीता' ७:१६   २. 'मानस' बा० २१.६
३. वही, बा० २१.१—५

त्रिलोकको पवित्र कर देता है[१]। 'नारदसूत्र'के अनुसार भक्तगण तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सच्छास्त्र कर देते हैं[२]। भक्तोंका आविर्भाव देखकर पितृगण आह्लादित होते हैं, देवगण नाचने लगते हैं और पृथ्वी सनाथ हो जाती है[३]।

शास्त्रीय भक्ति-पद्धतिके समर्थक भक्ति-ग्रन्थोंको छोड़िये। उनमें तो भक्तोंका माहात्म्य गान है ही। उनके अतिरिक्त यदि परम्परागत भक्तिके विरोधी विविध पन्थोंको ही देखा जाय तो इनमें भी भक्त-महिमा-गानकी यथेष्ट उदारता मिलती है। तभी तो कबीर, दादू आदिकी रचनाओंमें 'साधु-महिमाको अंग'के अन्तर्गत साखियोंमें भक्तोंकी बड़ाई मुक्त-कण्ठसे की गयी है।

फिर, तुलसीदास क्योंकर पिछड़ते। उन्होंने भक्त-माहात्म्य-प्रदर्शनके भावावेशमें आकर ऐसा विश्वास भी प्रकट किया है—

'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु सज्जन घन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा[४]॥'

जो भी हो, 'राम ते अधिक राम कर दासा' युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता, पर दूसरी अर्द्धालीकी सार्थकता ठीक जँचती है। 'सिंधु' और 'चन्दन-तरु'के अभावमें 'घन' और 'मलय समीर' न रहें, पर यावत् समुद्र एवं चन्दन विटपी हैं तावत् यह कौन अस्वीकार करेगा कि मेघ और मलयानिल दोनों अपने-अपने कारणोंसे उत्कृष्ट नहीं? भले ही भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य पयोधि और चन्दनपादपकी भाँति वर्तमान है, पर उस अमित ऐश्वर्यका प्रसारण और वितरण करनेवाले तो भक्त-जन ही हैं।

गोस्वामीजी 'मानस'में 'राम ते अधिक राम कर दासा' कहकर ही नहीं सन्तुष्ट हुए। एतदर्थ 'दोहावली'में भी उन्होंने इसका एक दृष्टान्त और उपस्थित किया है—

१. 'भागवत' ११:१४:२४
२. 'नारदसूत्र' ॥६९॥
३. वही, ॥७३॥
४. 'मानस' उ० ११९.१६, १७

'तुलसी रामहुँ ते अधिक राम भक्त जिय जानु।
रिनिया राजा रामसे धनिक भये हनुमानु[1]॥'

भक्तोंके प्रति उनकी कितनी श्रद्धा थी इसके अनुमानके लिए यह एक पंक्ति देखिये—

'राम कहें जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास[2]।'

उनकी दृष्टिमें एकमात्र भक्तोंका जीवन ही सफल है[3]। उनका विश्वास था कि भक्तकी सेवा करना सैकड़ों कामधेनुकी सेवा करनेके समान ही श्रेयस्कर है[4]। भक्त-माहात्म्य-व्यञ्जक उनका यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

'आपु आपने ते अधिक जेहि प्रिय सीताराम।
तेहिके पगकी पानहीं तुलसी तनको चाम[5]॥'

भक्तोंकी गुरु-परम्परा

भक्ति-क्षेत्रमें गुरुका स्थान भी विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। अतः इसपर भी कुछ विचार करना चाहिये। 'अमरकोष'के अनुसार 'गुरु' बृहस्पति, सुराचार्य आदिका अभिधायक होनेके साथ उपाध्याय, अध्यापक तथा गर्भाधान आदि संस्कार करानेवाले याजककी संज्ञा भी है और बड़े-बूढ़े, श्रेष्ठजनोंका द्योतक भी। सामान्यतः गुरु दो प्रकारके दिखाई पड़ते हैं—शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। मनुने तीन प्रकारके गुरु बताये हैं—लौकिक, वैदिक एवं अध्यात्म-गुरु[6]। 'अद्वयतारकोपनिषद्'में कहा गया है—'गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते' अर्थात् गु शब्दका अर्थ है अन्धकार और रु शब्दका अर्थ है निरोधक। अतएव अन्धकारका निरोध करनेवाला अर्थात् अज्ञानका

---

१. 'दोहावली' दो० १११
२. वही, दो० १४१
३. वही, दो० ५८
४. 'मानस' अयो० ६४. १
५. 'दोहावली' दो० ५९
६. 'मनु०' २:११७

नाश करनेवाला गुरु है। आदिकालमें स्वयं श्रुति देवी गुरुकी भाँति उपदेश करती हुई दिखाई पड़ती हैं। प्राचीन उपनिषदोंमें गुरु-शिष्य-विषयक कुछ प्रसंग उपलब्ध होते हैं[1]। उपनिषदोंकी वर्णन-शैलीसे ऐसी प्रतीति होती है जैसे कोई गुरु शिष्यको समझा रहा हो। कहीं-कहीं तो एक ऋषि किसी अन्य महाऋषिको गुरु सम्बोधन करके अपने भ्रम-निवारणका उपाय पूछता हुआ दृष्टिगत होता है। यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि गुरु-परिपाटी भी नितान्त प्राचीन है। उसका सीमा-निर्देश करना दुष्कर है। तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि वैदिक कालमें ही गुरु-परम्पराका जो बीज वर्तमान था वही ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें स्पष्टतया परिलक्षित हुआ और धीरे-धीरे स्मृतियों, पुराणों और भक्तिग्रन्थोंमें पल्लवित होता हुआ किसी समय अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हुआ। इस चरमोत्कर्षकी चर्चा आगे होगी, अभी भक्तोंकी प्राचीन गुरु-परम्पराका निर्देश करना अधिक समीचीन होगा।

जीवोंके उद्धारके लिए अनेकानेक ऋषियोंने अपनी-अपनी मतिके अनुसार सरलतम मार्ग दिखानेका प्रयास किया और इन सबके सिद्धान्तमें किञ्चित अन्तर पड़नेके कारण इनमेंसे प्रत्येकके अनुयायियोंका मार्ग भी परस्पर पृथक् हो गया और तत्परिणामस्वरूप कतिपय सम्प्रदायोंकी उद्-भावना हुई। इन विविध पद्धतियोंके अधिष्ठाताओंकी शृंखलाको गुरु-परम्परा समझना चाहिये। भक्ति-ग्रन्थोंमें प्राचीन गुरुपरम्पराका प्रकारान्तरसे संकेत रहता है। जैसे, 'नारदसूत्र'में भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका समर्थन करनेके लिए कहा गया है—'कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, शेष, हनुमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगों-की निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न करके एक मतसे ऐसा ही कहते हैं[2]। उक्त आचार्योंमेंसे सबने भक्तिका प्रचार किसी न किसी रूपमें बढ़ाया है,

१. दे० 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' ६:२२ तथा 'तैत्तिरीयोपनिषद्'के शिक्षा-बल्ली द्वितीय अनुवाक भी

२. 'नारदसूत्र' ॥८३॥

ये सबके सब प्राचीन परम्परागत भक्ति-तत्त्वके पूर्ण ज्ञाता एवं आचार्य हैं, ये ही भक्तोंकी गुरु-परम्पराके आदि हैं। जो प्राचीन परम्परागत भक्तिका अनुयायी या प्रचारक होगा वह इन्हीं आचार्योंकी छत्रच्छायाका आश्रय ग्रहण करेगा।

भक्त तुलसीदासने इन्हीं महात्माओंकी छत्रच्छायाका आश्रय ग्रहण किया। यही कारण है कि 'मानस'में ऐसे प्रसंगोंकी कमी नहीं है जहाँ भक्तिके सिद्धान्त-प्रतिपादनमें उक्त भक्तोंमेंसे किसीके मुखारविन्दसे कथन न कराया गया हो। ग्रन्थके अन्तमें, अपनी भक्तिका प्राचीन परम्परागत भक्तिसे अभेद दिखानेके लिए ही उन्होंने प्राचीन भक्तोंकी गुरु-परम्पराका प्रमाण उपस्थित किया है—

'सिव अज सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम-पद-पंकज नेहा[1]॥'

'विनय पत्रिका'में भी यत्र-तत्र उक्त आचार्योंके ही प्रमाणसे भक्तिका माहात्म्य दर्शाया गया है[2]।

भागवतोंकी प्राचीन गुरु-परम्पराको यथातथ्य रूपमें न समझनेवालोंका कहना है कि गोस्वामीजीने वैष्णवों और शैवोंके बीच ऐक्यस्थापनार्थ ही शिवका नाम बार-बार दुहराया है। निस्सन्देह दोनों सम्प्रदायोंमें परस्पर उदारताका भाव जगाना भी उन्हें अभीष्ट था, इसीसे उन्होंने शिवकी कथाको भी यथेष्ट प्रश्रय दिया है, परन्तु भक्तोंकी प्राचीन गुरु-परम्पराकी ओर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि शिवजी भक्तिके आद्याचार्योंमें हैं, वे परम भागवत हैं[3]। वस्तुतः इसीलिए तुलसीने उन्हें अत्यधिक महत्त्व दिया है।

भक्ति और गुरुका सम्बन्ध

गुरु और भक्तिका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीनतम भक्ति-सम्प्रदायोंसे लेकर अर्वाचीन सम्प्रदायोंतकका गम्भीर परिशीलन कर डालिये,

१. 'मानस' उ० १२१. १२,१३ २. दे० 'विनय०' पद ९९,२०९, २५१
३. दे० 'भागवत' ११:२: ५३, ५४; 'नारदसूत्र' ॥८४॥

गुरु सभीके साधना-क्षेत्रका प्रमुख अवयव दृष्टिगत होगा। भागवत धर्मके कतिपय आचार्योंने एक स्वरमें स्वीकृत करके घोषित किया है कि गुरुका आश्रय पाये बिना कोई व्यक्ति संसार-सागरको पार नहीं कर सकता। परम कल्याण-आकांक्षी साधक सर्वप्रथम गुरुकी शरण ढूँढ़े, तदुपरान्त अन्य साधनोंके उपयोगका अवसर आता है। योगीश्वर प्रबुद्धने राजा निमिसे प्रेम-भक्ति-प्राप्तिके साधनोंका निर्देश करते समय सबसे पहले गुरुकी खोज करनेका आदेश दिया है[1]। वैष्णव सम्प्रदायोंमें ही नहीं, विविध शैव सम्प्रदायों अथवा शाक्तों या नाना सुधारपन्थियोंकी उपासना-पद्धतियोंमें भी अध्यात्म-द्वारका उद्घाटक गुरु ही ठहराया गया है। इस्लाम या ईसाई धर्मोंकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो उनके 'पीर' और 'फादर पाल' क्या हैं। तूल-तबालसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं, हमें तो देखना है कि गुरुके सम्बन्धमें हमारे बाबाजीके क्या विचार हैं।

इस सम्बन्धमें सबसे पहले हम यही कह सकते हैं कि उनका दृढ़ विश्वास था कि निरभिमान भावसे गुरुकी शरणमें जानेसे सुख-निधान भगवान्की प्राप्ति अवश्य ही होती है[2]। व्यक्तिगत रूपसे भी उन्होंने भक्तिका राजमार्ग गुरुके प्रसादसे ही देखा[3] था। अपनी प्रगाढ़ गुरु-भक्तिवश उन्होंने ऐसा विचार भी प्रकट किया है कि अनन्य भगवत्प्रेमकी प्रतिष्ठाके लिए गुरु-सेवा और गुरुके द्वारा बताये गये सन्मार्गका अनुसरण करना साधकके लिए परमावश्यक है[4]। साधकके मोहान्धकार-भरित हृदयसे तमकी निवृत्ति गुरुके वचन-रूप रवि-किरणोंसे होती है—ऐसी उत्कट आस्था भी उन्होंने प्रकट की है[5]। इसकी भी घोषणा की गयी है कि

१. 'भागवत' ११:३:२१, २२

२. 'विनय०' पद २०१

३. 'विनय०' पद १७३

४. 'दोहावली' दो० १४०

५ 'मानस' बालकाण्डके आरम्भमें गुरुवन्दनाका सोरठा।

विमल विवेककी प्रतिष्ठा[१] करनेवाला और संसारसे उद्धार[२] करनेवाला भी गुरु ही है।

भक्तिपरायण होनेके लिए गुरुका आश्रय ढूँढ़ना अनिवार्य है, इसके दृष्टान्त भी प्रस्तुत किये गये हैं। उज्जैनीमें जब भुशुण्डिने अपने पूर्वजन्म की शूद्रदेहमें परम साधु, शिवभक्त ब्राह्मण गुरुकी सेवा की तो उन्होंने नाना प्रकारके शुभ उपदेश और शम्भुमन्त्रका लाभ किया। इसी प्रकार उनको काकरूपमें राममन्त्र, ध्यानादिकी प्राप्ति हुई।

वस्तुतः नाम-जपका भक्तिक्षेत्रमें बहुत ही उच्च स्थान है। यह सब मर्म गुरु समझाता है। एतदर्थ गुरुकी सहायताके बिना भक्ति सांगोपांग सम्पन्न नहीं हो सकती।

गुरुमहिमाका चरमोत्कर्ष

दूसरा प्रसंग छेड़नेके पूर्व अब गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष-सम्बन्धी विवेचन भी इसी सिलसिलेमें समाप्त कर देना चाहिये। साधक अपने सम्प्रदायके प्रवर्तक प्रबुद्ध आचार्योंको सम्मानपूर्ण दृष्टिसे देखे और अपने वैयक्तिक अध्यात्मगुरुके प्रति अपने अनिवार्य कर्तव्योंका पालन करे, इसका निर्देश प्राचीन ब्राह्मण-धर्मग्रन्थोंमें मिलता है। गुरु पितासे बढ़कर है, शिष्य जबतक उसके पास रहता है, उसका कर्तव्य है कि पूर्ण रीतिसे गुरुकी आज्ञाका पालन और उसकी शुश्रूषा करे, उसके प्रति जीवन-पर्यन्त पवित्र सम्मानकी भावना रखे[३]। इसके अतिरिक्त शिष्यके प्रति कोई गुरु-ऋण शेष नहीं रह जाता। गुरुके यहाँसे शिष्य जब अपनी शिक्षा समाप्त कर लेता था तब गुरु शिष्यसे किसी अन्य वस्तुकी कामना नहीं करता था[४]। गुरु-शिष्यका ऐसा सम्बन्ध ब्राह्मण-कालतक चलता रहा। अति प्राचीन सम्प्रदायोंको देखनेसे पता चलता है कि उनका नामकरण

१. 'विनय०' पद ११५ २. वही, पद १३६ [१२]

३. 'आपस्त० स्मृ०' १:१, १३–१७; 'मनु०' २:१४६, १४८

४. वही, १:१८–२१

उनके प्रवर्तकोंके नामपर नहीं हुआ था। परन्तु इसके विपरीत बारहवें शतकसे कुछ नयी बातें अवगत होती हैं। बौद्धोंके 'बुद्ध' या जैनोंके 'जिन'ने जिस श्रेणीको प्राप्त किया अथवा मुसलमान धर्ममें 'पैगम्बर' या 'इमाम'को जो स्थान प्राप्त हुआ वही हिन्दू धर्ममें सम्प्रदायके प्रवर्तक 'गुरु'को मिला। वह रहस्योद्घाटक और अलौकिक परित्राणकर्ता माना जाने लगा। ईश्वरावतार भी घोषित किया गया। ईश्वरवत् उसकी भक्ति की जाने लगी। यदि सम्प्रदायने परम्परागत गुरुका विधि-विधान स्वीकार किया तो गुरुके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी भी उक्त सभी विशेषाधिकारयुक्त माना जाने लगा।

रामानुज, रामानन्द, आनन्दतीर्थ आदिको उनके अनुयायी विष्णु या शिवका अवतार ही मानते हैं। वल्लभ, चैतन्य, नानक आदि जो अधिक आधुनिक धार्मिक सुधारक कहे जाते हैं वे अपने जीवनकालमें ही अवतार माने जाने लगे थे। यह नहीं, वेदान्तियोंसे भी शंकराचार्यको 'जगद्गुरु' कहे बिना न रहा गया।

प्राचीन ग्रन्थोंमें गुरुके प्रति पर्याप्त सम्मान रखनेका उल्लेख है, पर उसकी देववत् पूजा करनेका आदेश नहीं है। गुरुको पितासे बढ़ कर देखनेका निर्देश अवश्य है, किन्तु उसे ईश्वर-रूप माननेका कोई संकेत नहीं है। उसका यह ईश्वरत्व-सम्पन्न स्वरूप बहुत बादका है। पुरातत्त्ववेत्ता विल्सन साहबका विचार है कि गुरुके ऐसे माहात्म्यका बीज 'भागवत'से अंकुरित हुआ[1]। गुरु-महिमाके चरमोत्कर्षका निश्चित काल बताना दुःसाध्य है, तथापि यह तो निर्भ्रांत है कि पुराणों और अर्वाचीन उपनिषदोंके कालमें गुरु देवके समकक्ष हो चुके थे। 'भागवत'की उक्ति है कि अपना परम कल्याण-अभिलाषी व्यक्ति गुरु और ब्रह्मको एक समझकर भागवत धर्मका उपदेश ले[2]। वहीं यह भी उल्लिखित है कि मृत्युसे भी परित्राण करनेवाला गुरु है[3]। 'शाट्यायनीयोपनिषद'के अनुसार साधकको ब्रह्मविद्

१. एसेज एण्ड लेक्चर्स आन् दी रेलिजन्स आव् हिन्दूज' पृ० १६६

२. 'भागवत' ११:३:२१

३. 'भागवत' ५:५:१८

होनेके लिए वैसी ही गुरुभक्ति करनी चाहिये जैसी देवकी अनन्य भक्ति की जाती है[1]। 'कुलार्णव'में भी गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है[2]। 'गीता'में गुरु-पूजन शारीरिक तप माना गया है[3]। 'गुरुगीता'में गुरु-विषयक सभी जिज्ञासाओंका जैसा समाधान किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं। उसमें गुरुको साक्षात् भगवान्-स्वरूप सिद्ध करके कहा गया है—

'ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा[4]॥'

इसी प्रकार, 'गुरुगीता'में गुरुकी अमोघ शक्ति-द्योतक एवं उसके पादोदविन्दु तथा चरण-रजको अखिल ब्रह्माण्डगत तीर्थस्नानके फलसे सहस्र गुना श्रेयस्कर सिद्ध करनेवाले श्लोकोंकी भी कमी नहीं। स्वामी रामानन्द कृत 'रामरक्षा'के अनुसार जिसका उल्लेख आगेके परिच्छेदमें आया है, गुरु और परब्रह्मका ऐक्य है। रामानन्द ही नहीं, उनके शिष्य कबीरने भी गुरुकी बड़ी महिमा गायी है[5]। दादूदयालने भी गुरुको ब्रह्मका चोला पहनाया है, दिल खोलकर महिमा गायी है[6]। चैतन्य-सम्प्रदायमें तो गुरुका प्रभाव बेहद हो गया। गुरु भगवान्से भी बढ़ गया। उसका पादाश्रयण ही सर्वस्व माना गया। 'उपासनामृत' और 'भजनामृत'में गुरुका महत्त्व दिखानेके लिए जो प्रसंग सन्निविष्ट हैं उनसे परिलक्षित होता है कि इस सम्प्रदायमें गुरु-महिमा चरमोत्कर्षको प्राप्त हुई। इसके अनुसार गुरु-सेवा ही सर्वस्व है, गुरु, मन्त्र और ईश्वर अभिन्न हैं। सोलहवें ही शतकमें वर्तमान कुछ अन्य सम्प्रदायों यथा वल्लभ-सम्प्रदाय या नानकपन्थ आदिको लिया जाय तो इनमें भी गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष अवगत होगा। नानकपन्थी गुरु-ग्रन्थको ही वेद मानते और गुरु-आज्ञाको वेदाज्ञा।

१. 'शाट्यायनी०' श्लोक ३७ २. दे० 'कुलार्णव' उल्लास १३,१४
३. 'गीता' १७:१४ ४. 'गुरुगीता' श्लोक ५०
५. दे० 'कबीर ग्रन्थावली' 'गुरुदेवको अंग।'
६. दे० 'दादूदयालकी बानी' प्रथम भाग 'गुरुदेवको अंग।'

गोस्वामीजी जैसे शास्त्रपरायण श्रद्धालु महात्माके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे भी गुरु-महिमाको असामान्य ही मानते। उन्होंने 'मानस'के आरम्भमें गुरु-पद-पद्म परागकी जो स्तुति की है वह गुरु-भक्तिका चरमोत्कर्ष प्रकट करती है। वे गुरुकी चरण-रजको शिवके अंगमें वेष्टित भस्मके समान पवित्र मानते हैं; उनका विश्वास है कि इस रजके प्रतापसे हृदय विकार-शून्य होकर मञ्जु दर्पणके समान स्वच्छ हो जाता है; उन्हें इसकी अनुभूति हो चुकी थी कि गुरुके चरणोंका ध्यान करनेसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, ज्ञान-नेत्र उन्मीलित होते ही मोह-जनित संसारके सभी दुःखोंसे निवृत्ति हो जाती है और भगवान्‌के चरितका मर्म सहजमें ही समझमें आ जाता है। इस प्रसंगके अतिरिक्त भी उनकी रचनाओंमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि उनकी रुचि गुरु-महिमा-गानकी ओर भी थी। वे उल्लसित होकर कहीं रामभक्ति और गुरु-भक्तिका तारतम्य करते हैं[1] तो कहीं गुरुकी अमोघ शक्तिके प्रदर्शनके लिए—'राखइ गुरु जो कोप बिधाता। गुरु विरोध नहिं कोउ जग-त्राता[2]'की घोषणा करते हैं। इसकी पुष्टिके दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं। भुशुण्डिको अपने पूर्वजन्मकी शूद्र-देहमें महेशकी क्रोधाग्निसे किसने उबारा? दशरथके भाग्यमें पुत्र न रहते हुए भी उन्हें किसने सन्तान-सम्पन्न बनाया? वस्तुतः कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, गुरुके अनुग्रह बिना वह इस अपार संसार-सागरका पार नहीं पा सकता, वे ऐसा उत्कट विश्वास भी प्रकट करते हैं—

'गुरु बिनु भव-निधि तरइ न कोई।
जो बिरंचि संकर सम होई[3]।'

'जानकीमंगल', 'पार्वतीमंगल', 'रामाज्ञाप्रश्न' आदि ग्रन्थोंके मंगलाचरणमें गौरी, गणपति, शारद, शेष प्रभृति देवोंके साथ गुरुका

१. 'दोहावली' दो० २८ २. 'मानस' बा० १६५.६

३. 'मानस' उ० ९२.५

भी अभिवादन किया गया है। इससे प्रकट होता है कि तुलसीकी दृष्टिमें गुरु भी देवतुल्य ही है।

गुरु-माहात्म्य गानमें अभिनिविष्ट होनेके कारण एकाध प्रसंगमें उन्होंने ऐसे विचार भी व्यक्त किये हैं जो उनके-जैसे महान् व्यक्तिकी कृतिमें शोभा नहीं पाते। देखिये—

'जो सठ गुरु सन ईर्ष्या करहीं।
रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा।
अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा'॥'[1]

गोस्वामीजीकी रचनाओंमें गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष देखते हुए यही कहा जा सकता है कि गुरु-महिमा-प्रदर्शनके सम्बन्धमें उन्होंने प्राचीन और मध्यकालीन दोनों परम्पराओंकी लीक सुरक्षित रखी है। यह उनका अन्धविश्वास नहीं प्रत्युत आत्मविश्वास है। उनका दृढ़ विश्वास था कि तपोनिष्ठ, सच्चे गुरुकी महिमाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जाय, थोड़ा ही होगा। इसीलिए उन्होंने पूर्ण आस्तिक हृदयसे यत्र-तत्र गुरु-महिमा भी गायी है। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि केवल पुजाने और दक्षिणा लेनेवाले कालनेमि गुरुकी तो उन्होंने भर्त्सना ही की है—

'हरइ सिष्य-धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महुँ परई'॥[2]

अन्तमें, एक वाक्य और कहना है। तुलसीदासजीने भी यद्यपि गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन किया है, पर मध्यकालीन कुछ सम्प्रदायोंकी भाँति उनके इस प्रदर्शन-तत्त्वसे यह कदापि नहीं प्रतिभासित होता कि शिष्य स्वयं निष्क्रिय होकर साधना-सम्पन्न होनेका कोई कष्ट न उठाये और गुरु उसे स्वर्गादि प्राप्त करनेका परवाना दे दे।

भक्तिके अधिकारी

यद्यपि परम सुखदायिनी भक्ति चिन्तामणि अनर्घ रत्न है, तथापि इसपर किसी सम्राट्का एकाधिपत्य नहीं है। यह वह पैतृक-सम्पत्ति नहीं है जो

१. 'मानस' उ० १०६. ५, ६ २. वही, उ० ९८. ७

किसी विशेष जातीय या देशीय क्षुद्र कानूनके अनुसार मुट्ठीभर चुने उत्तराधिकारियोंके विलासका साधन बने। वस्तुतः भक्तिपर प्राणिमात्रका स्वत्व है[1]। भले ही मायाके प्रपञ्चमें पड़कर दुर्भाग्यवश लोग स्वयं इस अधिकारसे पराङ्मुख रहें। जौहरी अंधा है तो रत्नका क्या दोष। अर्थात् यदि साधकरूप जौहरी कुतर्क, अश्रद्धा, कुसंग, काम, क्रोध, लोभ आदिके कारण अन्धा हुआ है तो भक्ति-रूप रत्नको क्योंकर पहचान पायेगा। ऐसा ही प्राणी भक्तिका अनधिकारी है। गोस्वामीजीने 'मानस' भक्तिरत्नागारको ऐसे ही अनधिकारीको सुपुर्द करनेसे रोका है—

'यह न कहिय सठहीं हठसीलहिं।
जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिं॥
कहिय न लोभिहिं क्रोधिहि कामिहिं।
जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं॥
द्विज द्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ।
सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ[2]॥'
... ...
'राम भगति जिन्ह के उर नाहीं।
कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं[3]॥'

अवतरणसे अनधिकारीके लक्षण प्रकट हैं। कहना नहीं होगा कि अधिकारीमें इनके प्रतिमुख लक्षण होंगे, अर्थात् अधिकारी शठ या हठी नहीं होता; वह दत्तचित्त होकर भगवान्‌की लीलाओंका श्रवण करता है; वह काम, क्रोध, लोभादिके वशीभूत नहीं होता; भगवद्भजनमें लीन रहता है, ब्राह्मणमें श्रद्धा रखता है। गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें अधिकारी देखना चाहें तो यह देखिये—

१. 'गीता' ९:३२, ३३
२. 'मानस' उ० १२७. ३—५
३. 'मानस' उ० ११२. १३

'राम भगतिके तेइ अधिकारी। जिन्हके सत संगति अति प्यारी॥
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥
ता कहुँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रान प्रिय सिय रघुराई[1]॥'

अधिकारी और अनधिकारीका निर्देश भी प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थोंमें बराबर मिलता है। वेद स्वयं अनधिकारीके हाथमें जाते काँपता है। श्रीकृष्णने अर्जुनको आदेश किया है कि यह 'गीतामृत' किसी अनधिकारीको मत देना—

'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति[2]॥'

अनधिकारी ऐसे रत्नसे क्यों वञ्चित किया गया है? बात यह है कि मोह-मदमें चूर व्यक्ति असली तत्त्वको तो समझता नहीं, उल्टे अहंकारवश अर्थका अनर्थ करके सच्छास्त्रोंको भी रौंदता है।

भक्तिके विकासमें कालक्रमकी हेतुता

विकासवादके हिमायती बननेके लिए हम भले ही कहा करें कि प्राचीन भक्तिका विकास भी कालक्रमके अनुरूप हुआ है, पर तथ्य कुछ और ही है। आदि कालमें अपनी असभ्यावस्थामें रहनेके कारण हम भयवश अनिष्टकारी देवोंका क्रोध शान्त करनेके लिए उनकी आराधनामें प्रवृत्त हुए और धीरे-धीरे सुख-समृद्धिदायक देवोंके यजनकी ओर अग्रसर होकर अन्तमें लोकधर्मके भावोदयके उपरान्त इष्टदेवोपासना अर्थात् भक्तिकी भूमिपर आये। ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भक्ति क्रमिक विकासका परिणाम सिद्ध होती है पर यह मत सर्वांशमें सत्य नहीं माना जा सकता। आज दिन जब कि विकासवादियोंकी दृष्टिमें हम सभ्यताके उच्च शिखरपर आरूढ़ हैं तब भी हमारे बीच ऐसे प्राणियोंकी कमी नहीं है जो भयवश अनेक अनिष्टकारी देवों-दानवोंकी पूजा करते हैं। यही नहीं, अपने दिलका

१. 'मानस' उ० १२७. ६–८ २. 'गीता' १८:६७

अरमान पूरा करनेके लिए विविध देवी-देवताओंकी मनौती माननेवालोंकी संख्या और भी अधिक है। क्या यही भक्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठाका चिह्न है?

तत्त्वकी बात यह है कि सृष्टिका निर्माण त्रिगुणोंसे हुआ है। अतः आदि कालसे मनुष्यमात्र सात्त्विक, राजस और तामस होते आये हैं और रहेंगे। चाहे वैदिक कालको लीजिये, चाहे बीसवें शतकको, चाहे अनन्त भविष्यको, सभी कालोंमें त्रिगुणोंके आधारपर सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके प्राणी मिलेंगे। आदि कालमें तामस प्रकृतिवालोंकी आराधना भयमूलक अवश्य थी, पर इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि वह युग राजस या सात्त्विक गुण-सम्पन्न प्राणियोंसे शून्य था। अतएव यह कहना कि आदि कालमें केवल तामस उपासना होती थी—निराधार नहीं तो क्या? उस कालमें तामस उपासनाका प्राधान्य भले ही रहा हो, पर सात्त्विक प्रकृतिवालोंके हेतु विशुद्ध भक्तिका बीज भी उसी कालमें वर्तमान था। भक्ति-मार्गका सम्बन्ध कालक्रमके सिद्धान्तसे जोड़ना हिन्दको विलायत कहना है। कालक्रम विकाससे भक्तिका कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो शाश्वत है, वेद, पुराण सभी इसके गुणगायक हैं; बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी, योगी और मुनि भी इसे खोजते रहते हैं और जिसपर भगवत्कृपा होती है वही इसे प्राप्त करता है—

'प्रेम भगति अनपायिनी देहु हमहिं स्रीराम[1]।'

... ...

'अबिरल भगति बिसुद्ध तव स्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव'[2]॥'

दोनों अवतरण प्रेमाभक्तिकी शाश्वतता प्रकट कर रहे हैं।

तुलसीकी भक्ति और नैराश्यकाल

विद्वज्जनोंकी धारणा है कि तुलसी, सूर अथवा अन्य मध्य कालीन महात्माओंके द्वारा भक्तिके जो विमल स्रोत प्रवर्तित हुए वे सब तत्कालीन

---

१. 'मानस' उ० ३४. २. 'मानस' उ० ८४.

हिन्दू-समाजके नैराश्यजनक वातावरणके परिणाम हैं। यद्यपि यह धारणा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सामान्यतः ठीक भी लगती है, पर भक्तिका इतिहास, उसका रहस्य आदि जानकर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि भक्तोंके वैयक्तिक अनन्य भगवत्प्रेम और सामाजिक नैराश्यसे कोई सम्बन्ध नहीं। नारद, शाण्डिल्य, व्यास, शुक, सनकादि ऋषियोंकी प्राचीनता सामान्य भी मान ली जाय तो भी यह निर्विवाद होगा कि इनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ यवनोंके आनेके बहुत पहले हो चुकी थीं। तात्पर्य यह कि इन महात्माओंके समक्ष पराधीनता-जनित आशा-भंग न था। इन सभी भक्तोंने परमात्माके प्रति परम प्रेम करनेको ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वस्व ठहराया है। भक्ति स्वयं परम पुरुषार्थ है, जिस महात्माको इसकी प्राप्तिकी आकांक्षा हुई वही इस पथपर आरूढ़ होकर नाना प्रकारसे अपना प्रेम दृढ़ करने लगा। भगवद्प्रेमका किसी काल-विशेषकी राजनीति आदिके पचड़ेसे कोई सरोकार नहीं। यदि नैराश्यके कारण ही भक्तिका उदय होता है तो वह विशुद्ध भक्ति नहीं कही जा सकती, अस्तु।

भक्तिरस

प्रस्तुत परिच्छेदमें प्राचीन परम्परागत भक्तिका सम्यक् प्रकारसे निर्देश करके उसके विविध अवयवोंके प्रतिमानसे तुलसीकी भक्तिकी परीक्षा करके उसका शत-प्रति-शत शास्त्रीय स्वरूप दिखानेका प्रयास यहीं समाप्त किया जाता है। गोस्वामीजीकी प्रधान रचनाएँ भक्ति-रससे ओतप्रोत हैं। भगवान् रसमय हैं ही। और उसी रसमें परमानन्द है। श्रुति कहती है—'रसो वै सः।' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति';'गीता' कहती है—'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।' हमारे भक्तशिरोमणि तुलसीदास स्वयम् अनुभव करते हैं—'भावबस्य भगवान् सुखनिधान करुनाअयन।'

षष्ठ परिच्छेद

तुलसीकी उपासना-पद्धति

उपासना-विधानमें उपासक और उपास्यकी सत्ता पृथक्-पृथक् होती है। साधकसे भिन्न किसी महान् शक्तिको उपासनाका आलम्बन प्रतिष्ठित किये विना उपासना बन ही नहीं सकती। उपासना शब्द ही उपासक और उपास्यकी पृथकताका द्योतक है। 'उप' अर्थात् सन्निकट, 'आसना'—बैठना भी प्रकट करता है कि उपासक और उपास्य दो पक्ष हैं। उपास्यकी सामीप्य-प्राप्ति ही उपासकका परम लक्ष्य है। इसके लिए अपेक्षित साधन क्या हैं। उनके द्वारा साधक अपना साध्य क्योंकर प्राप्त कर सकता है, इस ओर संकेत करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'तुलसी जप तप नेम व्रत सब सब ही ते होइ।
लहै बड़ाई देवता इष्टदेव जब होइ[1]॥'

नाना प्रकारके व्रत, नियम, जप, तप आदिके अनुष्ठानके द्वारा उपासक किसी देवको अपना उपास्य बना सकता है, पर उपासक वास्तविक महत्त्व तभी पा सकता है जब अपने उपास्यको अपना इष्टदेव बना लेता है अर्थात् उपास्य जब उसके मनोनुकूल हो जाता है, उसका परम प्रिय हो जानेके कारण रक्षककी भाँति उसपर अपनी छत्रच्छाया रखता है।

इष्टदेवका स्वरूप

तुलसीने जिन रामको अपना उपास्य बनाया वे वस्तुतः इष्टदेव हैं। उनका स्वरूप कैसा है, सर्वप्रथम, इस निर्देशकी अधिक आवश्यकता

१. 'दोहावली' दो० ३२१

है। रामका स्वरूप हृदयंगम करानेके लिए तुलसीने अन्य बड़े-बड़े देवोंसे रामका अन्तर कई प्रसंगोंमें मार्मिकतासे दर्शाया है। अन्य देव प्रसन्न होनेपर वरदान तो अवश्य देते हैं, पर खीझनेपर वे उपासकका घर उजाड़नेमें भी नहीं सकुचाते, क्योंकि वे अपने अनुग्रहकी लाज नहीं रखते। इसके विपरीत राम एकरस हैं[1]। सिद्ध, योगी, मुनीश अथवा वेद, पुराण आदिके द्वारा प्रतिष्ठित कितने ही देव पूजा लेते हैं और हानि-लाभका ध्यान रखते हुए आराधकको ऐश्वर्य आदि प्रदान करते हैं, पर रामकी निराली ही रीति है, वे केवल पूजा पाकर प्रत्युपकार करना ही नहीं जानते, अपितु एक बार धोखेसे भी स्मरण करनेवालेके घोरातिघोर अघ-समूहका निर्दहन कर देते हैं, यही नहीं, स्मरणकर्ताकी अघराशिकी ओरसे तो आँख बन्द किये रहते हैं और उसके रेणुवत् गुणपर भी रीझते हैं[2]। सेवासे प्रसन्न होकर ऐश्वर्य देना तो व्यावहारिक नीति है; रामकी रीति बड़ी ही विलक्षण है, उन्हें एकमात्र अति दीन-हीन ही प्रिय होता है। अन्य देवोंकी भाँति वे केवल स्वार्थके मित्र नहीं, प्रत्युत वे अत्यन्त सन्तप्त और त्रस्तको ही अपनानेवाले हैं[3]। राम शरणागतकी रक्षा करनेमें तो अतुलनीय हैं, उनके अतिरिक्त अन्य किसी देवकी ऐसी प्रकृति नहीं होती कि वह अकारण ही 'प्रणत'पर प्रीति करे—उसके रेणुतुल्य गुणको मेरु मान ले और मेरुसे बढ़कर अवगुण भूल जाय, राम 'परम कृपाल' हैं, 'भक्त-चिन्तामणि' हैं 'पतित जन-तारन' हैं[4]। अन्य देव स्वार्थी होते हुए भी 'अनीस' 'अलायक' और 'निठुर' होते हैं, उनमें विपत्ति-विनाशन और भवतारणकी सामर्थ्य नहीं होती—राम इसके बिलकुल विपरीत हैं[5]। अन्य देव 'बलि-पूजा'के भूखे होते हैं; पर राम केवल प्रीति चाहते हैं; वे सुमिरनसे ही भला मानते हैं; उनकी 'रीति' पावन है; समस्त सुखोंको देना और दुःखोंका निवारण करना ही उनका बाना है; वे आरत-जन-बन्धु तो हैं ही, साथ ही अवगुण

१. 'विनय०' पद २४९

२. 'विनय०' पद २३६ ३. 'विनय०' पद २१६

४. वही, २०६ ५. वही, १४५

त्यागकर गुणकी ही ओर देखनेवाले 'करुणासिन्धु' भी हैं[1]। रघुवीरके समान दीन-जनकी पीर समझनेवाला अन्य सुर, नर, मुनि कोई नहीं'[2]।

रामकी इन विशेषताओंको गोस्वामीजी भले प्रकार मनमें गुनते हैं—

'आलसी-अभागी-अघी-आरत-अनाथपाल,
साहेब समर्थ एक नीके मन गुनी मैं।
दोष-दुख-दारिद दलैया दीनबन्धु राम,
'तुलसी' न दूसरो दया-निधान दुनी मैं[3]॥

कोसलपाल राम अन्यान्य पालकोंसे क्या निरालापन रखते हैं, यह भी देखिये—

'भूमिपाल, व्यालपाल, नाकपाल, लोकपाल,
कारन-कृपालु, मैं सबैके जी की थाह ली।
कादरको आदर काहूके नाहिं देखियत,
सबनि सोहात है सेवा-सुजानि टाहली।
'तुलसी' सुभाय कहै नाहीं कछु पच्छपात,
कौन ईस किए कीस भालु खास माहली।
राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत;
मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली[4]॥'

राममें अन्य देवोंकी-सी वह क्षुद्रता नहीं है जिसके कारण वे उपासककी बहुत बढ़ती देखकर क्षुब्ध हों[5]। रामके समान 'प्रेम कनौड़ा' तो त्रिभुवन और तीन कालमें कोई नहीं[6]। सेवककी सेवकाईके वशमें होकर वे स्वयं ऋणी बन जाते हैं और सेवकको धनी मानकर उसका ऋण चुकानेके लिए इकरारनामा लिखनेमें भी नहीं सकुचाते[7]। सर्वस्व देकर भी भक्तका

१. 'विनय०' पद १०७
२. 'विनय०' पद ७५
३. 'कविता०' उत्तर छ० २१
४. कविता०' उत्तर छ० २३
५. 'कविता०' उत्तर छ० ५४
६. 'विनय०' पद १६४
७. 'विनय०' पद १००

'रिनिया' बना रहनेवाला[१], सच्चा 'सनेही' और प्रेम कनौड़ा कोसलपालसे बढ़कर और कोई नहीं[२]। हनुमान् सदृश सेवककी सच्ची सेवाके वशवर्ती हो राम स्वयं सेवकके हाथ बिक जाते हैं।*

रामकी सहज शरणागत-वत्सलता और उनकी दासप्रियता कैसी है, इसे गोस्वामीजी रामके श्रीमुख द्वारा यों दर्शाते हैं—

'सब विधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाऊँ।
आयो सरन भजौं, न तजौं तेहि, यह जानत ऋषि राउ॥
जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ।
तिन्हहि लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ॥
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल लोक पतिआउ।
नहिं कोउ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ[३]।'

एकसे एक बढ़कर पातकी भी प्रपन्न होकर रामके सम्मुख आते ही अपने जन्म-जन्मान्तरके पापोंसे मुक्त हो जाते हैं[४]। यही नहीं, विश्वद्रोह-कृत अघका भार भी सिरपर लादे हुए यदि कोई रामकी शरणमें आता है तो वह भी त्याज्य नहीं होता[५]। परम भयातुर व्यक्ति भी रामकी शरणमें आते ही तुरन्त अभयदान पाता है[६]।

रामकी यह अप्रतिम शरणागत-वत्सलता देखकर कोई पुण्यात्मा अथवा धनी आदि यह न समझे कि रामकी शरणागति केवल दीनोंके लिए ही हितकर है, दीनों और निराश्रितोंका तो वह अनन्य सम्बल है ही, साथ ही मोटे धनी-मानीकी भी राम सुनते हैं। उसका भी परम कल्याण करते हैं। इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

---

१. 'दोहावली' दो० १११
'मानस' सुन्दर ३१.७
२. 'विनय०' पद १९१
३. 'गीतावली' सुन्दर० पद ४५
४. 'मानस' सुन्दर० ४३.१,२
*'कवित्त०' उत्तर छ० १९
६. वही, ४७.२
५. 'मानस०' सुन्दर० ३८.७

'गए राम सरन सबको भलो।
गनी-गरीब, बड़ो-छोटो, बुध-मूढ़, हीन—बल अति—बलो
पंगु अंध निरगुनी निसंबल जो न लहै जाँचे जलो।
....'[1]

रामकी शरणागत-वत्सलताके प्रमाण स्वरूप 'दोहावली'[2], 'गीतावली'[3], 'कवितावली'[4], 'विनयपत्रिका'[5] और 'मानस'[6]में अनेकानेक उदाहरण वर्तमान है।

राम अपने प्रणतपर गम्भीर प्रेम रखते हैं, इसकी घोषणा परम भक्त हर और हनुमान् दोनोंने की है[7] और स्वयं रामने भी इसे स्वीकार किया है—

'सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम-प्रान-प्रिय[8]।'

सेवकपर ऐसी ही प्रीति रखनेके कारण राम अपने दासको अबोध शिशु जानकर माताकी भाँति स्वयं उसकी रक्षाके लिए साथ लगे रहते हैं[9]।

राम यद्यपि समदर्शी हैं, तथापि दासपर अनन्य प्रीति रखते हैं[10]। सेवक रामकी ममता एवं प्रीति उभयका पात्र होता है[11]। जनसे राम किसी प्रकारका दुराव भी नहीं रखते[12]। अपने अन्तःकरणकी असीम

---

१. 'गीता०' सुन्दर० पद ४२

२. दे० 'दोहावली' दो० १५७,१६०

३. 'गीतावली' सुन्दर० पद ३९,४०, ४३

४. 'कविता०' लं० छ० ५३, उत्तर० ५,६,१३

५. 'विनय०' पद २०६, १६६

६. 'मानस' पृ० ३१६,३५४, ३६३ आदि

७. 'मानस' लं० २.६, सुन्दर० ६.६,

८. वही, उ० ८७

९. वही, अरण्य० ४२. ५

१०. 'मानस' किष्कि० २.८

११. 'मानस' अरण्य० ४४.२

१२. वही, अरण्य० ४१.३

करुणा और क्षमाके कारण राम अपने व्यक्तिगत विरोधीको तो छोड़ देते हैं पर भक्त-विरोधीको वे अपनी क्रोधाग्निमें भस्म कर डालते हैं[१]। भक्तकी आर्त पुकारपर वे कहाँ नहीं पहुँचते[२] ? महान्से महान् संकट या दुर्घटनाकी उपस्थितिमें, जहाँ कोई भी रक्षक नहीं रहता वहाँ भी राम भक्तकी रक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं[३]। रामका एक मात्र प्रण है—

'प्रन हमार सेवक हितकारी'[४]।

रामकी परमोदारता भी अकथनीय है। यह उसीका फल है कि वे बिना सेवाके ही द्रवीभूत हो जाते हैं; नाना प्रकारके योगादि साधनके सम्पादन द्वारा बड़े-बड़े मुनि और ज्ञानिजन जो पद नहीं पाते वह परमोदार रामने शबरी और गृद्धको दिया; यही नहीं, जो विपुल वैभव रावणने घोरातिघोर तपका अनुष्ठान करके शिवकी कृपासे प्राप्त किया, वही अतुलनीय ऐश्वर्य सकुचाते हुए रामने विभीषणको दे डाला[५]। रामकी यह परमोदारता नहीं तो क्या है कि उन्होंने अहल्याका भी उद्धार किया; नीच निषादको सखा बनाकर उसे लोक और परलोक दोनोंमें पुनीत कीर्ति दी; बन्दर-भालूको भी अपनाया; रावणसे त्रस्त विभीषणको शरणमें आया देखकर उसे भूप बनाकर अपना 'करुणानिधि', 'अनाथ-नाथ' नाम सार्थक किया[६]। रामकी इस उदारताका संकेत प्रायः सभी पात्रोंके द्वारा कराया गया है।

परम औदार्यके कारण राम कोमलता, कारुण्य, कृपा, दया, दाक्षिण्य, क्षमा, परोपकार आदि विशिष्ट गुणोंके भी आकर हैं। वैरी निशाचरोंको

---

१. 'मानस' अयो० २१६.५,६; 'कविता०' उ० छ० ३

२. 'कविता०' उ० छ० ८

३. 'कविता०' उ० छ० ५३

४. 'मानस' बाल० पृ० ६४

५. 'विनय०' पद १६२
'दोहावली०' दो० १६१, १६२
'मानस' सुन्दर० ४९

६. 'कविता०' उत्तर० छ० १०

भी परम पद देना रामके हृदयकी अनन्त विशालताका परिचायक है। परम भक्त शिव रामके हृदयकी यह विशेषता स्वयं बताते हैं—

'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।
पावहिं गति जो जाचत जोगी॥
उमा राम चित मृदु करुनाकर।
.... ॥
अस कृपालु को कहहु भवानी[१]।'

'राम-प्रेम-मूर्त्ति' भरत भी यह बात बताते हैं—'अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा[२]।' रामके हृदयकी विशालताकी यह पराकाष्ठा है कि उनके क्रोधका पात्र भी अनायास ही परमपद प्राप्त करता है[३]। रामका चित्त फूलसे बढ़कर कोमल और वज्रसे बढ़कर कठोर भी है[४]। रामकी दयालुतासे अवधवासी भी खूब परिचित थे, इसीसे उनके लंकासे प्रत्यागमनका समाचार सुनते ही वे परस्पर 'तुम्ह देखे दयालु रघुराई' कहकर ही दौड़ते हैं[५]। रामकी निकटतम चरणानुरागिनी सीताने भी हनुमान्‌जीसे अपना सन्देश भेजते समय रामको उनके कोमल चित्त और दयालुताकी ही याद दिलायी थी[६]। गोस्वामीजी प्रायः अपनी सभी रचनाओंमें रामकी दयालुता एवं हृदयकी कोमलता आदिका बार-बार संकेत करते हैं। रामकी परोपकारिणी प्रकृति उन्हींतक सीमित नहीं है, अपने भक्तोंको भी वे परोपकारी बनाते हैं[७]। रामका दाक्षिण्य भी लोकोत्तर है। इसीसे उनका स्वभाव उनके शत्रुके अनुकूल भी पड़नेवाला है, औरोंकी तो बात ही क्या। ऐसा कोई भी पात्र नहीं मिलेगा जिसका मन राममें न रमा हो।

१. 'मानस' लं० पृ० ३९४
२. 'मानस' अयो० पृ० २४१
३. वही, अरण्य० २५ ११
४. 'वही, उत्तर० १९
५. वही, उत्तर० २.८
६. वही, सुन्दर १३.४
७. वही, उ० ४६.५

'दानि-शिरोमणि राम'की बेजोड़ दानशीलता भी वर्णनातीत है। रामसे जो एक बार भी याचना करता है वह सदैवके लिए अयाचक हो जाता है, उसे फिर याचकतावश कभी नाचना नहीं पड़ता।[1] सुर, असुर, नर, मुनिमें ऐसा कोई नहीं जो बिना कुछ पाये ही देता हो, पर राम तो कल्पवृक्ष हैं[1]। सुर-असुर, नर-नागमें ऐसा कौन है जो 'दसरथके दानि-सिरोमनी राम'के पास जाकर अपना मनोवाञ्छित फल न पा सका हो[2]।

सीतापति रामका सरल शील भी अपरिमित है। ऊपर दिखाये गये विविध गुणोंके जैसे राम आगार हैं वैसे ही शील संकोच आदिके भी पारावार हैं। रामके शीलपर मुग्ध होकर अत्रि कहते हैं—'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई[3]॥' रामके समान शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला दूसरा कोई नहीं[4]। रामके शीलके विषयमें गोस्वामी जी कहते हैं—

'प्रभु तरु तर, कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सो साहिब सील-निधान[5]॥'

रामके शील-संकोच आदिके विषयमें भरतजी क्या कहते हैं, यह देखिये—

'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेह-सदन-रघुराऊ[6]॥'

... ...

'सरल सुसाहिब सील निधानू। प्रनतपाल सर्वज्ञ सुजानू[7]॥'

मरणासन्न महाराज दशरथ भी अपनी अन्तिम घड़ियोंमें रामके गुण, रूप और शीलका ही चिन्तन करते हैं[8]। स्वभावसे ही क्रुद्ध होनेवाले

१. 'विनय०' पद १६३
२. 'कविता०' उत्तर छ० ३८
३. 'मानस' अरण्य० ५.८
४. 'मानस' अयो० २३.४
५. 'मानस' बाल० २९.
'दोहावली' दो० ५०
६. वही, अयो० १८१.५
७. वही, अयो० २९६.२
८. 'मानस' अयो० १४७.६

परशुराम भी अन्तमें रामके शीलपर मुग्ध होकर उन्हें 'बिनय-सील-करुना-गुन-सागर, जयति बचन रचना अति नागर' कहकर स्तुति करते हैं[१]। वस्तुतः रामका शील-स्वभाव मनको उत्फुल्ल करनेवाला, तनको रोमाञ्चित करनेवाला और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित करनेवाला है। यदि कोई सीता-पतिके ऐसे शील-स्वभावसे अप्रभावित ही रहता है तो निश्चय ही वह धूल फाँकनेवाला है[२]।

रामकी धर्मपरायणता और सत्यनिष्ठा भी मननीय है। यद्यपि रामकी ही आज्ञा 'अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई' सभीके सिरपर वर्तमान है, तथापि संसारके मंगलके हेतु वे स्वयं पक्के धर्मधुरंधर, 'श्रुति-सेतु-पालक' और 'सत्य सन्ध' हैं[३]। नीति-प्रीति, परमार्थ, स्वार्थके यथार्थ मर्मको राम-से बढ़कर समझनेवाला और कोई नहीं[४]। राम सर्वज्ञ, सुजान, धर्म-नीति-गुण-ज्ञान-निधान हैं[५]। वे 'वेद बोधित कर्म-धर्म-धरनी-धेनु-विप्र-सेवक-साधु-मोदकारी हैं[६]। अस्तु।

रामके सद्गुणों और उदात्त वृत्तियोंका जो प्रतिभास ऊपरके संक्षिप्त विवरणसे मिलता है उसके आधारपर हमें उनके आभ्यन्तरिक स्वरूपकी एक मनोहारिणी झाँकी मिल जाती है। इसे पाते ही हमारा हृदय कचोटने लगता है कि जिन राममें इन दिव्य गुणोंकी अभिराम ज्योति प्रस्फुटित होती है उनका बाह्य रूप कैसा है। हमारी आँखें उनकी विग्रह-मधुरिमाका पान करनेके लिए तरसने लगती हैं। आगे इसी अतृप्त तृषाको तृप्त करनेका प्रयासमात्र किया जाता है।

रामका सौन्दर्य कल्पनातीत है। यह वह अतीन्द्रिय जगत्की सुषमा है जिसपर सामान्य जीवधारीमात्रका आसक्त होना तो साधारण बात है

१. वही, बाल० २८४.३
२. 'विनय०' पद १००
३. 'मानस' अयो० २५२.२,३
४. 'मानस' अयो० २५२.५
५. 'मानस' अयो० २५५.८
६. 'विनय०' पद ४३

जब कि परम विरागी ब्रह्मज्ञानी, विज्ञानी अपने ब्रह्मचिन्तनके अपार आनन्दको ठुकराकर भी उस रूपकी स्तुति करते हैं। देखिये—

'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा[1]॥'

प्रत्यक्ष क्या यदि स्वप्नमें भी किसीने वह रूप देखा है तो वह उसकी अनुभूति पा सकता है[2]। रामके प्रत्येक अंगकी सुषमा अप्रतिम है, भक्तजन-सुखदायी है, उनके शरीरकी छविपर करोड़ों काम निछावर हैं[3]। रामके उस मनोरम स्वरूपकी, जिसे शिव और काकभुशुण्डि सदृश परम भक्त अपने हृदयमें प्रतिष्ठित किये रहते हैं और जिसके लिए मुनि यत्न किया करते हैं, एक झलक देखिये—

'नील सरोरुह नील मनि, नील-नीरधर-स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम॥

सरद-मयंक-बदन-छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर-निकर-बिनिंदक हासा॥
नव-अंबुज अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥
भृकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा।
कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला।
पदिक हार भूषनि मनिजाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ।
बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥
करि-कर-सरिस सुभग भुज दंडा।
कटि निषंग कर सर कोदंडा॥

१. 'मानस' बा० पृ० १०२
२. 'मानस' दो० १९८.१२
३. वही, दो० २८४.४

तड़ित विनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन-भवँर-छबि छीनि॥

पद‌राजीव बरनि नहिं जाहीं।
मुनि-मन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं[१]॥'

रामके वर्णनातीत सौंदर्यपर प्रकृतितः सौन्दर्यप्रेमी नर-नारियोंका वश होना तो साधारण बात है, जब कि पशु-पक्षी भी उसे देखकर आनन्दित होते हैं[२]। यही नहीं जलचर भी प्रकट होकर रामको देखते हैं और दर्शनके आनन्दातिरेकमें वे निश्चलसे हो जाते हैं[३]। रामके अपरिमित सौन्दर्यका प्रभाव उनके सेवक सुर, नर, मुनि, चर, अचरपर पड़ना तो स्वाभाविक ही है, इसके अतिरिक्त इस शोभाके समक्ष शत्रु निशाचर भी आकर मोहित हो जाते हैं और अपना आयुध चलाना भी भूल जाते हैं[४]।

रामने जो अपार सौन्दर्यमय शरीर धारण कर संसारको प्रकाशित किया है उसमें बालक राम, अरण्य-विहारी राम तथा सिंहासनस्थ राजा रामके मनमोहक रूपके सभी दृश्य अभेद रूपसे वर्तमान हैं। गोस्वामीजीने रामके इन सभी रूपोंकी कमनीयतापर करोड़ों कामदेवोंकी छबिको लज्जित होते दिखाया है।

रामके बाल रूपकी परम आह्लादकारिणी झाँकी जिसमें उनके नाना भक्त निरन्तर डूबे रहते हैं, भक्त भुशुण्डिके साथ देखिये—

'इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि-सत-कामा॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥

... ...

बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि-सुखदाई॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥

---

१. 'मानस' बाल० पृ० ७१ २. 'मानस' अयो० १३६.२

३. वही, लं० ३.३—५

४. वही, अरण्य० १८.१

नव-राजीव-अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि-दुति हरना॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर-रव कारी॥
चारु पुरट-मनि रचित बनाई। कटि किंकिन कल मुखर सुहाई॥
रेखा त्रय सुंदर उदर नाभि रुचिर गंभीर।
उर आयत भ्राजत विविध बाल विभूषन चीर॥
अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल विभूषन सुंदर॥
... ...
पीत झीनि झिगुली तन सोही।
किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप-रासि नृप-अजिर-बिहारी।
नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी[1]॥'

बालक रामके अनुपमेय सौंदर्यके प्रकाशक ऐसे अनेक स्थल 'गीतावली[2],' 'कवितावली[3]' और 'मानस[4]'में वर्तमान हैं, रघुपतिके अनेकानेक भक्तगण इसी बाल रूपपर तृण तोड़ते हैं, ध्यान-मग्न रहते हैं। शिवजी भी इसी बालरूपपर मुग्ध होकर इसीकी वन्दना करते हैं—

'बंदउ बाल रूप सोइ रामू।
सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू[5]॥'

विपिन-विहारी रामके अगाध लावण्यकी छहरान भी देखिये—

'सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदुमूरति मन मोरे॥
पीत बसन कटि चारु चारिसर, चलत कोटि नट सो तृन तोरे।
स्यामल तनु स्रम-कन राजत ज्यों नव घन सुधा सरोवर खोरे॥

---

१. 'मानस'उत्तर० पृ० ४७६,७७.

२. दे०'गीतावली' बाल० छ०२०,२२ २४,२५,२९,३०

३. 'कविता०' बाल० छ० १-७

४. 'मानस'बाल पृ० ९४, ९६ ५. 'मानस'बाल० पृ० ५७

ललित कंध, बर भुज बिसाल उर, लेहिं कंठ रेखहि चितचोरे।
अवलोकत सुख देत परम सुख लेत सरद ससिकी छबि छोरे॥
जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।
सोभा अमित समाति न कानन, उमगि चली चहुँदिसि मिति फोरे॥
चितवत चकित कुरंग कुरंगिनि सब भए मगन मदनके भोरे।
तुलसीदास प्रभु बान न मोचत सहज सुभाय प्रेम बस थोरे[1]॥'

कहना न होगा कि गोस्वामीजीको 'राघवकी बिपिन बीचिन्हकी धावनि' अतिशय प्रिय थी[2]। इसी हेतु इस स्वरूपकी अमित शोभाका एकसे एक बढ़कर वर्णन किया है[3]। रामोपासकोंमें अधिकांश भक्तगण भगवान्‌के इस विपिन-विहारी कर-शरधारी रूपका ही ध्यान करते हैं। सिंहासनस्थ राजारामकी अपार छबिकी झलक देखिये—

'भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्तिबिराजते॥
श्रीसहित दिनकर-बंस-भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव-अंबु-धर-बर-गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे[4]॥'

इस अपार शोभाका वर्णन शेष श्रुति शारदा आदि भी नहिं कर सकते। इसका विशेष रसास्वादन करनेवाले हैं—भगवान् शंकर[5]। 'भूप-मौलिमणि', 'राजराजेन्द्र राजीवलोचन'रामकी इस शोभाका विशद प्रकाशन 'गीतावली'के उत्तरकाण्डके अनेकानेक पदोंमें हुआ है। उनमें

१. 'गीतावली'अरण्य० छ०२ २. 'गीतावली 'अरण्य० पद ५.
३. दे० वही, अरण्य० पद १, ४; 'कविता०' अयो० छ० २१, २६, २७;'मानस' अरण्य० १०, ८, ४, ३, ६; लंका० ११२. २; उत्तर० १३, ५, २९. ४; 'विनय०'पद ४५ इत्यादि।
४. 'मानस'उत्तर० पृ० ४४८ ५. 'मानस'उत्तर० १२

राजा रामके अंगप्रत्यंगकी अमित सुषमा दर्शायी गयी है[1]। रामके इस स्वरूपकी ज्योतिसे भी उनके भक्तोंका हृदय निरन्तर ज्योतिष्मान् रहता है।

रामके अनेकानेक सद्‌गुणों और उनकी अपार छविकी ओर संकेत करनेके अनन्तर उनके लोकोत्तर महान् सामर्थ्यपर भी दृष्टिपात करना चाहिये। राम अपरिमेय सामर्थ्यवान् हैं तभी तो रजको मेरु और मेरुको रज बनानेकी क्षमता रखते हैं। राम जैसे शील-चातुर्य आदिमें अनुपमेय हैं वैसे ही सामर्थ्यमें भी—

'स्वामि सुशील समर्थ सुजान सो तोसों तुहीं दसरत्थ दुलारे।'[2]

राममें वह शक्ति है कि यदि वे अकेले ही रणभूमिमें अचल हो जायँ तो सारे सुर और असुर एक होकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते[3]। औरोंकी तो बात ही क्या, ब्रह्मा और रुद्र भी रामके शत्रुको नहीं बचा सकते[4]। राममें वह सामर्थ्य है कि उनके 'भृकुटी-विलास' मात्रसे संसारकी स्थिति और प्रलय दोनों होते हैं। राम तृणको वज्र और वज्रको तृणरूपमें परिणत करते हैं[5]। रामके रोषसे सैकड़ों त्रिदेव (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) भी किसीका परित्राण नहीं कर सकते[6]। रामकी क्रोधाग्निमें चौदहों भुवन शीघ्र ही भस्म हो सकते हैं। तभी तो शिवजी कहते हैं—

'सुन गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारि दस आसू॥
सक संग्राम जीतिको ताहीं। सेवहिं सुर-नर-अग-जग जाहीं॥'

रामके धनुष्-संधान मात्रसे समुद्र भी त्रस्त होकर कम्पायमान हो उठता है[7]। अपने एक बाणसे सैकड़ों समुद्रोंके शोषणकी शक्ति राममें

१. दे० 'गीता०' पद ३, ४, ५, ६, ७, १६, १७, २१
२. 'कविता०' उत्तर० छ० १२.
३. 'मानस' अयो० १८७.७
४. 'मानस' लं० २६.२
५. वहीं, लं० ३४.७, ८
६. 'कविता०' लं० १२
७. 'मानस' सुन्दर० ५७.६

है[1]। राम जिस समय बाण फेरने लगते हैं उस समय 'ब्रह्माण्ड-दिग्गज-कमठ-अहि-महि'का डोलना तो सामान्य बात है[2]। ऐसा है अपरिमित रामका सामर्थ्य।

इस प्रकार रामकी चरितगत कुछ विशेषताओंका उद्‌घाटन किया गया; पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि राममें इतने गुण या इतनी ही चारित्रिक विशेषताएँ हैं। रामके गुण और उनके चरितके विषयमें शिवजी क्या कहते हैं—

'राम चरित सत कोटि अपारा। स्रुति सारदा न बरनइ पारा॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी[3]॥'

भक्त-शिरोमणि भरतने भी रामके गुणोंके विषयमें अपना ऐसा ही विचार प्रकट किया है[4]।

राम और रामकथा दोनों ही अनन्त हैं और उन्हें साधु-महात्मा अपनी मतिके अनुसार गाया करते हैं, वस्तुतः रामकथाका सम्यक् गान तो कोटि कल्पपर्यन्त भी असम्भव है[5]। राम और रामके गुणोंकी अनन्तताकी अनुभूति कर लेनेपर किसे मोह हो सकता है कि राम मनुज हैं। रामको मनुज कहने या समझनेवालोंकी तो जबान कटकर गिर जानी चाहिये[6]। गोस्वामीजीका विचार है कि एकमात्र अधम, मोहग्रस्त, पाखण्डी, सत्यको न जाननेवाला, अज्ञानी, विषयी, पापी, साधु-सन्तके सत्संगसे पराङ्‌मुख ही रामको केवल मनुष्य मान सकता है[7]। वस्तुतः राम एकमात्र नृपति ही नहीं, उन्हें तो 'अग-जग-नाथ अतुल 'बल' जानना चाहिये। जिनकी सेवामें शिव, ब्रह्मा, सुर मुनि आदि सभी तत्पर रहते

१. 'मानस'सुन्दर० ५५.२
२. वही, लं० ८६
३. वही, उत्तर० पृ० ४६६
४. वही, अयो० पृ० २४७
५. वही, बाल० १२९.५, ६
६. 'मानस' लं० ३२. ८
७. 'मानस' बाल० ११४ १-८
८. वही, लं० पृ० ३९०

हैं वे ही राम हैं। शारदा, शेष, महेश, विधि, आगम, निगम, पुराण आदि नेति-नेति कहकर जिसका निरन्तर गुणानुवाद करते हैं, जो एक, अनीह, अनाम, अज, सच्चिदानन्द, परमधाम और संसारमें व्याप्त भगवान् है, वही रामरूप धारण कर नाना प्रकारके चरित करनेवाला भी है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाशरथि राम और संसारमें व्याप्त, विभु, महाविष्णु या परात्पर ब्रह्मका तादात्म्य है। यही नहीं, गोस्वामीजी की रचनाओंसे यह भी प्रमाणित होता है कि विष्णु और उनके विविध अवतार और साथ ही शिवका तादात्म्य भी रामसे है।

मनु-शतरूपाका अपार तप देखकर त्रिदेव (विधि-हरि-हर) उनके समीप बार-बार आये और नाना प्रकारके वरदान देनेको उत्सुक हुए, पर दम्पतीका मन चलायमान न हुआ, क्योंकि उन्हें त्रिदेवोंका वरदान अभीष्ट न था, उन्हें तो त्रिदेवोंके भी नियामक सर्वज्ञ प्रभुको प्रकट करनेकी अभिलाषा थी[2]। यही सर्वज्ञ प्रभु महाविष्णु या परमात्मा ब्रह्म है। इसका ही परमार्थवादी अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि रूपसे चिन्तन करते हैं, वेद भी इसके ही निरुपाधि सच्चिदानन्द रूपका नेति-नेति कहकर गान करते हैं, इसीके अंशसे नाना त्रिदेवोंकी उत्पत्ति होती है, यही प्रभु भक्तोंके हेतु विग्रह भी धारण करता है[3]। संसाररूप प्रेक्षणका जो द्रष्टा और त्रिदेवोंका प्रेरक है वही राम है[4]। रघुकुलमणि श्रीराम और सच्चिदानन्द, परावरनाथ, परेश, पुराण, व्यापक ब्रह्ममें उसी प्रकार कोई भेद नहीं है जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपलमें कोई भेद नहीं[5]। जिस अनादि अनन्त ब्रह्मकी महिमाके गानमें असमर्थ होकर वेद केवल अनुमानके सहारे सब भाँति अलौकिक करनीवाला घोषित करता है वही भक्त-हितकारी

१. वही, बाल० १२. ३, ४
२. वही, बाल० १४४. २, ५
३. वही, बाल० १४३. ४–७
४. वही, अयो० १२५. १
५. वही, बाल० ११६

कोसलपति राम हैं[१]। रामके इसी रूपकी ओर संकेत करते हुए परम भक्त लक्ष्मण कहते हैं—

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा[२]॥'

परम ज्ञानी जनकका भी यही मत है[३]। गोस्वामीजी स्वयं भी 'नित्य निर्मुक्त संयुक्तगुन निर्गुनानन्त भगवन्त नियामक नियन्ता। विश्व-पोषन-भरन विश्व-कारन-करन[४]' रामकी शरण-याचना करते हैं। इन प्रसंगोंसे स्पष्ट है कि दाशरथि राम और परात्पर ब्रह्ममें कोई भेद नहीं। इस विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि राम ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी विश्व-कारण-करण और पोषण-भरणकर्ता ही हैं, संहार-कर्ता नहीं। यद्यपि संहार भी उन्हींकी इच्छाका परिणाम है, पर संहार उनकी विशेषता नहीं, तभी तो गोस्वामीजीने ब्रह्म रामको संहार-कर्ता नहीं बताया है। ब्रह्माण्ड आदि उसी परम पुरुष रामके अंग हैं। वही रघुवंशमणि विश्वरूप भी हैं[५]। भक्तपर प्रसन्न होकर वे उसे अपना विराट्स्वरूप भी दिखा देते हैं—

'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागेउ कोटि कोटि ब्रह्मंड॥'

इसी प्रकार भक्त काक भुशुण्डीपर परम प्रसन्न होकर रामने अपने विराट् स्वरूपका दर्शन कराया[६]। ब्रह्मके वैराज्य(विराट्त्व)के अतिरिक्त उसका अमित ऐश्वर्य, अमित प्रकाश, अमित व्यापकता, अमित, शक्ति आदि सभी राममें वर्तमान हैं[७]। फिर राम और ब्रह्ममें भेद कैसा ? रामको ब्रह्मसे अभिन्न प्रकट करनेवाली उक्तियाँ विशेषतया 'मानस[८]',

---

१. 'मानस' बाल० ११८ २. 'मानस' अयो० पृ० २०६
३. वही, बाल० ३४०.६—८ ४. 'विनय०' पद ५५
५. 'मानस' बाल० पृ० ९५ ६. 'मानस' उ० पृ० ४७८, ७९
७. 'मानस' उ० पृ० ४८४ ८. 'मानस' उ० पृ० ३०५, ३०७, ३३३, ३४०, ३५४, ४३१, ४३२, ४४८

'विनयपत्रिका'[1], 'दोहावली'[2]में विद्यमान हैं। अन्य ग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं इसका संकेत है।

राम और विष्णुका भी तादात्म्य है। अपार शोभा-मण्डित घनश्याम वपुषधारी लोचनाभिराम, चतुर्भुज श्रीकान्त (विष्णु)ने अपने आयुध तथा वनमाला धारण किये हुए ही सर्वप्रथम माता कौसल्याको दर्शन दिये और तदनन्तर वे ही सुरभूप राम बालक बनकर रुदन करने लगे[3]। रामकी 'सिन्धु-सुता-प्रिय-कन्त' एवं 'मुकुन्द' आदि अभिधानोंके द्वारा वन्दना की गयी है[4]। यही नहीं, उन्हें 'इन्दिरापति'[5] और 'कमलारमण'[6] भी कहा गया है। रामके लिए 'हरि'शब्दका प्रयोग भी अत्यधिक हुआ है, इससे भी राम और विष्णु दोनोंका तादात्म्य प्रमाणित होता है। रामका धाम क्षीरसागर[7] और वैकुण्ठ[8] भी कहा गया है। इसी प्रकार 'विहङ्ग-राज-गामी' या 'गरुड़-गामी'भी रामके विष्णुत्वके ही परिचायक हैं। रामके रूपसौन्दर्य वर्णनमें उनके वक्षस्थलपर वनमालाके अतिरिक्त 'विप्रचरण-चिह्न'का वर्णन भी सूचित करता है कि राम और विष्णुके विग्रह अभिन्न हैं।

जब राम और विष्णुमें कोई भेद नहीं तो राम और विष्णुके विविध अवतारोंमें भेद कैसा ! विष्णुके विविध अवतार भी रामके ही स्वरूप माने गये हैं—

'दीनबन्धु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्हपर दाया।
... ...
मीन कमठ सूकर नरहरी।
बामन परसुराम बपु धरी॥

---

१. 'विनय०' पद ४३, ५०, ५३, ५६
२. 'दोहावली' दो० ११४, ११६, १९९
३. 'मानस'बाल० १९१. ३, ४, ८
४. 'मानस'बाल० १८५. ३, ६
५. वही, अरण्य० ३, ११
६. 'विनय०'पद ७८
७. 'मानस'बाल० मंगलाचरण सोरठ ३
८. 'मानस'बाल० १८४. २ 'विनय०'पद ५५

जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायेउ।
नाना तनुधरि तुम्हहि नसायेउ[१] ॥'

'विनयपत्रिका'में भी विष्णुके दस अवतारोंको रामके ही अवतार मानकर उनकी वन्दना की गयी है[२]। इसी ग्रन्थमें शम्भु, शिव, रुद्रादिको भी रामसे अभिन्न माना गया है[३]।

अभीतक जो संक्षिप्त विवेचन किया गया उससे स्पष्ट है कि कोशलेन्द्र राम विष्णुके अवतार ही नहीं, अपितु अनवद्य, अखण्ड, अगोचर, सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, विश्वात्मा, परमात्मा, परात्पर ब्रह्म भी हैं। इसी प्रसंगमें कदाचित् यह भी संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि रामका यह स्वरूप-चित्रण गोस्वामीजीके स्वेच्छाचारका फल नहीं है, प्रत्युत इस स्वरूपके निदर्शनमें भी उन्होंने अपनी प्राचीन परम्पराका अनुगमन नूतन ढंगसे किया है। अधिकांश विद्वज्जनोंकी धारणा है कि 'वाल्मीकीय रामायण'के मूल ग्रन्थमें, राम चरित-नायकके अतिरिक्त और कुछ नहीं माने गये हैं। परात्पर ब्रह्मकी बात तो दूर रही, विष्णुके अवतार भी नहीं स्वीकृत हुए हैं। निस्सन्देह 'वाल्मीकीय रामायण'के अधिकांश भागमें राम लोकोत्तर वीर नायकके ही रूपमें अंकित किये गये हैं, पर वहाँ ऐसे भी प्रसंग वर्तमान हैं जो स्पष्टतया प्रकट करते हैं कि राम विष्णुके अवतार ही नहीं, वरन् परात्पर ब्रह्म भी हैं, यथा महाकाव्यके षष्ठ खण्ड (युद्ध काण्ड)में ब्रह्मा रामसे कहते हैं—'आप ही...सच्चिदानन्द ब्रह्म... आप ही उद्भव प्रलयके कारण हैं...मैं आपका हृदय हूँ, सरस्वती आपकी जिह्वा है। मेरे निर्मित देवगण आपकी रोमावली हैं। आपकी पलकोंका बन्द होना ही रात्रि और उनका खुलना ही दिन कहलाता है। वेद आपके विचार हैं...आप ही परमात्मा कहलाते हैं...सीता लक्ष्मी और आप विष्णु हैं[४]।'

१. वही, लं० १०९. ३, ७, ८

२. 'विनय०'पद ५२ ३. 'विनय'पद ४९

४. जे० मूअरः 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स' भाग ४ पृ० १८१

यदि 'वाल्मीकीय रामायण'के ऐसे प्रसंग प्रक्षिप्त माने जायँ तो भी 'अध्यात्मरामायण'के प्रत्येक पृष्ठसे रामका विष्णुत्व और ब्रह्मत्व तो सिद्ध ही है।

अपने इष्टदेवके किस स्वरूपपर अनुरक्त होकर उसकी भक्तिमें हमारे भक्त कविने अपनेको अर्पण कर दिया, उस स्वरूपका द्योतक यह पद प्रसंगकी समाप्तिके साथ उद्धरणीय है—

'जानकी-जीवन, जगजीवन, जगतहित,
जगदीस, रघुनाथ, राजीव-लोचन राम।
सरद्-बिधु-बदन, सुख-सील, श्री-सदन,
सहज सुंदर तनु, सोभा अगनित काम।
जग सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित सुमीत,
सबको दाहिनो, दीनबंधु काहूको न बाम।
आरति हरन, सरन सुखद, अतुलित दानि,
प्रनत पाल, कृपालु, पतित पावन नाम।
सकल-बिस्व-बंदित, सकल-सुर-सेवित,
आगम-निगम कहैं रावरे ई गुन ग्राम।
इहै जानिके तौ तुलसी तिहारो जन भयो,
न्यारोकै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम॥'

'विनय०' पद ७७.

उपासनाका स्वरूप

राम ऐसे अद्वितीय उपास्यकी उपासनामें प्रवृत्त होनेके लिए जैसी उपासनाकी अपेक्षा होती है वह भी जिज्ञास्य है। वस्तुतः उपासनाका मूल आधार है श्रद्धा। अतएव इसके भेदानुसार उपासनाके भेद भी किये जा सकते हैं। श्रद्धा तीन प्रकारकी कही गयी है—सात्विकी, राजसी और तामसी[१]। इसके आधारपर उपासनाके त्रिविध रूप स्पष्ट

१. 'गीता' १७:२ 'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां...तां शृणु।'

प्रकारके लेने-देनका अभाव है। भगवान् रामके अनन्य प्रेमकी प्रतिष्ठा ही गोस्वामी जीकी उपासना है। इस अनन्य प्रेमकी अभिव्यक्तिके लिए उन्होंने मीन और चातकको प्रेमीके प्रतीकके रूपमें ग्रहण किया है[1]।

मीन जलके बिना कहीं नहीं रह सकता, चातक स्वातीकी बूँदके सिवा अन्य कोई जल ग्रहण नहीं कर सकता। यही टेक गोस्वामीजीकी भी है कि वे राम-प्रेमके बिना नहीं रह सकते। यही उनकी मीनता और चातकता है। उन्होंने स्वयं मीनकी मीनता और चातककी चातकताको क्या समझ रखा है, यह उन्हींके शब्दोंमें देखना चाहिये। वे मीनको प्रेम-का सर्वोच्च प्रतीक माननेके ही कारण कहते हैं—

'सुलभ प्रीति प्रीतम सबै, कहत करत सब कोइ।
तुलसी मीन पुनीत ते त्रिभुवन बड़ो न कोइ[2]॥'

मीनकी इस प्रशस्त कीर्तिको वे स्वयं धारण करना चाहते हैं, क्योंकि राम-प्रेम-ह्रदमें उनका मन-मीन सतत अवगाहन करता परमानन्दित होता रहता है। क्षणभर भी पृथक् नहीं होना चाहता। इसी हेतु वे एकमात्र इसके अभिलाषी हैं—'सीतापति-भक्ति सुरसरि-मन-मीनता[3]।' परम भक्त काकभुशुण्डिके द्वारा भी गोस्वामी जीने मीनताकी प्रतिष्ठा करायी है— 'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रवीना[4]।'

चातककी चातकताको व्यक्त करनेके लिए यों तो 'दोहावली'में 'चातकछत्तीसी' ही दिखाई पड़ती है, पर उसमें भी तुलसीके प्रेममतको स्पष्ट करनेवाले दो दोहे उद्धरणीय हैं—

'चातक तुलसीके मते, स्वातिहु पिये न पानि।
प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी कानि[5]॥'

••• ••• •••

१. दे० 'मानस' अयो० २३२.३, 'दोहावली' दो० ५७, २७७
२. 'दोहावली' दो० ३२०
३. 'विनय०' पद २६२
४. 'मानस' उ० पृ० ४९६
५. 'दोहावली' दो० २७९

'तुलसीके मत चातकहिं केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाचक बारह मास[१] ॥'

तुलसीका चातक बनना ही सिद्ध करता है कि उनकी उपासनाका मूल स्वरूप है रामके प्रति अनन्य, अखण्ड, अविचल प्रेम। इस अखण्ड प्रेममें उपासककी अनन्य टेक[२], उसका अनन्य मान[३], उसकी अनन्य एकनिष्ठा[४] तथा अपने उपास्यके प्रति अनन्य पूज्यता[५]का भाव ओत-प्रोत रहता है। इस प्रेमके विषयमें यह भी ध्यान रहे कि यह प्रकृतितः उत्पन्न हो[६], इसमें किसी प्रकारकी स्वार्थ-सिद्धिकी भावना न रहे, शुद्ध अन्तःकरणकी प्रेरणासे हो[७], यदि किसी प्रकारके छल-छद्मसे अभिप्रेरित होकर रामकी उपासना की जाती है तो राम उस निन्दनीय उपासनाको नहीं चाहते[८]। वे एकमात्र सीधे-सच्चे भावके भूखे हैं[९]। अतः हृदयकी निर्मलता रामोपासनाका प्रधान अंग है।

सांसारिक प्रेमको ही दृष्टिमें रखकर विचार किया जाय तो भी यह अवगत होगा कि प्रेमीके हृदय-पटलपर प्रियकी सभी मञ्जु चेष्टाएँ, उसके किये गये सभी कार्योंके नित्य ही नवीन चित्र निर्मित होते रहते हैं। प्रेमी प्रियकी की गयी लीलाओंको गुनता रहता है, वह स्वयं चाहता है कि लोग उसके प्रियकी बड़ाईका मधुर स्वर उसके कानोंमें डालते रहें। उसकी जिह्वा भी प्रियकी चर्चामें आनन्दित होती है। ये सभी बातें स्वाभाविक

---

१. 'दोहावली' दो० ३०८

२. वही, दो० २७८, २८३, २८६, ३०२, ३०४

३. वही, दो० २८८, २८९, २९०

४. वही, दो० ३०५, ३०७

५. वही, दो० २८१, २८४, २९८, २९९

६. वही, दो० १५२

७. 'मानस' सुन्दर पृ० ३६३

८. 'मानस' उ० पृ० ४८२; 'गीता०' सुन्दर छ० ४५

९. 'मानस' पृ० २२३, ४८५

या अकृत्रिम हैं। गोस्वामीजी रामोपासनाके निमित्त इन स्वाभाविक मनोवृत्तियोंको उनके चरमोत्कर्षपर पहुँचाना परमावश्यक मानते हैं—

'सुनु कान दिये नित नेम लिये रघुनाथहिंके गुन गाथहिं रे।
सुख-मंदिर सुंदर रूप सदा उर आनि धरे धनु भाथहिं रे॥
रसना निसि बासर सादर सो, तुलसी जपु जानकीनाथहिं रे।
करु संग सुसील सुसंतन सो, तजि कूर कुपंथ कुसाथहिं रे[1]॥'

हमारे नेत्र-मीन सियराम-स्वरूपके अगाध जलमें निमग्न रहें, हमारे कर्ण राम-कथाके श्रवणामृतको पान करते रहें, हमारी बुद्धि राममय हो जाय, हमारे कार्यकलाप रामोन्मुख हो जायँ, रामके अतिरिक्त हमारे प्रेमका भाजन और कोई न रह जाय, राम ही हमारे एकमात्र सम्बल हो जायँ तब समझना चाहिये कि हम रामोपासनामें लीन हुए, ऐसी लवलीनता ही जीवनका लक्ष्य है[2]। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए रामके गुणोंका निरन्तर मनन अत्यावश्यक है—

'समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ[3]॥'

उपासकोंको प्रायः यथातथ्य विधि-विधानोंके अनुसार यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है। गोस्वामीजी अपनी रामोपासनामें कैसे यज्ञका विधान बताते हैं, यह देखिये—

'बेगि, बिलंब न कीजिए, लीजिए उपदेस।
बीज[4] मंत्र जपिए सोई, जो जपत महेस॥

१. 'कविता०' उ० छ० २९
२. 'कविता' उ० छ० ३७
३. 'विनय०' पद १००
४. इस बीज मन्त्रका संकेत 'मानस' में यों है—
'बंदउ राम नाम रघुबर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के॥
महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥'

प्रेम-बारि तरपन भलो, घृत सहज सनेह।
संसय समिधि, अगिनि छमा, ममता बलि देह॥
अघ उचाटि मन बस करै, मारै मद मार।
आकरषै सुख संपदा संतोष बिचार॥
जे यहि भाँति भजन किए मिले रघुपति ताहि।
तुलसीदास प्रभु पथ चढ़्यो, जो लेहु निबाहि[१]॥'

गोस्वामीजीके ऐसे भजनका संकेत इस बातका द्योतक है कि रामोपासनाके हेतु जैसी सामग्रीकी अपेक्षा है उसे शीघ्र जुटाना दाल-भातका कौर नहीं है। इसमें यह नहीं है कि स्वर्णके प्रतापसे झट घी-साँकला उपस्थित करके जैसे भी हुआ स्वाहा कराया। रामोपासना दुष्कर भी है[२]।

इस यज्ञके हेतु हृदयसे नाना विकारोंको निकालकर उसे निर्मल बनाना अत्यावश्यक है। हृदयकी निर्मलताके बाद ही रामके प्रेमकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और तब सर्वत्र ही राम दृष्टिगोचर होते हैं। साधक चराचरको राममय देखकर उसकी वन्दना करने लगता है। यही रामोपासनाका चरमोत्कर्ष है। यही रामभक्तकी अनन्यता है। इसीका भगवान् संकेत करते हैं—

'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत[३]॥'

कहना न होगा कि इष्टदेवके स्वरूप-चित्रणमें जैसे गोस्वामीजीकी दृष्टि अधिक उदार और व्यापक होती हुई दिखाई पड़ती है वैसी ही उनकी उपासनाकी क्रमिक व्यापकताके चित्रणमें भी। यही कारण है कि उनके प्रेमके आलम्बन धनुर्धारी रामकी उपासना विश्व-रूप (रघुवंशमणि)-की उपासनामें परिणत हो जाती है।

---

१. 'विनय०' पद १०८
२. 'विनय०' पद १६७
३. 'मानस' किष्कि० ३

प्रसंगकी इतिके साथ ही यह भी निश्चित कर लेना चाहिये कि तुलसीकी रामोपासनामें गृह-त्याग आदिकी अपेक्षा है अथवा नहीं। 'मानस'-के भक्त पात्रोंको देखते हुए तो कहना होगा कि राम-भक्तके लिए न तो गृह-त्याग ही अत्यावश्यक माना गया है और न गृहासक्ति ही। विषयोंसे विमुख होकर रामके प्रेममें निमग्न रहना ही सारकी बात है, रहनेके लिए साधक चाहे गृहमें रहे, चाहे जंगलमें, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं—

'जो जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम के कानन बसहिं कि गेह[1] ॥'

तुलसीने इसी तथ्यका समर्थन 'दोहावली'के कुछ अन्य दोहोंमें भी किया है[2]।

तुलसीकी रामोपासना गृही और त्यागी दोनोंकी निधि है। इस अक्षय भण्डारकी प्राप्तिके पश्चात् उसके फलस्वरूप उपासक परमसुखोत्पादक परम शान्ति या विश्रामका भाजन हो जाता है। उसका मन समस्त विकारोंसे रहित होकर स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। राम स्वयमेव उसके हृदय-कमलको अपनी विश्रामस्थली बनाकर उसे सान्निध्यका परमानन्द देते हैं—

'बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निहकाम।
तिन्ह के हृदय-कमल महँ, करउँ सदा बिस्राम ॥'

उपासना और आचार

मनकी निर्मलता रामोपासनाका प्रधान अंग है, इस ओर अभी कुछ पहले संकेत किया जा चुका है। पर मनकी निर्मलता और आचार-विचारका चोली-दामनका सम्बन्ध है। अतएव रामोपासना और आचारके पारस्परिक सम्बन्धपर भी कुछ प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

---

१. 'दोहावली' दो० २६१

२. वही, दो० ६२, २५६

कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों और आचार्योंकी दृष्टिमें आचारका उपासनासे सम्बन्ध भले ही अकिञ्चित्कर हो, इसी प्रकार सूफी साधककी हाला और प्यालाकी नजरोंमें आचार बाहरी ढकोसला ही क्यों न हो, पर प्राचीनतम भारतीय उपासना और आचारमें आदिकालसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध चला आ रहा है। आचारका निर्देश 'ऋग्वेद'में मिलता है, उपनिषदों और सूत्रोंमें भी। स्मृतियोंके अनुसार तो आचार समस्त उपासनाका परम ग्राहक मूल तत्व ही है[1]। मनुने तो यहाँतक कह दिया है कि आचारके बिना कोई द्विज वेदफल नहीं प्राप्त कर सकता, आचारान्वित होकर ही वह सम्पूर्ण फलोंका अधिकारी हो सकता है[2]। वेद और स्मृतिमें वर्णित आचार ही परम धर्म है, द्विजातियोंके लिए वही करणीय है[3]। आचारकी आधारशिला श्रद्धा है।

वेदकी उक्ति है कि श्रद्धाहीन कोई कर्म अथवा उपासना निष्फल होती है[4]। 'ऋग्वेद'में मनुष्यका देवोंके प्रति क्या कर्तव्य है, इसके अनेक उल्लेख हैं, इसी प्रकार मनुष्य-मनुष्यके परस्पर कर्तव्यके सांकेतिक विवरण भी मिलते हैं। एक प्रसंगमें निर्बल और संकटापन्नपर दया करनेवालेकी प्रशंसा की गयी है[5]। दूसरेमें मारण, वशीकरण, परदारगमन आदिके हेतु किये गये अभिचार दण्डनीय दुराचार कहे गये हैं[6]। कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदमें ही सदाचारके बीज निहित हैं। ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी आचारकी उपेक्षा नहीं की गयी है और न उपनिषदोंमें ही। इसी प्रकार सूत्रों और स्मृतियोंमें भी आचार-विषयक उक्तियोंकी भरमार है।

आचारके विषयमें अभीतक जो दो-चार वाक्य कहे गये उनसे इस बातका संकेत मिलता है कि हमारी प्राचीनतम धर्म-भावना या उपा-

१. 'मनु०'१:१० 'सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।'

२. 'मनु०'१:१०९

३. 'मनु०'१:१०८ 'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।'

४. 'ऋग्वे०'१:१०४, ६, १०८, ६. २:२६, ३. १०:१५१

५. 'ऋग्वे०' १०:११७

६. 'ऋग्वे०' ७:१०४, ८

सना आचारसे विच्छिन्न नहीं उद्भूत हुई, प्रत्युत इन दोनोंका परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा। आचार और उपासना विषयक गोस्वामीजीके विचारोंका दिग्दर्शन करानेके पहले अत्यन्त संक्षेपमें आचारके स्वरूपका निर्देश करना आवश्यक होगा। सामान्यतः आचारके दो भाग हैं—एक साधारण आचार और दूसरा शिष्टाचार। आचार और शिष्टाचारमें कोई नैसर्गिक भेद नहीं है, केवल सम्पादन-विधिकी सरलता अथवा दुष्करताके आधारपर यह वर्गीकरण किया गया है। आचार हमारे दैनिक कर्म, व्यावहारिक नियम एवं आश्रमिक कर्तव्योंको सुव्यवस्थित रखनेवाला आचरण ही कहा जा सकता है। शिष्टाचार इसके आगेकी वस्तु है। इसके अनुष्ठानका अधिकार हमें अपनी दुर्जेय वृत्तियोंके दमनके उपरान्त ही प्राप्त होता है। अतः शिष्टाचार सन्तोंका कर्तव्य है।

'महाभारत'में वर्णित शिष्टाचारके कुछ लक्षण ये हैं—यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और सत्य ये पाँचों शाश्वत शिष्टाचार हैं[1]। शिष्ट लोग श्रुति-परायण और त्याग-परायण होते हैं। वे धर्म-मार्गपर आरूढ़ होकर सत्य और धर्म-व्रतमें लीन रहते हैं[2]। काम क्रोधको वशमें करके दम्भ, लोभ और अनार्जवका परित्याग कर धर्मव्रती होना भी शिष्ट पुरुषकी विशेषता है[3]। शिष्टाचारी निर्वृत्त भावसे यज्ञ और वेदाध्ययनादि करता ही है, आचार-पालन भी उसका दूसरा लक्षण है[4]। गुरु-शुश्रूषा, सत्य, अक्रोध और दान भी नित्य शिष्टाचार हैं[5]। अहिंसा, सत्य और भूतोंका परम कल्याण करना शिष्टाचारके परम अवयव हैं, अहिंसा परम धर्म है और उसकी प्रतिष्ठा सत्यपर होती है अतः सत्य ही परम श्रेष्ठ है, उसीपर अटल रहना शिष्टाचारका सेवन है[6]। क्षमा, सत्य, आर्जव, शौच, प्राणिमात्रपर दया और अहिंसा शिष्ट पुरुषकी प्रधान चारित्रिक

१. 'महाभा०' वन० २०६:६१ २. 'महाभा०' वन० २०६:६८
३. 'महाभा०' वन० २०६:६२ ४. वही, वन० २०६:६३
५. 'महाभा०' वन० २०६:६४
६. वही, वन० २०६:७३, ७४

विशेषताएँ हैं[१]। शिष्ट पुरुषके तीन उत्तम कर्तव्य हैं—किसीका द्रोह न करना, दान देना और सदा ही सत्य भाषण करना[२]। शिष्टाचारसेवी, धर्मव्रती सदैव वेदानुकुल मार्गका अनुसरण करता है[३]। ऐसे ही और बहुतसे उदात्त आचरण शिष्टाचारके अन्तर्गत बताये गये हैं।

गोस्वामीजीके आचार और उपासना सम्बन्धी विचारोंके परिशीलनसे प्रकट होता है कि उनकी दृष्टिमें राम-प्रेमका साधक है—आचार। इसके विपरीत अनाचार या पाप उसका बाधक है—'तुलसी राम-प्रेम कर बाधक पाप[४]' उनका विचार है कि आचार-पथपर चलते हुए रामोपासना-में संलग्न रहना श्रेयस्कर है[५]। विवेकशील आचार-पथावलम्बीकी साधनाका ही आदि, मध्य और परिणाम सभी भला होता है[६]। राम-भक्तिकी रीतिका गोस्वामीजी यों संकेत करते हैं—

'प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतनके मते इहै भगतिकी रीति[७]॥'

कहना नहीं होगा कि दोहेकी प्रथम पंक्ति आचारका ही समर्थन कर रही है।

वस्तुतः आचार और उपासना दोनों समकक्ष हैं। साधक अपनी अनन्य उपासनाके द्वारा भगवान्‌का प्रिय बन जाता है। अथवा यदि वह आचार-निष्ठ है तो भी उसे भगवान्‌का प्रेम-पात्र बननेमें कोई सन्देह नहीं रहता। देखिये—

'कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुहुँ महँ रुचै जो सुगम सो, कीबे तुलसी तोहि[८]॥'

---

१. 'महाभा०' वन० २०६:८४ २. वही, वन० २०६:९३
३. 'महाभा०' वन० २०६:९७
४. 'बरवै रामा०' उ० ६४ ५. 'दोहावली' दो० ४६९
६. 'दोहावली' दो० ३६७ ७. 'दोहावली' दो० ८६
८. वही, ७८

गोस्वामीजी उपासना और आचारको केवल एक कोटिमें रखकर ही आचारका महत्त्व नहीं प्रदर्शित करते, अपितु वे दोनोंका अविच्छिन्न एवं अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी परिलक्षित करते हैं। तभी तो उन्होंने रामके अनन्य भक्तोंकी चारित्रिक विशेषताओंमें आचारकी पूर्ण प्रतिष्ठा दिखायी है। राम-प्रेमका प्रतिपालक दशरथसे बढ़कर कौन होगा। उनकी चारित्रिक विशेषता है—

'धरम धुरंधर गुन निधि ग्यानी।
हृदय भगति मति सारंग पानी[१]।'

... ...

कौसल्यादि माताएँ भी पुनीत आचरणवाली हैं—

'कौसल्यादि नारि सब प्रिय, आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पदकमल विनीत[२]॥'

भक्त-शिरोमणि भरतका तो कुछ कहना ही नहीं। वे परम पुनीत आचारवान् और शिष्टाचारकी प्रतिमूर्ति अंकित किये गये हैं। वे पर-हित-निरत, परदुःख दुःखी और दयालु हैं[३]। धर्मधुरीण तो हैं ही[४]। शम, दम, संयम, नियम, व्रत आदि नक्षत्रोंसे उनका हृदयाकाश जगमगाता रहता है[५]। उनके व्रत आदिकी तुलनामें अच्छे-अच्छे साधु भी सकुचाते हैं—

'सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥
परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू[६]॥'

इनके चरित्रका अनुशीलनमात्र राम-भक्तिकी ओर प्रवृत्त करनेवाला है।

---

१. 'मानस' बाल० १०७.८
२. 'मानस' बाल १०८
३. 'मानस' अयो० २१८
४. 'मानस' अयो० २३१.१
५. वही, अयो० ३२३.४
६. वही, अयो० ३२४.४, ५

रामके निकटस्थ सेवक हनुमान् भी शुभ गुणागार हैं। रामभक्तिके अक्षुण्ण भण्डार तो हैं ही। जानकीजी स्वयं उन्हें आशीर्वाद देती हैं—

'अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहिं सदा रघुनायक छोहू[१]॥'

... ...

सुन सुत सद्गुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनंत[२]॥

हनुमान्के अतिरिक्त रामके प्रिय दास काकभुशुंडि कैसे आचारनिष्ठ हैं, इसका संकेत देखिये—

'तुम्ह सर्बग्य तग्य तम पारा। सुमति सुसील सरल आचारा॥
ग्यान बिरति बिग्यान निवासा। रघुनायकके तुम्ह प्रिय दासा[३]॥'

इन भक्त पात्रोंमें उनकी आचार-निष्ठाका विशेष संकेत पाकर कदाचित् यह कहना असंगत न होगा कि तुलसीको उपासना और आचारका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादन अभीष्ट था। इसीसे उन्होंने भक्तोंको आचार-युक्त दिखाया है—

रामकी अविरल भक्तिके पथमें प्रवेश करनेवाले साधकका कैसा आचार होना चाहिये, इसका संकेत गोस्वामीजी स्वयं यों देते हैं—

'कबहुंक हौं एहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा ते संत-स्वभाव गहौंगो॥
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेमु निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविरल हरि भगति लहौंगो[४]॥'

१ वही, 'सुन्दर'० १६.३ २ वही, लं० १०७
३. 'मानस' उ० ९३.१,२ ४. 'विनय०' पद १७२

इसी आचारमय मार्गपर चलनेसे रामकी अविरल भक्ति मिलती है। इस पथमें इंगित तत्त्व शिष्टाचारके अतिरिक्त क्या है। हम पहले ही कह आये हैं कि शिष्टाचार सन्त-चरित्रका लक्षण है। 'सन्त-स्वभाव गहौंगो' से यही व्यञ्जित होता है कि साधकका आचार शिष्ट रहे।

अन्तमें दो शब्द और कहना है। गोस्वामीजी आगम, निगम पुराणके साथ ही परम्पराके भी पक्के अनुयायी हैं, आचारका स्वरूप वे वही मानते हैं जो वेद, पुराण और परम्परामें अनर्घ तत्त्वकी भाँति रक्षित है। स्वेच्छाचारयुक्त आचरण उनकी दृष्टिमें आचार नहीं है। स्वेच्छाचार-मय आचरण तो अनाचार है और अनाचारसे की गयी उपासना उपेक्षणीय तथा निन्दनीय है।

अनाचारसे पंकिल उपासनाकी हेयता

गोस्वामीजीने आचारमय उपासनाको सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है, पर इसके विपरीत अनाचारसे पंकिल उपासना हेय और निन्दनीय ठहरायी है। अनाचारके स्वरूपके विषयमें सूत्ररूपसे कहा जा सकता है कि आचार या शिष्टाचारके सभी विपरीत आचरण अनाचारकी कोटिमें आते हैं। यथा, वेदाध्ययन आचार है, इसका प्रतिकूल वेद-निन्दा आदि अनाचार हुआ। ऐसे ही यदि शास्त्रानुगमन आचार है तो स्वेच्छाचरण अनाचार इत्यादि। यदि दैवी[1] और आसुरी[2] सम्पत्तिको दृष्टिमें रखते हुए विचार किया जाय तो कह सकते है कि दैवी प्रवृत्ति आचारकी जननी है और आसुरी प्रवृत्ति अनाचारकी। अनाचारकी छाया छूनेवाली उपासना निन्दनीय है, उससे उपासक कभी विश्राम नहीं पा सकता। वस्तुतः दैवी सम्पदा मोक्षके लिए और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिए ही निश्चित की गयी है[3]। फिर बन्धनमें डालनेवाले अनाचारसे पंकिल होकर उपासना कल्याणकारी कैसे

१. दे० 'गीता' १६:१,२

२. दे० 'गीता' १६:४

३. दे०गीता' १६:५

हो सकती है? अनाचारसे विकृत साधनामें स्वेच्छाचरणके प्राधान्यके कारण शास्त्र-सम्मतिकी अवहेलना रहती है। शास्त्र-विधिका परित्याग कर स्वेच्छाप्रमाण क्रिया करनेवाले न सिद्धि ही प्राप्त कर सकते हैं, न सुख ही और न मोक्ष ही[1]।

वेद-शास्त्र-सम्मति-परायण तुलसीकी दृष्टिमें भी यदि उपासक आचार-को ठुकराकर चलता है तो वह निन्दनीय है—

'श्रुति-सम्मत हरि भगत-पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कलपहिं पंथ अनेक[2]॥'

गोस्वामीजी जिस उपासनाको श्रेष्ठ मानते हैं वह वेद, पुराण, आचार-विचार संयुक्त है, परन्तु जो लोग मोहवश निजेच्छया नाना प्रकारके कल्पित पन्थोंकी उद्भावना कर उसपर चलते हैं वे तुलसीकी प्रशंसाके भाजन नहीं हैं।

वेद-निन्दक उपासक चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसकी उपा-सना हेय ही है, ऐसे महान्‌से महान् उपासकको भी गोस्वामीजी निन्दाका पात्र बनानेमें तनिक भी नहीं सकुचाते। देखिये—

'अतुलित महिमा बेदकी तुलसी किए बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार[3]॥'

सामान्य वेदनिन्दक तो—

'कलप कलप भरि एक एक नरका।
परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका[4]॥'

अनाचारमूलक उपासनाका कर्ता अधोगतिका अधिकारी होता है, दण्डभागी होता है। काकभुशुण्डि जन्मान्तरमें जब कि अवधमें

---

१. दे० 'गीता' १६:२३
२. 'मानस' उ० १०० ३. 'दोहावली' दो० ४६४
४. 'मानस' उ० ९९.४

उत्पन्न हुए थे तो वे शिवके अनन्य भक्त थे, पर उनकी उपासना अनाचारसे पंकिल थी, तभी तो वे अभिमान और दम्भसे अन्य देवोंकी निन्दा करते थे, इतना ही नहीं वे अहंकारकी उस सीमातक पहुँच गये थे कि किसी समय गुरु-आगमनके अवसरपर उठकर प्रणाम करना भी उन्हें खला। ऐसे अनाचारका फल उन्हें तुरन्त भोगना पड़ा। अपने उपास्यका ही कोप-भाजन बनकर सर्प-योनिमें सहस्र जन्म धारण करनेका शाप शिरोधार्य करना पड़ा। काकके इस कथांशसे भी यही लक्षित किया गया है कि अनाचारयुक्त उपासना निन्दनीय है।

उपासकको अपने मन, वाणी और कर्म—तीनोंको अनाचारके पंकसे पृथक् रखना चाहिये, अन्यथा उसकी साधना सफल नहीं होगी—

'बेष बिसद बोलनि मधुर, मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइए, भए विषय-जल मीन[1]॥'
'माखी, काक, उलूक, बक, दादुरसे भये लोग।
भले ते सुख, पिक मोरसे कोउ न प्रेम-पथ जोग[2]॥'

यदि उपासकका केवल बाह्य वेश हंसवत् और उसकी आभ्यन्तरिक वृत्तियाँ निम्न कोटिकी हैं तो उसकी साधना अनाचारमय ही होगी। इसीसे बाबाजी समझाते हैं—

'करि हंस को बेष बड़ो सब सों, तजि दे बक बायसकी करनी[3]।'

कहना नहीं होगा कि अवतरणमें 'बक बायसकी करनी' अनाचारही का द्योतक है।

हरि-गुरु-निन्दा, वेद-निन्दा, सन्त-निन्दा, सर्वभूत-निन्दा, काम, क्रोध, मद, लोभ, ममता, हर्ष-विषाद, मन-कौटिल्य, तृष्णा, मत्सर, अविवेक आदि अनाचारके सुभटोंका जो भयावह स्वरूप गोस्वामीजीने दर्शाया है[4] उसके अवलोकनसे स्पष्टतया प्रकट होता है कि जिस उपासनाका इन

---

१. 'दोहावली०' दो० १५३
२. 'दोहावली०' दो० ३३१
३. कविता० उ० छ० ३२
४. 'मानस' उ० १२०.२३-३७

सुभटोंमेंसे कोई भी बाधक रहेगा वह कभी सात्त्विक उपासना न होगी। ऐसी उपासना सदैव हेय ही कहलायेगी। विकार-ग्रस्त उपासकमें आचार-विचार टिक ही नहीं सकता—

'जे मद-मार-विकार भरे, ते अचार-विचार समीप न जाहीं[१]।'

रामोपासना और नामोपासनाका तारतम्य

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिमें नामोपासनाका समर्थन और महत्त्व-प्रतिपादन अत्यधिक दिखाई पड़ता है। एतदर्थ नामोपासनापर कुछ विशेष विवेचन अपेक्षित है। देखना चाहिये कि प्राचीन परम्परामें नामोपासनाका क्या स्थान रहा। सच्छास्त्र-साधु-सम्मतियोंसे कलिकष्टोद्धार-का सर्वोपरि उपाय नाम ही माना गया है

'हरेर्नाम, हरेर्नाम, हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा[२]'॥

... ...

'रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात् कलौ नान्येन केनचित्[३]।'

अन्य युगोंमें पूजा-ध्यान और यज्ञादि कर्मोंके कठिन विधि-विधानोंके सम्पादन द्वारा जो फल उपलब्ध होता था वही कलियुगमें एकमात्र हरि-नाम-कीर्तनसे होता है—

'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्[४]॥'

उत्पथगामी मनकी आत्यन्तिक शुद्धि एकमात्र नाम-जपसे ही होती है, अन्यान्य श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त साधन तथा प्रायश्चित्त आदि तो केवल ऐकान्तिक शुद्धिके कारण हैं। 'स्कन्दपुराण'में वर्णित है कि तप, यज्ञ आदिकी क्रियाएँ स्वयं अपूर्ण हैं और भगवन्नामसे संयुक्त होनेपर ही वे

१. 'कविता०' उ० छ० ९४ २. 'नारदपुराण' १:४१:११५
३. 'अध्या० रामा०' अयो० ५:२७ ४. 'भागवत' १२:३:५२

पूर्णताको प्राप्त होती है[१]। पातकी तप, यज्ञ आदि क्रियाओंके सम्पादन द्वारा उस प्रकार शुद्ध नहीं होता यथा भगवान्‌के नाम-कीर्तनसे[२]। 'श्रीमद्भागवत' इसका प्रमाण है कि यदि कर्ता अबोध है तो कर्मका कर्मसे आत्यन्तिक परिहार कदापि नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित्त कर्मरूप नहीं, विचाररूप है, भगवन्नामस्मरणका सम्बन्ध मनसे है, कर्मसे नहीं[३]। यथार्थतः हरिनामकीर्तन समस्त किल्विषोंका वैसे ही संहरण करता है जैसे भास्कर तुहिन-विन्दुओंका[४]। जाने या अनजाने कैसे ही किया गया हरिकीर्तन सभी पापरूप ईंधनको अनल होकर दग्ध करता है[५]। पापात्माके अघकी निष्कृति भगवान्‌के कीर्तन-मात्रसे हो जाती है, अतः पापोन्मूलनार्थ नारायणका नाम ही सर्वसुलभ है। पुत्रके बहाने भी भगवान्‌के नामोच्चारणसे अजामिल मृत्युबन्धनसे मुक्त हो गया[६]। इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञादिकर्मोंसे पाप-नाश तो होता है, पर यम-त्रास-मर्दन और मनोदोष-शोधन नामसे ही होता है। इसके अतिरिक्त नाम-जप और किस गतिका दायक है, इस विषयमें उपनिषद्‌का यह कथन भी स्मरणीय है—'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इस ओंकार अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है, उसको वही मिलती है,'[७] कहना नहीं होगा कि ओंकार और भगवान्‌के किसी सगुण नाममें कोई भेद नहीं।

भगवद्भजन-कल्पवृक्षसे यद्यपि मनुष्य मनोभिलषित सभी पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है, पर सच्चे आत्मोद्धारक प्रेमी भक्त निष्काम भावसे ही भजन करते हैं। शास्त्रमें ऐसे ही निष्काम प्रेमी भक्तकी मुक्त कण्ठसे

---

१. 'श्रीभगवन्नाम कौमुदी' पृ० ३४
२. 'श्रीभगवन्नामकौमुदी' पृ० ३४
३. 'श्रीभगवन्नामकौमुदी' पृ० ३५:३६
४. 'श्रीभगवन्नामकौमुदी' पृ० ३५.
५. 'श्रीभगवन्नामकौमुदी' पृ० १०७
६. 'श्रीभगवन्नामकौमुदी' पृ० ३६
७. 'कठोपनिषद्' २:१६

प्रशंसा की गयी है[1]। ऐसे ही निष्काम भक्तके लिए भगवान्‌ने कहा है— 'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति[2]।'

नामोपासनाके हेतु निष्काम प्रेमके अतिरिक्त और किस वस्तुकी अपेक्षा होती है, इस सम्बन्धमें 'नारदपुराण'में कहा गया है कि जिसका जैसा विश्वास होता है उसे वैसी ही सिद्धि भी मिलती है[3]। 'गीता'के प्रमाणसे भी—

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः[4] ॥'

श्रुति कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंमें ही श्रद्धावान्‌को अधिकारी बताती है। कर्मकाण्डमें श्रद्धासे ही अग्निको प्रज्वलित करने तथा श्रद्धासे ही द्रव्य आदिका होम करनेका आदेश है। इसी प्रकार ज्ञानकाण्डमें भी श्रद्धा ही जिसका धन है उसीको आत्मज्ञानादिकी प्राप्तिका निर्देश है। कहनेका तात्पर्य यह कि सभी प्रकारकी साधनामें श्रद्धावान् ही अधिकारी माना गया है। नाम-जप भी परम श्रद्धा और विश्वासके साथ करनेपर ही अभीष्ट फलदायक होता है।

नाम-जप कैसे होना चाहिये, इस विषयमें पतञ्जलिके ये दो सूत्र मननीय हैं—

'तस्य वाचकः प्रणवः[5]' (उस परमात्माका वाचक प्रणव अर्थात् ओंकार है) और—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्[6]' (प्रणवका जप और उसका अर्थ विचारनेसे समाधि होती है।) इस प्रकारके नाम-जपका अन्तमें फल यह होता है कि साधकके समस्त विघ्नोंका नाश हो जाता है और वह परमात्म-

१. दे० 'गीता' ७:१६,१७,६:३०
२. वही, ६:३०
३. 'श्रीभगवन्नामकौमुदी' पृ० ७१
४. 'गीता' ४:४०
५. 'योगदर्शन' १:२७
६. 'योगदर्शन' १:२८

तत्त्वको प्राप्त कर लेता है[1]। इससे स्पष्ट है कि नाम-जप नामीके स्वरूप-चिन्तन-सहित करनेपर ही फलदायक होता है। प्राचीन आचार्योंने नामापराध[2]से बचाकर ही नाम-जप करना अभीष्ट बताया है।

ऐतिह्यानुकूल, परम्परागत नाम-जपकी विशेषताओंके उपर्युक्त किञ्चित् संकेतके अतिरिक्त इस बातकी ओर विशेष ध्यान रखना है कि नाम-जप भगवद्भक्तिका सरलतम बहुत बड़ा साधन है। इसीलिए 'नारद-पञ्चरात्र', 'भागवत' प्रभृति प्रधान भक्ति-ग्रन्थोंमें इसका अपार माहात्म्य नाना प्रकारसे प्रतिपादित किया गया है। 'भागवत'के प्रमाणसे नाम-जप परमात्मामें प्रीति उत्पन्न करनेका हेतु है—'यतस्तद्विषया रतिः।' मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी विचार किया जाय तो नाम-जप प्रीतिका कारण अवश्य बन जाता है। मान लें किसी उपास्यकी कीर्तिको सुनकर उसे बिना जाने हुए ही हम उसके नामका स्मरण करते रहते हैं। अपरिचितके ऐसे नाम-स्मरणका प्रभाव हमारे हृदयमें सम्भवतः ऐसा ही पड़ेगा कि हम नामीके प्रति जिज्ञासु होते जायँगे, उसे देखने और उससे मिलनेके लिए लालायित हो उठेंगे। इतना ही नहीं, उपास्यके हमारे जिन कर्मोंके करनेसे प्रसन्न होनेकी सम्भावना होगी, हम उन्हींका आचरण भी करने लगेंगे। प्रिय यदि पूर्ण सदाचारी हुआ तो प्रेमी भी उसकी नजरोंमें अच्छा बननेके लिए सदाचारी ही होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नाम-जप भगवत्प्रेम और सदाचारका प्रकारान्तरसे मूल भी है।

विविध भक्ति-शास्त्रोंको दृष्टिमें रखते हुए यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि किस नामका जप अधिक लाभदायक होगा, नामके साथ कैसे स्वरूपका चिन्तन किया जाय तो इनके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है कि परमात्माके नाम अनेक हैं, साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो उसके लिए वही विशेष श्रेयस्कर होगा। अपनी रुचिके अनुकूल

१. 'योगदर्शन' १:२९

२. मुख्य नामापराध दस हैं। देखिये कल्याण भाग २, संख्या ३, पृ० १६०

ही उपासकको भगवान्का नाम-जप और स्वरूप-चिन्तन करना चाहिये। पर यह आवश्यक है कि जिस नामका जप किया जाय स्वरूप-चिन्तन भी उसीके अनुसार हो।

नामोपासना-विषयक इन प्राचीन शास्त्रोक्त बातोंको ध्यानमें रखकर अब गोस्वामीजीके नामोपासना-विषयक विचारोंका प्रकाशन होना चाहिये। इस मलायतन कलिकालमें भगवन्नामके अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नहीं है[1]। यही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य संसार-सागरकी थाह पा सकता है। सत्य, त्रेता, द्वापर आदि युगोंमें जो गति लोग क्रमशः विविध ध्यान, यज्ञ और पूजाके अनुष्ठानसे प्राप्त करते थे वही गति कलिमें लोग भगवन्नाम-जपसे पानेके अधिकारी हैं[2]। सब संयम-शून्य होकर भी मनुष्य नामका आधार पानेपर बहुत बड़े अवलम्बनकी अनुभूति करता है—

'कलिकाल कराल में राम कृपालु, यहै अवलंब बड़ो मन को।
तुलसी सब संजमहीन सबै, इक नाम अधार सदा जनको[3]॥'

भगवन्नामकी पाप-निर्हरण-शक्तिके विषयमें गोस्वामीजीका कहना है कि 'नाम सकल कलि कलुष निकन्दन,[4]' कलिके नाना प्रकारके कपट, दम्भ, पाखण्ड, कुतर्क, कुचालरूप ईंधनको भस्म करनेके निमित्त नाम प्रचण्ड अग्नि है[5]। पाप-रूप खगोंका नाश करनेवाला वधिक भगवान्का नाम है[6]। 'कलियुग बर बिपुल बनिज नाम नगर [7]खपत'से प्रकट है कि सभी पाप नामके प्रतापसे नष्ट हो जाते हैं। काल, कर्म, गुण, स्वभावके अमिट दोष भी नाम-जपके प्रभावसे मिट जाते हैं[8]। मनको निर्मल बनाने

१. 'मानस' लं० १२१
२. 'मानस' बाल० २६. ३, ५, उत्तर० १०२, २०२.१.७
३. 'कविता०' छ० ८७
४. 'मानस' बाल० २३.८
५. 'मानस' बाल० ३२
६. 'मानस' अरण्य० ४१.७,८ किष्कि० ३०
७. 'विनय०' पद १३०
८. 'विनय०' पद १३०

और विश्राम देनेका साधना भी नाम-जप है[1]। नाम-जप भव-बन्धनसे मुक्त होने तथा संसार-सागरसे सन्तरण करनेका हेतु है[2]। 'घोर त्रयशूल'की औषध भी नाम-जप ही है[3]। नाम-कल्पवृक्ष कलियुगमें किस प्रकार अभिमत मनोरथोंको सिद्ध करता है, इसे गोस्वामीजी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिसे यों प्रतिपादित करते हैं—

'नाम रामको कलपतरु कलिकल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास[4]॥'

नाम-कल्पवृक्षके द्वारा ही गोस्वामीजी स्वयं गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपनी रचनाओंमें इस कल्पवृक्षका प्रसंग बार-बार दुहराया है। इस कल्पवृक्षके स्मरणमात्रसे चारों पदार्थ भी सुलभ होते हैं[5]। शपथपूर्वक कही गयी उक्तिकी गम्भीरता प्रायः अत्यधिक हो जाती है। विशेषतः किसी महान् व्यक्तिकी शपथपर तो लोगोंको उसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। नाम कल्पतरु है, इसे लोग कवि-कल्पना ही न समझें, कदाचित् इसी हेतु गोस्वामीजीने अपने इष्टदेवकी शपथके साथ नामका अभिमत फलदायकत्व लक्षित किया है—

'रामकी शपथ सरबस मेरे रामनाम,
कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को[6]।'

नाम-जप विधिकी ओर ध्यान दीजिये। निष्काम भाव, अनन्य प्रेम, श्रद्धा और विश्वाससे ही नाम-जप अपना प्रभाव दिखाता है। वस्तुतः गोस्वामीजी भी इस तथ्यको माननेवाले थे। देखिये—

'प्रीति प्रतीति सुरीति सों, राम नाम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो, आदि मध्य परिनाम[7]॥'

---

१. 'विनय०'पद १८४
२. 'मानस'उ० ५८; सुन्दर० १९. ३; अरण्य० ३०. ६
३. 'मानस'उ० १२४; 'कविता०'उ० ७९
४. 'मानस'बा० २६
५. 'बरवैरामा०'उ० दो० ६२; 'विनय०' पद ६७.
६. 'कविता०'उ० छ० १७८
७. 'दोहावली'दो० २३

नाम जप यदि किसी कामना-सिद्धिके निमित्त किया जाता है तो वह ईप्सित मनोरथकी पूर्ति तो अवश्य करता है, पर उसकी निष्कामतापर बट्टा लग जाता है। इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

'स्वारथ-परमारथ रहित सीता-राम-सनेहु।
तुलसी सो फल चारिको फल हमार मत एहु[1]॥'

'सीता-राम स्नेह' नाम-प्रेमसे कोई भिन्न वस्तु नहीं, जो फल सीता-राम-स्नेहका है वही नाम-प्रेमका भी। देखिये—

'बेदहू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम चारि फलहू को फरु है।
ऐसे राम नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोइ नर खरु है[2]॥'

अस्तु, राम और नाम दोनोंका प्रेम निष्काम होना चाहिये। साथ ही दोनोंमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वासकी परम आवश्यकता है। इसका निरूपण तुलसीने कई प्रसंगोंमें किया है[3]।

नाम-जपके साथ नामीका स्वरूप-चिन्तन गोस्वामीजी भी परमावश्यक मानते हैं। तभी तो जहाँ उन्होंने नामोपासनाका निर्देश किया है वहीं नामीके स्वरूपका संकेत भी है। नाम-जपके साथ जापक अपने मनोभिलषित भगवान्‌का स्वरूप-चिन्तन करे, वह चाहे बालक राम, चाहे विपिन-विहारी धनुर्धारी राम, चाहे मुकुटधारी राजा राम, चाहे विश्वरूप रघुवंशमणि किसी भी स्वरूपका ध्यान करे, पर राम-नाम ब्रह्म राम, विष्णु राम, दाशरथि राम सभीका द्योतक है। इन तीनोंका समावेश इस एक ही नाममें हो जाता है। राम-नाम नामीसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

---

१. 'दोहावली' दो० ६० २. 'विनय०' पद २५५

३. देखिये 'विनय०' पद ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, १५१, १९४;
'बरवै०' उ० ६८, ६९;
'कविता०' उ० ३७, ५८, ६९, ७६, ९०, १२७, १२८, १७८

एकमात्र नाम-जपसे निर्गुण और सगुण दोनों ही भावनाके प्राणी अपनी भावनाके अनुसार नामीके अधिकाधिक निकट होते जाते हैं।

वस्तुतः नाम और नामीमें बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध तो होता ही है, साथ ही नाम नामीके प्रति प्रेमोत्कर्ष बढ़ानेमें उत्तरोत्तर सहायक भी होता है। तभी तो—

'देखिअहि रूप नामआधीना। रूपग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे[1]॥'

नाम-जप भगवत्प्रीतिके प्रादुर्भाव, उसके विकास तथा भगवत्प्राप्तिका प्रबल साधन है। गोस्वामीजी भी अपनी ओरसे नामको सर्वोपरि महत्त्व देते हैं—

'मति रामनाम ही सों, रति रामनाम ही सों
गति रामनाम ही की बिपति हरनि।
रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि[2]॥'

नाम ही भगवान्को हमारा प्रिय बनाता है और प्रियको प्रसन्न रखनेके लिए हमें स्वयमेव ऐसे कार्योंका सम्पादन करना चाहिये जो प्रियको रुचें। जब वे सद्गुण-सिन्धु हैं तो सदाचार ही उनको प्रिय होगा। यदि हमारी प्रवृत्ति भी प्रकृतितः सदाचारोन्मुख हो जाय तो अनायास ही हम भगवान्को अपने वशमें कर सकते हैं[3]।

नाम-जप वह रसायन है जिसके सेवनसे भगवत्प्रीति, विराग और सदाचारमूलक वृत्तियाँ सजग हो जाती हैं और कलिकी दुर्वृत्तियोंकी सेना डरकर भाग जाती है[4]।

१. 'मानस' बाल० २०. ४, ६ २. 'विनय०' पद १८४
३. 'दोहावली' दो० ७८
४. 'विनय०' पद ७०

गोस्वामीजी भगवान्के किस नाम-जपकी ओर विशेष जोर देते हैं ? उनकी रचनाओंमें भगवान्के प्रायः सभी नामोंको देखते हुए हम कह सकते हैं कि निस्सन्देह वे भगवान्के सभी नामोंमें आस्था और अनुराग रखते थे, पर राम-नामका अत्यधिक प्रयोग देखकर यह भी कहना होगा कि उन्हें राम-नाम ही परम प्रिय था। उन्होंने भक्तोंके हृदयाकाशमें राम-नामको तारकापति और अन्य नामोंको तारका के ही रूपमें देखा है[१]। राम-नामको ही अन्यान्य नामोंसे बढ़कर पापरूप-पक्षियोंका निहन्ता अर्थात् बड़ा वधिक बताया है—'राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन बधिका[२]।' इतना ही क्यों, वे राम-नाम-माहात्म्य-गानमें अपनी ही नहीं, स्वयं रामकी भी असमर्थता बताते हैं—

'कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई[३] ॥'

'मानस'में नाम-महिमाके प्रकरणमें राम और नामके तारतम्यकी चर्चा बहुत ही तर्कयुक्त और मनोरम है। एक विचारशील और तार्किक प्राड्विवाककी भाँति बाबाजीने राम-पक्ष और नाम-पक्ष दोनोंकी उक्तियाँ दिखाते हुए अन्तमें जो नाम-पक्षका ही प्रबल समर्थन किया है उससे उनका यह फैसला अवश्य ही मानना पड़ता है—

'निरगुन ते एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ राम ते निज बिचार अनुसार[४] ॥'

... ...

'ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि[५] ॥'

नामोपासना भगवत्प्रेमका साधन है। पर नामका उपर्युक्त महत्त्व देखते हुए कहना होगा—भले ही तुलसीने नामोपासना साधनरूपमें

१. 'मानस' अरण्य० ४२. २. 'मानस' अरण्य० ४१.८
३. 'मानस' बाल० २५.८ ४. 'मानस' बाल० २३.
५. 'मानस' बाल० २५.

दिखायी है, किन्तु उन्हें इसका दर्जा साध्यसे भी बढ़कर मान्य है। जो साधन साध्यसे उत्कृष्ट है उसके सामने अन्य साधन तो अपकृष्ट अथवा निम्न होंगे ही, इसीसे बाबाजीने खोलकर कह भी दिया है कि यज्ञ, योग, व्रत, वेदाध्ययन, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त साधनोंसे सरल एवं श्रेष्ठ रामनामोपासना है[1]।

तुलसीने अवैध नामजपका संकेत भी दिया है--

'भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू[2]॥'

... ...

'आरत, अधम, कुटिल, खल, पतित, सभीत कहूँ जो समाहिं न।
सुमिरत नाम बिबसहूँ बारक पावत सो पद जहाँ सुर जाहिं न[3]॥'

नामोपासनाके इस संक्षिप्त विवेचनसे स्पष्ट है कि प्राचीन परम्परागत शास्त्रीय पद्धतिमें नामोपासनाकी जो दिव्य ज्योति जगमगाती है, उसका जो विशद माहात्म्य उपलब्ध होता है वही गोस्वामीजीकी रचनाओंमें भी वर्तमान है। अस्तु, तुलसीकी कृतियोंमें सच्चे हृदयसे निरन्तर अवगाहन करनेवाले किसी आस्तिक, श्रद्धालु, सुकृतीका अनुभव भी महात्मा गाँधीके इस अनुभवसे भिन्न न होगा—'नामकी महिमाके बारेमें तुलसीने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षर, अष्टाक्षर इत्यादि सब मन्त्र इस मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यके लिए शान्तिप्रद हैं। जिसको जिसमें शान्ति मिले वह उस मन्त्रपर निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्तिका अनुभव ही नहीं और जो शान्तिकी खोजमें है, उसको तो अवश्य रामनाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्र नाम कहे हैं, उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु, देहधारीके लिए नामका सहारा अत्यावश्यक

१. 'विनय०' पद १५५, १७३, १२९; 'कविता०' उ० छ० ७१, ७७, ८६, ८७; 'बरवै०' उ० छ० ४८, ५२
२. 'मानस' बा० २७.१
३. 'विनय०' पद० २०७

है और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी रामनामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारणमें एकाक्षर ही है और ॐकार और राममें कोई फर्क नहीं। परन्तु नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती, श्रद्धासे अनुभव-साध्य है[1]।'

स्वामी रामानन्द और तुलसीदास

स्वामी रामानन्द और तुलसीका सम्बन्ध भी विचारणीय है। स्वामी रामानन्दने सन् १२९९ ई० (सं० १३५६)में, प्रयागके पुण्यक्षेत्रमें, अपनी सद्धर्मा माता 'सुशीला'के कोषसे जन्म ग्रहण किया[2]। इनके पिता 'पुण्यसदन' कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। माता-पिताने इनका नाम 'रामदत्त' रखा था। बाल्यकालसे ही ये बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। बारह वर्षकी अवस्थामें प्रवेश करते ही ये चूड़ान्त पण्डित हो गये। तदुपरान्त वेदान्त-अध्ययनके लिए काशी आये और वहीं किसी स्मार्त शांकर अद्वैत वेदान्त मतानुयायी गुरुके पास अध्ययन करने लगे। कुछ समयोपरान्त काशीमें ही ये श्रीवैष्णव सम्प्रदायके आचार्य राघवानन्द द्वारा दीक्षित हुए। गुरुने इनका नाम रामानन्द रखा। रामानन्दजी बहुत दिनोंतक वृद्ध गुरुकी सेवा करते रहे और कालान्तरमें भारतीय तीर्थोंका पर्यटन करनेके पश्चात् इन्होंने काशीके पञ्चगंगा घाटपर स्थायी रूपसे निवास किया। इनके देहावसानके बाद इनके शिष्योंने वहीं एक मठकी स्थापना की थी, पर वह किसी यवनशासक द्वारा विनिष्ट कर दिया गया। इस समय भी वहाँ रामानन्दकी चरण-पादुका एक पाषाण-वेदीपर अंकित मिलती है[3]। इस चरणपादुकाके पार्श्ववर्ती

१. 'कल्याण' भाग २, सं० १, पृ० १९

२. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग १० पृ० ५६९; 'वैष्णवइज्म, शैवइज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' पृ० ९४

३. 'इन्सा० रे० ए०'; भाग १०, पृ० ५७० 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजन्स आव् हिन्दूज' भाग १, पृ० ४८; 'माडर्न हिन्दूइज्म' पृ० ६२

मठमें कुछ रामानन्दी रहते भी हैं। इस मठके महन्तसे रामानन्दजीके विषयमें मैंने जो जानकारी प्राप्त की है उसका संकेत भी करूँगा। अभी राघवानन्दकी शिष्य-परम्पराके विषयमें किञ्चित् विचार कर लेनेकी विशेष आवश्यकता है।

'भक्तमाल'से ज्ञात होता है कि रामानुज द्वारा प्रवर्तित श्रीसम्प्रदायकी शिष्य परम्परामें राघवानन्दका स्थान चतुर्थ है, अर्थात् रामानुज—देवाचार्य—हर्यानन्द—राघवानन्द। जब राघवानन्दके बाद रामानन्द आते हैं तो उनका स्थान पञ्चम होता है[1]। जिज्ञास्य है कि क्या रामानन्दका रामानुजकी शिष्य-परम्परामें पाँचवाँ स्थान ठीक है? उत्तर सन्दिग्ध होगा। रामानुजका सर्वमान्य समय है ग्यारहवें शतकका उत्तरार्द्ध तथा बारहवें शतकका पूर्वार्द्ध, इधर रामानन्दको सभी चौदहवें शतकका मानते हैं। इस प्रकार रामानुज और रामानन्दके बीच जो लम्बा अन्तराल है उससे विश्वास नहीं होता कि रामानन्द रामानुजकी शिष्य-परम्परामें रहे होंगे। यदि उन्हें उक्त शिष्य-परम्परामें बिठानेका आग्रह ही किया जाय तो कमसे कम वे आठवीं या दसवीं पीढ़ीमें ठहरेंगे। सम्भव है कि भक्तमाल-रचयिताकी भूल या अज्ञानसे देवाचार्यके बादवाली कुछ पीढ़ियाँ छूट गयी हों और उसके बाद हर्यानन्द, राघवानन्द तथा रामानन्दका क्रम ठीक दिया गया हो। पञ्चगंगा घाटके मठके महन्तसे तो मुझे यही ज्ञात हुआ कि रामानन्दी अपनेको रामानुजी शिष्य-परम्परामें नहीं मानते। भले ही वे न मानें, पर वे अपनी जो गुरु-परम्परा बताते हैं वह प्रकारान्तरसे प्रकट करती है कि ये रामानुजकी परम्परासे सम्बद्ध थे। हो सकता है कि पारस्परिक मतभेदके कारण इन दोनोंमें पीछेसे पार्थक्य हो गया हो, पर मूलतः दोनों श्रीसम्प्रदायके थे। उक्त महन्तने मुझे 'श्रीमठ और चरणपादुका' नामकी एक पुस्तिका देनेकी कृपा की। पुस्तिकाके अन्तमें श्रीरामानन्द-सम्प्रदायकी गुरु-परम्परा यों दी गयी है—
१. सर्वेश्वर श्री रामचन्द्रजी आद्याचार्य; २. श्री जगज्जननी जानकी;

१. 'भक्तमाल' छप्पय ३५

३. श्रीहनुमान्जी; ४. श्रीब्रह्माजी; ५. श्रीवसिष्ठजी; ६. श्रीपराशरजी; ७. श्रीव्यासजी; ८. श्रीशुकदेवजी; ९. श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी; १०. श्रीगंगाधराचार्यजी; ११. श्रीसदाचार्यजी; १२. श्रीरामेश्वराचार्यजी; १३. श्रीद्वारानन्दाचार्यजी; १४. श्रीदेवानन्दाचार्यजी; १५. श्रीश्यामानन्दाचार्यजी; १६. श्रीश्रुतानन्दाचार्यजी; १७. श्रीचिदानन्दाचार्यजी; १८. श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी; १९. श्रीश्रियानन्दाचार्यजी; २०. श्रीहर्यानन्दाचार्यजी; २१. श्रीराघवानन्दाचार्यजी; २२. श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज। इस गुरु-परम्परामें देवानन्द, हर्यानन्द, राघवानन्द और रामानन्दके नाम उसी क्रमसे मिलते हैं जो 'भक्तमाल'में दिखाया गया है, इससे मेरी सम्भावनाको यह प्रश्रय मिलता है कि कदाचित् नामावलीमें देवानन्द और हर्यानन्दके बीचके नाम छूट गये हैं। यदि रामानुजको देवानन्दका गुरु मान लिया जाय तो रामानन्द रामानुजकी शिष्य-परम्परामें दसवें ठहरेंगे। यह सम्भावना नितान्त निर्मूल नहीं जान पड़ती।

प्रश्न उठता है कि यदि रामानन्द रामानुजकी शिष्य-परम्परामें थे तो उन्हें अलग सम्प्रदाय चलानेकी क्यों सूझी? इसका आंशिक उत्तर 'अवधूत'के आधारपर यह दिया जा सकता है। 'अवधूत'का अर्थ है तिरस्कृत, अर्थात् जो व्यक्ति किसी संस्था या सम्प्रदाय द्वारा बहिष्कृत हो। रामानन्दके अनुयायी 'अवधूत' ही कहे जाते हैं। 'अवधूत' पदवीके आधारपर रामानन्दके विषयमें प्रसिद्ध प्रवाद सत्य-सा ही प्रतीत होता है। श्री सम्प्रदायकी कट्टरता मशहूर है। मजाल नहीं कि इसका कट्टर अनुयायी अपने ही सम्प्रदायके किसी अन्य अनुयायीका स्पर्श किया हुआ भोजन कर ले। कुछ लोग तो इतने नियमनिष्ठ होते है कि पूर्ण एकान्तमें, जहाँ किसीकी परछाईं भी न पड़े वहाँ भोजन करते हैं। कहा जाता है कि एक बार रामानन्दजी भारतके विविध भागोंमें अपनी लम्बी यात्रा समाप्त करके जब गुरुके पास काशी आये तो इनके गुरुभाइयोंने इनपर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने अपनी लम्बी यात्रामें खान-पानके नियमका उल्लंघन अवश्य किया होगा, अतः वे पतित हो गये। फलतः उनकी शुद्धिके लिए

गुरुभाइयोंने उन्हें गुरुसे प्रायश्चित्त-रूपमें दण्ड दिलाना चाहा। इसपर गुरु-शिष्यमें वाद-विवाद छिड़ गया। राघवानन्दने रामानन्दको आज्ञा दी कि तुम मेरे सम्प्रदायसे बहिष्कृत हो, चाहो तो अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित करो। गुरु-शिष्यके इसी झगड़ेने रामानन्दी सम्प्रदायको जन्म दिया[1]। इस सम्प्रदायका प्रभाव रामानन्द और उनके समकालीन शिष्यों-तक ही सीमित न रहा, अपितु उत्तरोत्तर विकसित होता गया और भारतीय धर्म-क्षेत्रमें इसने एक नूतन क्रान्ति पैदा कर दी।

'अवधूत'का एक दूसरा अर्थ भी होता है, अर्थात् जिस व्यक्तिने सभी सांसारिक बन्धनोंका त्याग कर पूर्ण रूपसे वैराग्यवृत्ति ग्रहण कर ली हो उसे 'अवधूत' कहते हैं--

'यो विलंघ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितःपुमान्।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते॥'

इस अर्थमें भी रामानन्दजी 'अवधूत' ही ठहरते हैं।

रामानन्दी सम्प्रदायका सामान्य वैशिष्ट्य भी जिज्ञास्य है। खान-पानकी संकीर्णता, जिसके कारण रामानन्दको अवधूत होना पड़ा, सर्व-प्रथम, उन्होंने उसके बन्धनको शिथिल किया। अपने अनुयायियोंको परस्पर कन्धेसे कन्धा मिलाकर बिना किसी भेद-भावके खाने-पीनेका आदेश किया। श्रीसम्प्रदायके अनुयायी सदस्य द्विजातिके सभी लोग हो सकते थे, पर गुरु होनेका ठीका केवल ब्राह्मणको ही सौंपा गया था। इधर रामानन्द-जीने गुरु और अनुयायी सदस्य दोनोंका मार्ग सभी वर्णोंके लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने निम्न कुलोत्पन्नोंको भी अपना शिष्य बनाया जैसा कि उनके प्रधान द्वादश शिष्योंकी इस नामावलीको देखनेमात्रसे पता चल जाता है—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, पीपा, कबीर, भावानन्द, सेना, धाना, रैदास, पद्मावती, सुरसरी[2]। यद्यपि इन द्वादश

---

१. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग १०, पृ० ५७०
२. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग १०, पृ० ५७०; 'भक्तमाल' छप्पय ३६

शिष्योंकी यह नामावली सभी विद्वानोंके अनुसार एक-सी नहीं है[1], तथापि कबीरका जुलाहा, रैदासका चमार, धानाका जाट और सेनाका नाई होना तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं।

उक्त नामावलीमें स्त्रियोंका नाम देखते हुए हमें यह भी मानना पड़ेगा कि स्वामीजीके सम्प्रदायमें स्त्रियाँ भी दीक्षा पानेकी अधिकारिणी थीं। इस सम्प्रदायमें भक्ति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्थामें कोई सम्बन्ध न था। यह बात रामानन्दजीके सभी शिष्योंकी रचनाओंसे स्पष्टतः लक्षित होती है। उनके शिष्योंमें ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जिसने वर्णाश्रम-व्यवस्थापर जोर दिया हो। उन सबकी रचनाएँ प्रायः हिन्दी भाषामें मिलती हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रामानन्दजीके उपदेश भी हिन्दीमें ही हुए थे, इसीसे उनके शिष्योंने भी उसी मार्गका अनुगमन किया। रामानुजकी भाँति रामानन्द केवल ब्राह्मणोंके लिए संस्कृतमें रचना करनेवाले न थे। इधर रामानन्दजीके नामपर भले ही उनके प्रशिष्योंने 'आनन्द-भाष्य', 'रामानन्द-दिग्विजय', 'वैष्णवमताब्जभास्कर' और 'रामार्चन-भक्ति-पद्धति' आदि संस्कृत ग्रन्थोंकी रचनाएँ कर दी हैं, पर इससे स्वामीजीका क्या महत्त्व बढ़ा इसे उक्त ग्रन्थोंके प्रणेता ही जानें। वस्तुतः स्वामीजीकी कीर्ति-ध्वजा उनके उदार भक्ति-पथ-प्रवर्तनके कारण फहरा रही है, न कि उनके नामपर इन संस्कृत ग्रन्थोंकी रचनाके कारण।

रामानन्दी सम्प्रदायका दार्शनिक दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैत है। इसके अनुयायी विष्णुके समस्त अवतारोंका देवत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु श्रीरामको अपना इष्टदेव मानते हैं। रामानुजी वैष्णवोंकी भाँति वे उनकी

१. दे० क्षितिमोहन सेनः 'मि० मि० आ० ई०' पृ० ७२;
विल्सनः 'ए० ए० ले० आ० रे० आ० हि०' पृ० ५५-५६;
इन दोनोंने द्वादश शिष्योंकी जो नामावली दी है वह ऊपरकी नामावलीसे भिन्न है।
फर्क्युहरकी नामावली इन दोनोंसे भी भिन्न है।
दे० 'ए० आ० ला० आ० रे० लिट० आ० इं०' पृ० ३२५

पृथक् किंवा युगल मूर्तिकी आराधना करते हैं और शालिग्राम तथा तुलसी-पर भी श्रद्धा रखते हैं। विष्णुके अन्यान्य विग्रहोंको भी पूजते हैं और केवल नामस्मरणसे मोक्ष मानते हैं। रामनाम ही इन लोगोंका गुरुमन्त्र है। जयश्रीराम, जयराम, सीताराम इत्यादि परस्पर अभिवादनके शब्द हैं। तुलसीकी माला और विशेष प्रकारका तिलक धारण करना इसके बाह्य साम्प्रदायिक चिह्न हैं।

रामानन्दके अवधूत कहलानेकी चर्चा यद्यपि हो चुकी है, तथापि किञ्चित संकेत और करना है। निस्सन्देह रामानन्दजीने त्याग-वृत्तिकी प्रधानता और उदारताके कारण अपने मतानुयायियोंको अवधूतकी कोटिमें पहुँचाया था, किन्तु आये दिन कुछ ऐसी प्रतीति होती है कि रामानन्दके बाद रागियोंकी संज्ञा भी वैरागी हो गयी, यही कारण है कि रामानन्दी आज दो भागोंमें विभक्त पाये जाते हैं। एक श्रेणी गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करती है और दूसरी सांसारिक झमेलोंसे दूर रहती है। इन त्यागियोंके दो प्रधान कर्म हैं—तीर्थाटन और भिक्षाटन। वे तीर्थाटन करते हुए स्थान-स्थानपर निर्मित मठों या अखाड़ोंमें कुछ दिन निवास करते हैं। जब वृद्ध किंवा जराग्रस्त होते हैं तब किसी अखाड़ेका आश्रय ग्रहण कर वहीं काल-यापन करते हैं, अथवा स्वयम् किसी नये मठकी स्थापना कर उसमें अपने जीवनका शेषांश व्यतीत करते हैं[१]।

मठों या अखाड़ोंमें प्रायः एक विग्रह-मन्दिर अथवा मठ-स्थापक या किसी धर्माचार्यकी समाधि और महन्त तथा उनके शिष्योंके रहने योग्य स्थानकी व्यवस्था रहती है। जो उदासीन या तीर्थयात्री मठ देखने आते हैं उनके ठहरनेके लिए वहीं एक धर्मशाला भी होती है। मठाधीश महन्तके न्यूनातिन्यून तीन या चार और अधिकसे अधिक तीस या चालीस सहवासी शिष्य होते हैं[२]। इनके अतिरिक्त जो अन्य शिष्य होते हैं वे सहवासी नहीं गिने जाते। वे यत्र-तत्र भ्रमण किया करते हैं।

---

१. विल्सन—'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजन्स आव हिन्दूज' भाग १ पृ० ४९

२. वही, भाग १, पृ० ५०

सहवासी शिष्योंमें कुछ प्रधान शिष्य होते हैं। इन प्रधान शिष्योंके भी शिष्य होते हैं। महन्तके स्वर्गप्रयाणके अनन्तर यदि वह गृहस्थाश्रमी हुआ और उसके लड़के हुए तो वे ही महन्त पदके अधिकारी होते हैं; अन्यथा अनेक मठोंके महन्त मिलकर सभा करते और प्रधान शिष्योंमेंसे किसी सुविज्ञको महन्त-पदपर प्रतिष्ठित करते हैं। यदि भविष्यमें वह अयोग्य सिद्ध हुआ तो पञ्चायत करके उसे पदच्युत करते और किसी अन्य प्रधान शिष्यको महन्त बनाते हैं।

किसी-किसी प्रदेशमें अनेक मठ होते हैं, उनमें प्रधान धर्माचार्यका मठ सर्वोपरि माना जाता है। यदि इसका महन्त गोलोकवासी हुआ और उसका कोई उत्तराधिकारी न रहा तो प्रधान मठोंमेंसे किसी एकका महन्त उसका उत्तराधिकारी बनाया जाता है। उसके अभिषेकमें दस-बारह दिनका समय लग जाता है। साधुओंका भारी भण्डारा होता है।

गुरु-परम्परा-सहित रामानन्दी सम्प्रदायकी जो विशेषताएँ अभीतक इंगित की गयीं उन्हें दृष्टिमें रखते हुए देखना है कि इनमें और तुलसीके मतमें कहाँतक साम्य अथवा वैषम्य है। परन्तु इसकी विवेचना करनेके पूर्व हम एक प्राचीन—लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराने—हस्तलिखित ग्रन्थ[1] के सहारे जिसमें रामानन्दकी 'रामरक्षा' भी सन्निविष्ट है रामानन्दके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखनेवाली, कुछ नयी बातें प्रकट करना चाहते हैं। 'रामरक्षा'के स्वरूपका आभास अधोलिखित अवतरणोंसे मिल जायगा—

'ॐ अषंड मंडलं निराकार व्यापते सचराचरं।
ॐ त्स्मई गुरभ्यो नमः। आत्मा गुरभ्यो नमः।
परमात्मा गुरभ्यो नमः। आदे गुरदेव अंति गुरुदेव।
सरणि गुरुदेवके चरणांर। विद्या दि कान्म सतते।

---

१. इस ग्रन्थका नाम है—'बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरंजनि'। लिपि-निर्माण काल है सं० १८५५–५६; यह लिपि 'का० ना० प्र० स०' में है।

हरते सरब व्याधि। सकल संताप दुष दालिद्र रोग पीड़ा।
कलह कलपानां। सकल विघन षंड षंडा ॐ त्स्मई श्रीराम
रष्यार रकार बानी।
अनन्तै निरभै मुक्ति जानी। बंधिया मूल देषिया अस्थूल।
गिगन गरजंत धुनि-ध्यान लागा रहै। रहत तीन गुण सील
संतोष मैं।
राम रष्या दीया आकार जाग्या। पाँच तत्व पंचीस प्रकृति।
पंच भू आत्मा पंच बाई। सम दिष्टि स्वधारि आँणी[1]।'

....

ये 'रामरक्षा'की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं। मध्यकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

'गंग उल्टी चलै भाँनि पश्चिम मिलै। निकसीया विंब प्रकास
कीया।
आत्मा माँहि दीदार देखत रहै। यूँ अजरा अमरकै आप जीया
पुण पुणी रुण झुणी नाडरी नाद नादं। सुख मनां काछके
स्वाद स्वादं।
चाचरी भूचिरी षेचरी अगोचरी उनमनी।
पाँच मूड़ा साध तैं सीधा जोगिड़ा।
डरेड़ गरे जले थले घाटे औघटे।
त्स्मई श्रीराम रष्या कर। बाघ बाघनी कारुकाला।
नवग्रह हतया षंड टारुँ। दुहाई फिरती रहै अलख निरंजन
निराकार केचक्रे फिरे बारबारं।'

....

रामरक्षाका अंतिम अंश इस प्रकार है—

'कवल दल कवल दल जोति ज्वाला जगै।
भूँर गुंजार तैं आकास लागा॥

१. 'बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरंजनि' पृ० ५९५

रमत सार सोषंत रुड़ू बिंद रोम नाड़ी।
गरजंत गगन बाजंत बैन ॥
सब सबद धुनि त्रिकुटी दास रामानंद।
ब्रह्म चीन्ह तत्त ब्रह्म ग्यानी।
राम रक्ष्या भणंते उधरे प्रानी।
लागीया विचार पारंगता।
पंथे घोरे राज दरबारे। संग्रामे संकटे।
संझया काले। प्राति काले। मध्याने।
श्री राम रक्ष्या उचरते उधरे प्रानी।
पुनेन हारेते। ते जपं जे जदारदनं।
मोष मुक्ति फल पावंते।'

'इति श्री गोसाईं रामानंद विरचरते 'राम रक्ष्या' पठत ते सुणते ते मोष मुक्ति फल पावंते।'

'रामरक्षा'की भाषाकी प्राचीनता उसे रामानन्द-कृत होनेमें तनिक भी सन्देह नहीं उत्पन्न करती। उसमें समाविष्ट सिद्धान्त स्पष्टतः लक्षित करते हैं कि रामानन्दका उपास्य राम एकमात्र अलख, निरञ्जन, निराकार ब्रह्म है। 'रामरक्षा'में इंगित यह अलख, निरञ्जनकी उपासना योगियोंकी उपासनासे मिलती है। इसमें सगुणोपासनाका कोई स्थान नहीं। इसके आधारपर तो यही कहा जा सकता है कि 'रामरक्षा'के रचयिता गोसाईं रामानन्दजी योग-मार्गी ब्रह्मोपासक थे।

जिस प्राचीन हस्त-लिखित-ग्रन्थ—'बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि'में 'रामरक्षा' संगृहीत है उसीमें वर्णित पीपाकी कथासे किसीको ऐसा सन्देह करनेका अवकाश नहीं रह जाता कि 'रामरक्षा'के रचयिता गोसाईं रामानन्दजी कोई और रहे हों। उक्त ग्रन्थमें इसका विस्तृत वर्णन है कि रामानन्दजीके पास पीपा क्योंकर काशी आये। पीपाके काशी आनेपर ही रामानन्दने उन्हें तत्क्षण शिष्य नहीं बना लिया, प्रत्युत लौटकर घर जाने और घरमें रहकर वैराग्य-

सम्पादन करनेका आदेश किया। साथ ही अवसर आनेपर दीक्षा देनेका वचन भी दिया। पीपा स्वामीजीकी आज्ञा मानकर लौट आये। घर आकर उन्हें राजकाजसे घोर अरुचि हो गयी। निर्दिष्ट अवधि बीतते देख उन्होंने स्वामीजीको इस आशयका पत्र भेजा—

'हमकूं आवत बनत नाहीं। हरिजन बहुत बिमुखकै जाहीं॥
और जौ बचन तुम्हारौ पाऊँ। सेवा छाँड़ि लैन हूँ आऊँ॥
जब रामानंद बाँची पाती। लीयौ रैदास कबीर संगाती॥
और भगत चालीस बुलाए......... .... ॥
रामानंदको दरसन करीया। कनक दंड लूँ पीपा परीया॥
स्वामी भेटे कंठ लगाई। फिरि फिरि पीपा लेत बुलाई॥
मिले कबीर और बैरागी। जिनकी प्रीति राम सूँ लागी॥
कंठ लागि भेंटे रैदासू। ढारे प्रेमके निरमल आँसू॥
बैठि प्रसन्न बूझी सारा। बहुत कथा को करै पसारा[1]॥'

अवतरणसे स्पष्ट है कि इसमें उन्हीं रामानन्दका उल्लेख है जिनके शिष्य कबीर, रैदास, पीपा आदि थे।

पीपाकी कथाके प्रसंगमें यह भी वर्णित है कि पीपाकी अनन्य पति-भक्ता छोटी रानीकी अपूर्व निष्ठा देखकर स्वामीजीने उसे 'धर्मकी बेटी' कहते हुए गले लगाकर उसका सम्मान किया और उसे वैराग्य-पथमें आनेकी आज्ञा भी दे दी। देखिये—

'करि दंडवत चरन लै परीयाँ। रामानंद माथे कर धरीया॥
हिये लगाइ प्रीति करि भेंटी। स्वामी कह्यो धरम कै बेटी॥
कह्यो हमारो मानहु पीपा। सीतहि तुम करि लेहु समीपा[2]॥'

प्रसंगसे अवगत है कि नारी भी स्वामीजीके पन्थमें समादृत हुई।

पीपाके वृत्तान्तकी इति करते हुए जो प्रचई-माहात्म्य दिया गया है उससे दो बातें स्पष्टतया प्रकट होती हैं, अर्थात् रामानन्दकी शिष्य-परम्परा

---

१. 'सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनी' पृ० ६३९
२. वही, पृ० ६३९

अनन्तानन्दसे चली और उनकी उपासना पारब्रह्मसे सम्बन्ध रखती है। देखिये—

'रामानंदको अनंतानंदू। सदा प्रगट ज्यूँ पूरण चंदू॥
ताको अगर आगरै नेमूँ। ले निबह्यो सुमिरन कौ नेमूँ॥
अगरकी सीष बिनौ दीयाई। ताको दास अनंत ही आई॥
ता परसाद प्रचई भाखी। सुनहु संत जन साची साखी॥
यह प्रचई सुने जो कोई। सहजै सब सुख पावइ सोई॥

... ...

जोग जग्य जप तप जेते। हरिकी कथा हि न पूजै तेते॥
सुर नर मुनि ब्रह्मादिक गावहीं। पारब्रह्मको अंत न पावहीं[1]॥'

'सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरंजनि'के आधारपर रामानन्द और उनके शिष्योंकी जो चर्चा ऊपर की गयी उससे यही कहा जा सकता है कि रामानन्द और तुलसीदासकी उपासनामें कोई सम्बन्ध नहीं। दोनोंके सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। जहाँ रामानन्द योग-पद्धतिसे पारब्रह्मकी उपासनाको प्रश्रय देनेवाले हैं, वहाँ तुलसीदास सगुण भक्ति-पद्धतिसे रामोपासना करनेवाले हैं।

उक्त 'सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरंजनि'में लगभग ढाई सौ पृष्ठोंकी किसी 'तुरसीदास'की 'बाणीसंग्रह' भी है[2]। इस 'तुरसीदासकी बाणी संग्रह'में निर्गुण पन्थकी बृहद् व्यञ्जना हुई है। उसमें कबीरकी रचनाओंमें मिलनेवाले सभी सिद्धान्त समाविष्ट हैं। इस वाणीके रचयिता ये 'तुरसीदास' रामानन्दजीके पक्के अनुयायी दिखाई पड़ते हैं। सम्भवतः ये ही रामानन्दकी शिष्य-परम्परासे सम्बद्ध रहे हों। नामके भ्रममें पड़कर लोग हमारे गोस्वामी तुलसीदासको रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें घसीट लाये हों।

---

१. दे० 'बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि' पृ० ६५१
२. वही, पृ० ३९५ ५३५

'बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि'के आधारपर रामानन्दके विषयमें हमें जो कहना था, कह चुके। अब पीछे स्थगित किये प्रसंगकी ओर आइये। सर्वप्रथम, हमें रामानन्दकी शिष्य-परम्पराको ध्यानमें रखकर विचार करना चाहिये कि उसमें गोस्वामीजीको सम्मिलित करना कहाँतक समीचीन होगा। रामानन्दके प्रधान द्वादश शिष्योंका नामोल्लेख हो चुका है। उन्हींमें नरहर्यानन्दका नाम भी आया है। यदि भ्रमवश हम उन्ही नरहर्यानन्दका शिष्य मानकर तुलसीको रामानन्दकी शिष्य-परम्पराका ठहरावें तो यह संगत कैसे होगा? कहाँ चौदहवाँ शतक और कहाँ सोलहवाँ और सत्रहवाँ शतक? यदि कोई नरहर्यानन्दकी लगभग तीन-चार सौ वर्षकी आयु सम्भाव्य माने तो उसे नरहर्यानन्दके शिष्य किसी 'तुलसियानन्द' आदिकी कल्पना भी कर लेनी चाहिये।

कुछ विशेष विचारशीलोंने तुलसीदासको रामानन्दकी शिष्य-परम्पराकी आठवीं पीढ़ीमें बताया है। ग्रियर्सन साहबको प्राप्त किन्हीं दो सूचियोंकी ओर संकेत करते हुए गुरु-परम्पराका निर्देश यों किया है—१. रामानन्द—२. सुरसुरानन्द,—३. माधवानन्द,—४. गरीबानन्द,—५. लक्ष्मीदास,—६. गोपालदास,—७. नरहरिदास,—८. तुलसीदास[२]।

रामानन्द और तुलसीदासके बीच लगभग तीन सौ वर्षोंका अन्तर पड़ता है। फलतः इन आठ पीढ़ियोंका क्रम खींचा-तानी करके उसमें खपाया जा सकता है। हाँ, गोस्वामीजीके पूर्वकी तीन पीढ़ियोंके गुरुओंके नामके साथ 'दास' देखकर उक्त परम्परासे उन्हें जोड़ना कुछ कम कृत्रिम लगता है। जो भी हो, रामानन्दी सम्प्रदायकी जितनी भी शिष्य-परम्पराएँ मानी जाती हैं उनमेंसे किसीमें तुलसीदासका नाम अभीतक कहीं न देखनेके कारण मैं नहीं कह सकता कि वे रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें थे।

२. दे० डा० श्यामसुन्दरदास, डा० बड़थ्वालः 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ३८

अस्सी घाटपर स्थित जिस मठका सम्बन्ध गोस्वामीजीसे बताया जाता है उससे सम्बद्ध कोई लिखित या परम्पराश्रुत प्रमाण नहीं मिलता कि उक्त मठ किसी रामानन्दी महन्त या उसके शिष्य-प्रशिष्यके अधिकारमें रहा हो और तुलसीने उन्हींसे अधिकार पाया हो। तात्पर्य यह कि मठ आदिके आधारपर भी तुलसीदास रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें नहीं ढकेले जा सकते।

रामानन्दी सम्प्रदाय तथा तुलसीदास दोनोंकी उपासना-सम्बन्धी कुछ विशेषताओंका तारतम्य करते हुए भी देखना चाहिये कि क्या ये रामानन्दी सम्प्रदायके वैष्णव प्रतीत होते हैं। इष्टदेवके विचारसे ऐसी प्रतीति होती है कि बाबाजी रामानन्दी सम्प्रदायके थे, क्योंकि रामको रामानन्दी वैष्णव अपना इष्टदेव मानते हैं और सीताराम एवं लक्ष्मणकी त्रिमूर्तिका ध्यान करते हैं। इधर गोस्वामीजीको भी यही विधि अभीष्ट है। तुलसीकी माला और तिलकका बाह्य विधान रामानन्दी सम्प्रदाय ग्रहण करता है और तुलसीको भी यह मान्य है। जाति-पाँति-भेद भगवद्भक्तिके मार्गमें नगण्य है, सभी भगवत्प्रेमके अधिकारी हैं, ऐसा रामानन्दी सम्प्रदाय और तुलसीदास दोनों ही मानते हैं। गृही अथवा त्यागी किसी रूपमें रहकर उपासना की जा सकती है—यह रामानन्दी सम्प्रदाय स्वीकार करता है। तुलसीदासजी भी इसके प्रतिकूल नहीं। इस साम्यसे ऐसा आभास मिलता है कि गोस्वामीजी रामानन्दी वैष्णव थे। परन्तु जब हमारा ध्यान उनकी पञ्चदेवोपासना आदिके व्यापक विचारकी ओर जाता है तो मालूम पड़ता है कि वे स्मार्त वैष्णव थे। अस्तु, उनके सम्बन्धमें हमें ये वाक्य यथातथ्य जँचते हैं—'तुलसीदास रामानन्द-सम्प्रदायकी वैरागी परम्परामें नहीं जान पड़ते। उक्त सम्प्रदायके अन्तर्गत जितनी शिष्य-परम्पराएँ मानी जाती हैं उनमें तुलसीदासका नाम कहीं नहीं है। रामानन्दकी परम्परामें सम्मिलित करनेके लिए उन्हें नरहरिदासका शिष्य बताकर जो परम्परा मिलायी गयी है वह कल्पित प्रतीत होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे, पर स्मार्त वैष्णव थे[१]।

१. रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्यका इतिहास' नवीन संस्करण, पृ० १५९

वैरागी सम्प्रदाय और तुलसीदास

वैरागी सम्प्रदायके बीच गोस्वामीजीकी वाणी आप्तवाक्यवत् पूजित है। इसके अनुयायी 'रामचरितमानस'को अपना धर्म-ग्रन्थ मानते और उसका पारायण करते हैं। उनकी प्रबल आस्था देखते हुए विचार उठता है, हो न हो वैरागी सम्प्रदायके प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास ही हों। परन्तु यह कोरी कल्पना है। हमें अनेकानेक प्रमाण मिलते हैं कि वैरागी सम्प्रदाय तुलसीके बहुत पहलेसे चला आ रहा है।

वैरागिन् (सं० ति०) 'विरागस्य भावः वैराग्यं तदस्यास्तीति'[1] वैरागी—उदासीन वैष्णव सम्प्रदाय-भेद। इन लोगोंने विषय-वासनाको तिलाञ्जलि देकर संसार-धर्मका त्याग किया है। इस सम्प्रदायके अनुयायी रामानुजी या रामानन्दी मतका अनुसरण करते हैं। ये लोग श्रीकृष्ण या श्रीरामको अपना उपास्य देव मानते हैं तथा उदासीन संन्यासीकी भाँति राह-राह भीख माँगते हैं। 'ओं रामाय नमः' इनका मूल मन्त्र है। ये श्रीकृष्णका भजन तो करते हैं, पर राधाको उनकी शक्तिके रूपमें न ग्रहण कर अनुगता भामिनीके रूपमें मानते हैं। इनके मतमें भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिरुपिणी हैं—रुक्मिणी देवी। जो लोग अयोध्यापति रामके उपासक हैं वे सीताको लक्ष्मी-स्वरूपिणी मानकर उपासना करते हैं[2]। यह संक्षिप्त विवरण वैरागियोंके दो भेदोंका द्योतक है, अर्थात् रामानुज सम्प्रदाय या श्रीसम्प्रदायके वैष्णव तथा रामानन्दी वैरागी।

वैरागी सम्प्रदायका जो सर्व-जन-प्रसिद्ध या रूढ़ अर्थ लिया जाता है उसके अन्तर्गत प्रायः रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त साधु अथवा उसी सम्प्रदायकी अन्य शाखाओंके प्रवर्तक कबीर, दादू आदिके द्वारा प्रवर्तित पन्थोंके अनुयायी आते हैं[3]। इस संकुचित अर्थके विचारसे भी

१. 'हिन्दी विश्वकोश' भाग २२, पृ० ३४०

२. वही, ,, ,,

३. विल्सन: 'एसेज़ एण्ड लेक्चर्स आन् दी रेलिजन्स आव् हिन्दूज' १८४-८५

वैरागियोंका कोई सामान्य स्वरूप नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता। उनके दीक्षा-मन्त्रमें एकता अवश्य है, पर उनके सिद्धान्त और व्यवहारके भेद तो असख्य दिखाई पड़ते हैं। प्रायः जो मठोंमें रहते हैं उनके सिद्धान्त तो बहुत-कुछ स्थिर रहते हैं, परन्तु जो बिचरते ही रहते हैं और जिनका सम्पर्क नये-नये देवोपासकों अथवा विविध आचार-विचारवालोंसे होता ही रहता है उनके सिद्धान्त और व्यवहारमें स्थिरता कैसे टिक सकती है ?

सन् १९०१ ई० की 'सैन्सस रिपोर्ट'से प्रकट होता है कि उस समय वैरागियोंकी संख्या ७,६५,२९२ थी, इनमें अधिकांश बंगाल और राजपूतानामें रहते थे। यद्यपि 'वैरागी' शब्द प्रायः विष्णु-भक्तका द्योतक है तथापि यह साक्षात् विष्णु और उनके अन्य अवतारोंके उपासकोंका बोधक न होकर प्रधानतः राम अथवा कृष्णके उपासकोंका ही व्यञ्जक है। कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उत्तरी भारतमें दिखाई देनेवाले वैरागी सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा बौद्ध शासकोंके ह्रासकालके पश्चात् राजपूतोंके अभ्युदय-कालमें हुई[1]। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताकी पुष्टि कतिपय विद्वज्जनोंकी सम्मतियोंके आधारपर डब्लू कूकेने अपने अनुसन्धानमें यों की है—'वैरागी लोग कदाचित् भारतीय धर्मका बहुत प्राचीन तत्त्व प्रकट करते हैं, इस सम्प्रदायके बाघम्बरधारी अनुयायी निस्सन्देह नृसिंह अवतारका प्रतीक वैसे ही व्यक्त करते हैं जैसे भागवत लोग अपने वस्त्र या नृत्यादिके द्वारा कृष्णका अनुकरण करते हैं। उपास्यकी स्वरूपाभिव्यक्तिके लिए पुजारीका अपने इष्टदेवका प्रतीक धारण करना तो प्रायः सभी प्राचीन धर्मोंकी आदिम अवस्थामें मिलता है। विकासके पश्चात् भी पुरानी धार्मिक प्रथा जीवित रहती है, किसी विशिष्ट पशु चर्मके धारण आदिका यही अभिप्राय है। तिब्बतमें ऐसी प्रथा आज भी वर्तमान है[2]।'

पहले कहा जा चुका है कि रामानुजी सम्प्रदाय और रामानन्दी सम्प्रदाय दोनोंमें ही वैरागी वैष्णव होते हैं। हमें यह स्वीकार करनेमें कोई

---

१. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग २, पृ० ३३७
२. वही।

आपत्ति न होनी चाहिये कि वैरागी सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा रामानन्दके बहुत पहले हुई, क्योंकि रामानुजका समय रामानन्दके बहुत पूर्वका है। यदि रामानन्द वैरागी सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जायँ तो भारी ऐतिहासिक भूल होगी। अतएव यह कहना अधिक संगत होगा कि वैरागी सम्प्रदायका प्रवर्तन कदाचित् दक्षिणसे रामानुजके सिद्धान्तोंके साथ हुआ। चाहे यह सम्प्रदाय दक्षिणमें रामानुजके समय उद्भूत हुआ हो, चाहे और भी प्राचीन अज्ञात कालमें, पर इतना तो निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि इसकी जो व्यापकता और प्रधानता इस समय उत्तरी भारतमें वर्तमान है वह रामानन्दके प्रयासका फल है। यही कारण है कि लोगोंकी दृष्टि सामान्यतः रामानन्दके अनुयायियोंको ही वैरागी रूपमें देखती है। रामानुज कालीन वैरागी सम्प्रदाय अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णताके कारण द्विजातियोंको ही अपनेमें सम्मिलित करता था, किंतु रामानन्दजीने उस संकीर्ण कटघराको तोड़ उसमें सभी जातियोंके स्वागतके लिए व्यापक और विस्तृत दूसरा द्वार बनाया, फलतः लोगोंने यही समझना शुरू कर दिया कि वैरागी सम्प्रदाय रामानन्दका ही प्रवर्तित सम्प्रदाय है।

निस्सन्देह रामानन्दजीने वैरागी सम्प्रदायका उत्कर्ष बढ़ाया और कुछ कालतक वह विकसित होता रहा, पर कालान्तरमें वह पुनः विकार-ग्रस्त हो गया। उसकी कट्टरता यहाँतक बढ़ी कि विष्णुके एक अवतार कृष्ण अथवा रामकी उपासना करनेवाले ही आपसमें पार्थक्य समझने लगे। यही नहीं, कदाचित् उन्हें राम और सीतामें भी भेद दिखाई पड़ा और कुछ लोग स्त्रीवत् वेशमें रहकर वैदेहीकी उपासनामें दत्तचित्त हुए और बाबा वैदेहीशरण आदि बने। इसी प्रकार रामोपासनाको प्राधान्य देनेवाले रामके अनुरूप वेश बनाते हुए बाबा रामदास आदि कहलाये। कट्टर वैरागियोंमें कुछ ऐसे भी होते हैं कि यदि उनसे शिवलिंगका स्पर्श हो जाय तो अपनी अपवित्रता दूर करनेके लिए वे स्नान अवश्य करेंगे।

इस समय पञ्जाबमें वैरागियोंके दो सम्प्रदायों अर्थात् रामानन्दी और नीमानन्दीके सिद्धान्तों और विचारोंमें महान् अन्तर दृष्टिगत होता है,

दोनोंने अपनी-अपनी कट्टरताकी हद कर दी है।[१] इधर युक्तप्रान्तके रामानुजी और रामानन्दी वैरागियोंमें भी कम कट्टरता नहीं।

वैरागियोंकी ऐसी कट्टरता आजकी वस्तु नहीं कही जा सकती। साथ ही यह भी अमान्य नहीं हो सकता कि कट्टरताके विरोधी रामानन्दके प्रभावसे उनके बहुत दिनों बादतक भी ऐसी कट्टरता नहीं रही होगी। ऐसी स्थितिमें तुलसीके युगमें वैष्णवों और शैवोंकी कट्टरताके साथ वैरागियोंकी इस आन्तरिक कट्टरताको उत्पत्तिकी सम्भावना करना निराधार नहीं कहा जा सकता। अतएव हम यही अनुमान करते हैं कि जैसे रामानन्दने रामानुजी वैरागी सम्प्रदायका परिवर्द्धित स्वरूप स्थिर करनेका प्रयास किया और उदार वैरागी सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की वैसे ही तुलसीदासने भी स्वकालीन विकृत वैरागी-सम्प्रदायकी कट्टरता भंग करनेका प्रयास किया। इसके परिणाम-स्वरूप अब अधिकांश वैरागियोंमें यथेष्ट उदारता आ गयी है। एक ही मन्दिरमें राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान् आदिकी मूर्तियोंके अतिरिक्त राधा-कृष्ण अथवा शिवलिंग आदि भी प्रतिष्ठित रहते हैं। उनकी पूजा भी होती है। कालसे प्रभावित, रामानन्दके बाद जो वैरागी सम्प्रदाय अपनी संकीर्णतावश द्रोहकी ज्वालामें दग्ध होनेपर उतारू था उसे तुलसीने ऐसा प्रशस्त नवजीवन-दान दिया कि वह सजग होकर विस्तृत हो उठा। 'मानस' जैसा अपना धर्म-ग्रन्थ पाकर वैरागी सम्प्रदायने मानों उदारताकी ओर नया डग रखा। मैंने कितनोंको यह कहते सुना है कि वैरागी सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं—बाबा तुलसीदास। गोस्वामीजीने वैरागी सम्प्रदायका प्रवर्तन किया है, भले ही हम ऐसा न कह सकें, परन्तु यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि प्रायः सभी वैरागी सम्प्रदायोंको गोस्वामीजीसे ऐसी विशिष्ट चेतना मिली है जो उनकी संकीर्णताका किसी न किसी अंशमें उच्छेद करती है। अतएव गोस्वामीजीको वैरागी सम्प्रदायका महान् सन्निपत्योपकारक कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं।

---

१. 'इन्साइक्लोपिडिया आव् रैलिजन एण्ड एथिक्स' भाग २, पृ० ३३७

अन्य उपासना-पद्धतियाँ और तुलसीकी उपासना-पद्धति

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिकी व्यापकता, विशदता और महत्त्वकी सूक्ष्म अनुभूति करते हुए उसे हृदयंगम करानेके लिए यह अप्रासंगिक न होगा कि प्रस्तुत परिच्छेदके अन्तमें अब कुछ ऐसी अन्य उपासना-पद्धतियोंसे, जिनके असत्स्वरूपपर तुलसीने अपना सात्त्विक क्षोभ प्रकट किया है, उनकी उपासना-पद्धतिकी तुलना भी कर दी जाय। सर्वप्रथम शाक्त-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति लीजिये। निम्नांकित अवतरण भली भाँति प्रकट करते हैं कि उक्त सम्प्रदायकी वाममार्गी उपासना-पद्धतिके प्रति तुलसीके कैसे विचार थे—

'तजि स्रुति पंथ बाम पथ चलहीं।
बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं[1]॥'

... ...

'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥
..............................। जीवत सव सम चौदह प्रानी[2]॥'

ये वाममार्गी तुलसीकी दृष्टिमें हेय क्यों ठहरते हैं, इसका मर्म समझनेके लिए उनकी उपासना-पद्धतिका संक्षिप्त परिचय वाञ्छनीय है।

शाक्त-सम्प्रदायकी प्राचीनता और उसकी स्थापना विवादास्पद है, तथापि उसकी प्राचीनतापर सन्देह न होना चाहिये। ऐसी कोई जाति और धर्म नहीं है जिसमें शक्तिकी उपासना न हो। प्रायः समस्त संसारमें स्त्री-तत्त्वकी उपासना प्रचलित है। वेदोंके आधारपर स्त्री-तत्त्वको ईश्वरसे भिन्न माननेके कारण इसकी सृष्टि हुई है। वेदोंमें ईश्वरकी 'एकोऽहं बहुस्याम्'की इच्छाको ही विश्वोत्पत्तिका कारण माना है। 'ऋग्वेद'ने इसी इच्छाको संसार-सृष्टिका बीज माना है। 'सामवेद'का कहना है कि ईश्वरको अकेला रहना अप्रिय लगा और उसे किसी दूसरेकी इच्छा हुई। इच्छाके साथ ही उसने अपने आपको दो भागोंमें विभक्त कर

---

१. 'मानस' अयो० १६६.७ २. 'मानस' लं० ३०.२—४

दिया। एक स्त्री-तत्त्व हुआ, दूसरा पुरुष-तत्त्व। उन्हीं दोके संयोगसे सृष्टि उत्पन्न हुई। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'के अनुसार सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा कर ईश्वरने द्विधा रूप धारण किया। दक्षिण अर्ध भाग पुरुष और वाम अर्ध भाग स्त्री-रूपमें परिणत हो गया। फिर उससे सृष्टि-विस्तार हुआ।

इस प्रकार ईश्वरोत्पन्न वही स्त्री-तत्त्व प्रकृति नामसे सम्बोधित हुआ। अनेक धर्मावलम्बियोंने उसे माया, महामाया किंवा शक्ति नामसे पुकारा है। उसका और ब्रह्मका स्वभाव एक-सा माना गया है। अर्थात् ब्रह्मकी भाँति प्रकृति भी अनादि और अनन्त है। ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण वह ब्रह्मके सभी विशेषणोंसे विशिष्ट है।

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती'में बहुत ही विशद रूपसे उस आद्या शक्तिके अनेकानेक कारक, धारक और संहारक स्वरूपोंका वर्णन है। उक्त प्रसंगमें ही कहा गया है—

'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः॥'

कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारमें जितने स्त्रियोंके स्वरूप हैं वे सब उसी अनादि अनन्त प्रकृतिके स्वरूप माने गये हैं। जिस सम्प्रदायमें आद्या शक्तिकी उपासनाका प्रचार है उसे शाक्त सम्प्रदाय कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत पहलेसे प्रकृति-पूजा प्रचलित है। बौद्धोंने भी विघ्ननाशिनी तारादेवीका अस्तित्व स्वीकार किया है।

शाक्त सम्प्रदायकी प्राचीनता और उसका मूल तत्त्व देखनेसे स्पष्टतया प्रतीति होती है कि वेदमन्त्रोंके आधारपर प्राचीन कालमें ही इसकी सृष्टि हुई थी। सम्भव है, ऋषि-मुनियोंने इसका प्रचार किया हो, किन्तु कालान्तरमें अन्य धर्मोंकी भाँति इसमें भी अनेक परिवर्तन हुए। उनसे सम्प्रदायका महत्त्व नष्ट हो गया। यह लोगोंकी घृणा और तिरस्कारका लक्ष्य बन गया। इन परिवर्तनोंके बाद सम्प्रदायका जो स्वरूप संगठित हुआ उसका निर्देश अपेक्षणीय है।

शाक्त सम्प्रदायके तन्त्र-ग्रन्थोंके गम्भीर अध्ययनसे यह साफ प्रकट होता है कि ये ग्रन्थ दो प्रकारके हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कितने ही तन्त्र-ग्रन्थोंमें वेद और योगशास्त्रकी बातें पायी जाती हैं। सम्भव है कि प्राचीन कालमें उन तन्त्रोंकी रचना वेदोंके आधारपर हुई हो और बादको उनसे तथा वेद-शास्त्रोंसे सैद्धान्तिक सम्बन्ध न रहा हो।

तान्त्रिक आचार एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरुके द्वारा दीक्षा ग्रहण करनेके समय शिष्यको इसका रहस्य समझाया जाता है। तान्त्रिकी पूजा चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियोंके लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है। इसी दुरूह एवं गोप्य प्रकृतिके कारण उसे समझने और समझानेके लिए साधक तथा सिद्धमें बहुतसे लक्षण और गुण परमावश्यक माने गये हैं। इस पद्धतिके 'ह्रीं' 'स्रीं' आदि बीजमन्त्र भी बड़े ही विचित्र और रहस्यपूर्ण होते हैं।

शाक्त सम्प्रदायमें तीन भाव और सात आचार माने गये हैं[1]। इन्हींके आधारपर शाक्त साधकोंकी सात श्रेणियाँ[2] ठहरायी गयी हैं। इनमें सर्वोपरि सातवीं श्रेणीमें आनेवाले साधक 'कौलाचारी' हैं। 'नित्यतन्त्र' के तृतीय पटलमें कहा गया है कि महामन्त्र-साधक कौल दिक्काल-तिथ्यादि-नियम-रहित, शिष्ट, भ्रष्ट, भूत-पिशाचवत् नाना रूपधारी होते हैं[3]।

यद्यपि तन्त्रोंके अनुसार शाक्तोंके सप्त प्रकार ही निरूपित हुए हैं, पर संसारी दृष्टिसे वे दो प्रकारके दिखाई पड़ते हैं—दक्षिणाचारी तथा वामाचारी।

---

१. 'भाव' साधककी मानसिक अवस्था है और 'आचार' बाह्य आचरण। तीनों भाव ये है—पशुभाव, वीरभाव, दिव्य भाव। सप्ताचार ये हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार। विशेष विवरणके लिए देखिये पं० बलदेव उपाध्याय: 'भारतीय दर्शन' पृ० ५३२–३३

२. 'नित्यतन्त्र'में इन सातों श्रेणियोंके साधकोंके आचार पृथक्-पृथक् विस्तार-पूर्वक वर्णित है।

दक्षिणाचारियोंकी उपासना वामाचारियोंकी उपासनासे भिन्न एवं पवित्र है, किन्तु भगवतीको प्रसन्न करनेके लिए पशु-बलि वे भी अनुचित नहीं मानते। यही ऐसी बात है जो खटकती है। काशिराज-प्रणीत दक्षिणाचार 'तन्त्रराज'में उनके कर्तव्याकर्तव्यका विस्तृत विवरण अंकित है। उसका कथन है—

'दक्षिणाचारतंत्रोक्तं कर्म्म तच्छुद्धवैदिकम्।'

शाक्त-सम्प्रदायोंमें अत्यधिक उग्र और भयंकर सम्प्रदाय है वाम-मार्गी। वाममार्गियोंके पञ्च मकारादि-सेवन, अभिचारादि-समर्थन एवं प्रवञ्चना प्रभृति घृणास्पद कर्मोंका अनुमान निम्नांकित उद्धरणोंसे किया जा सकता है—

'पंचतत्त्वख[1]पुष्पं च पूजयेत् कुलयोषितम्।
वामाचारो भवेत्तत्र वामो भूत्वा यजेत् पराम्॥'

(आचारभेदतन्त्र)

... ...

'मद्यं मांसं च मत्स्यश्च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपंचकं चैव महापातकनाशनम्॥'

(श्यामारहस्य)

... ...

'पीत्वा मद्यं पठेत् स्तोत्रं साधकः कुलभैरवः।
कुलस्त्रीसंगनिरतः कुलकार्यं समाचरेत्॥'

(कुलार्णव)

---

१. वामाचारियोंका एक सांकेतिक शब्द है। रजस्वलाके रजको 'ख' किंवा 'स्वयम्भूपुष्प', सधवाके रजको 'कुण्डपुष्प', विधवाके रजको 'गोलकपुष्प' और चाण्डालिनके रजको 'पुष्प' कहते हैं। 'भारतीय धर्मोंका इतिहास' पृ० १९९

... ...

'रात्रौ कुलक्रियां कुर्यात् दिवा कुर्याच्चवैदिकीम् ।
दिवा रात्रौ यजेद् देवीं योगी योगप्रभेदतः ॥'

(निरुत्तरतन्त्र)

... ...

'शांतिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटनं तथा ।
मारणं परमेशानि षष्ठं कर्म प्रकीर्तितम् ॥'

(योगिनीतन्त्र)

... ...

'अन्तः कौला वहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः ।
नाना रूपधराः शाक्ता विचरन्ति कलौ युगे ॥'

(कुलार्णव)

शाक्तोंका यही नाटक देखकर कदाचित् गोस्वामीजीको कहना पड़ा—

'तजि स्रुति पंथ बामपथ चलहीं । वंचक बिरिचि बेषजग छलहीं॥'

और 'कौल'की शवसे तुलना करनी पड़ी ।

तुलसीकी उपासना और शाक्त सम्प्रदायकी उपासनाका स्वरूप ध्यानमें रखते हुए अब दोनोंकी संक्षिप्त तुलना कीजिये । सर्वप्रथम, दोनोंके इष्टदेवों-के स्वरूपमें अन्तर है । जहाँ बाबाजीकी उपासना परम पुरुष परमात्मतत्त्व लेकर चलती है वहीं शाक्तोंकी उपासना प्रकृतिस्वरूपा अनन्त स्त्रीतत्त्व पर अवलम्बित है । शाक्तसम्प्रदायी अन्ततोगत्वा अद्वैत ज्ञानकी प्राप्तिको ही परम लक्ष्य मानता है, किन्तु तुलसीकी उपासनामें आद्योपान्त एकमात्र अविरल प्रेम-भक्तिकी सिद्धि ही सब कुछ है ।

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिमें इष्टदेवके वाचक राम-नामको ही महामन्त्र या बीजमन्त्र माना गया है, उसे आबाल-वृद्ध सभी बिना किसी आयास-प्रयासके कह-सुन सकते हैं, पर शाक्त बीज-मन्त्रोंमें ऐसी सुगमता कहाँ ?

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धति यदि दिव्यालोकसे आलोकित राजमार्ग है तो शाक्तोंकी उपासना-पद्धति सूची-भेद्य अन्धकारसे घिरी हृदय कँपा देनेवाली भयानक गली। जहाँ तुलसीकी उपासनामें 'सूधे मन, सूधे बचन सूधी सब करतूति'की अपेक्षा होती है वहाँ शाक्त-सम्प्रदायमें' टेढ़े मन टेढ़े वचन टेढ़ी सब करतूति' समझनी चाहिये। तुलसीकी उपासनामें किसी प्रकारका गोपन अवाञ्छनीय है, पर शाक्त सम्प्रदायमें गोपन, रहस्य, छिपाव या दुराव ही प्रधान वस्तु है।

तुलसीकी उपासना-पद्धति वेद, पुराण तथा अन्यान्य सच्छास्त्रोंमें वर्णित सदाचार, शिष्टाचार और सूक्ष्मातिसूक्ष्म धर्म-तत्त्वोंको अपनाती हुई चलती है, यह सर्वप्रकारेण सदाचारमूलक होनेसे विशुद्ध सात्त्विक परम्परागत भारतीय सनातन धर्मसे रञ्चमात्र भी पराङ्मुख नहीं, इसकी दृष्टिमें अनाचारसे पंकिल उपासना नितान्त हेय है। इसके आलम्बन राम ऐसे नहीं हैं कि उनकी परितुष्टिके लिए निरीह पशुओंकी बलि या पूजाकी आवश्यकता हो। उन्हें भक्तका एक मात्र सात्त्विक प्रेम एवं सदाचार ही प्रिय लगता है। इसके विपरीत शाक्तोंकी उपासना-पद्धति वेद, पुराण तथा अन्य सच्छास्त्रोंकी अवहेलना कर अनाचारमूलक कतिपय साधनोंको ग्रहण करती है। इसकी आलम्बन देवी जीव-हत्या करनेसे, निष्ठुर धर्मके अनुष्ठानसे प्रसन्न होती है, यह शाक्तोंका विश्वास है। इनकी दृष्टिमें अनाचार, कदाचार और व्यभिचार ही इनकी उपासनाके अंग नहीं अपितु मारण, मोहन प्रभृति अभिचार-कर्म भी सिद्धिके वैभव अतएव श्रेयस्कर हैं।

शाक्त-सम्प्रदायके अतिरिक्त कुछ निर्गुण पन्थोंसे भी तुलसीकी उपासना-पद्धतिका मिलान करना चाहिये। इन पन्थोंसे क्षुब्ध होकर तुलसीने जो संकेत किया है उसे देखिये—

'साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान[1] ॥'

---

१. 'दोहावली' दो० ५५४

कहना नहीं होगा कि 'साखी सबदी दोहरा' निर्गुण सम्प्रदायी उन्हीं उपासकोंकी ओर संकेत कर रहा है जो गोस्वामीजीके समयमें अपने-अपने मतकी साखी, सबद आदि रचनाओंके द्वारा प्रस्थापना कर रहे थे। तत्कालीन निर्गुणोपासकोंकी सभी रचनाएँ 'साखी', 'सबद' आदिके ही रूपमें मिलती हैं। अतएव उनके द्वारा भक्तिका निरूपण करनेवालोंमें कबीरपन्थी, दादूपन्थी, मलूकपन्थी आदि निर्गुण उपासकोंको समझना अनुचित न होगा। 'किहनी उपखान' सूफी साधक और प्रचारकोंकी ओर लक्ष्य करता है, क्योंकि सूफियोंकी रचनाएँ—कहानी और उपाख्यान—उनकी उपासनाका प्रचार करते हैं। उल्लिखित दोहेसे जिन विशिष्ट सम्प्रदायोंका आभास मिलता है उनमेंसे प्रत्येकके स्वरूपपर अत्यन्त संक्षेपमें विचार करते हुए उससे तुलसीकी उपासनाका निरालापन दिखाना अभीष्ट है।

कबीर-पंथके संस्थापक हैं—महात्मा कबीरदास। एतदर्थ इस पंथकी उपासना-पद्धतिके सिद्धान्त-निरूपणमें कबीरकी रचनाओंका सहारा लेना अत्युत्तम होगा। कबीर-पन्थियोंकी उपासनाका आलम्बन है—निर्गुण ब्रह्म। अपने इस इष्टदेवके स्वरूपके विषयमें कबीरने स्वयं कहा है—

'जामै मरै न संकुटि आवै, नाँव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहै ताकौ रे[1] ॥'

... ...

'निर्गुण रामं निर्गुण रामं जपहु रे भाई।
अबिगत की गति लखी न जाई[2] ॥'

जिसकी सर्वव्यापकतासे ब्रह्माण्ड अधिष्ठित है और जो ब्रह्माण्डसे परे भी है कबीर उसी परात्पर ब्रह्मको अपना उपास्य मानते हैं—

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' २ पदावली पद ४८
२. 'कबीर-ग्रन्थावली' २ पदावली पद ४९

'रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता मांहि ।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नाहि[1] ।'

कबीर जिस पारब्रह्मकी बन्दगी करते हैं वह ज्योतिस्वरूप है, उस अनन्तके तेजके सामने सूर्य-श्रेणियोंका भी प्रकाश क्या है, उस अखण्ड पारब्रह्मका तेज अमुमान और वर्णनसे परे है, वह एकमात्र ज्ञानदृष्टिसे अवगत हो सकता है[2] । अस्तु ।

इसी प्रसंगमें यह भी न भूलना चाहिये कि कबीरकी रचनाओंमें अवतारी भगवान्‌के अनेकानेक नामोंका बार-बार जो प्रयोग हुआ है वह इस बातका प्रकाशक नहीं है कि वे ईश्वरके अवतारी स्वरूपको मानते थे । वस्तुतः कबीरने उन सभी नामोंको अपने परात्पर ब्रह्मका ही वाचक माना है । इनकी दृष्टिमें तो सगुणोपासना द्वारा परम पदकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती—

'गुण गाये गुण ना कटै, रटै न राम बिबोक ।
अह निसि हरि ध्यावे नहीं, क्यूँ पावै द्रुलभ जोग[3] ॥'

उद्धरणमें प्रथम 'गुण' सगुणोपासनाका ही द्योतक है और द्वितीय 'गुण' त्रिगुणोंका, 'द्रुलभ योग' परमपद-प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मलीनताका व्यञ्जक है ।

कबीर-पन्थमें अन्तर्मुख उपासना ही श्रेयस्कर मानी जाती है । कबीर स्वयं कहते हैं—

'देवल माँहै देहुरी, तिल जेहै बिस्तार ।
माँहै पाती माँहि जल, माँहै पूजणहार[4] ॥'

योगाभ्यास आदि अन्तर्मुख उपासना इस पन्थवालोंको विशेष रूपसे मान्य है । कदाचित् इसीलिए कबीरकी रचनाओंमें योगके अनेकानेक

---

१. 'कबीर-ग्रन्थावली' १ साखी ३६ 'पीव पिछांणनको अंग' दो० ३
२. ,, ,, १ ,, ५ दो० 'परचाको अंग'
३. ,, ,, १ ,, 'सुमिरणकौ अंग' दो० २८
४. ,, ,, १ ,, 'परचाको अंग' दो० ४२

पारिभाषिक शब्द, यथा 'उन्मनि', 'सुरति', 'निरति', 'इला', 'पिंगला', 'सुषुम्ना', 'शून्य', 'सहस्रदल कमल', 'सूक्ष्म जन्म' आदि, यौगिक क्रियायोंके द्योतक प्रयुक्त हुए हैं।

अद्वैत ज्ञानका समर्थन भी कबीर-पन्थकी उपासनाका एक अंग है। देखिये, कबीरदासजी क्या समझा रहे हैं—

'कबीर इस संसारको समझाऊँ कै बार।
पूँछ ज पकड़ै भेदकी उतरा चाहै पार'[1] ॥'

निवृत्ति-मार्ग इस पन्थको विशेष मान्य है। कबीरने स्वयं कहा है—

'कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रम।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम'[2] ॥'

उदात्त मानसिक भावोंकी अभिवृद्धि, क्षमा, दया, अहिंसा सत्यादिकी आवश्यकता इस पन्थवाले भी मानते हैं। स्वयं कबीरने इन गुणोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इन्हें साधु-सन्तोंका आभूषण माना है। नाम-स्मरणकी महिमा भी यह पन्थ स्वीकार करता है।

परमात्माका निर्गुणत्व, निरञ्जनत्व, सर्वव्यापकत्व आदि मानते हुए भी उसे अंतःकरणमें ढूँढ़नेकी प्रवृत्ति, योगानुष्ठानके द्वारा उसका साक्षात्कार, उससे पति, माता, पिता आदिके रूपमें सांसारिक सम्बन्धकी स्थापना प्रभृतिको प्रश्रय देनेवाली भावुकताके चरमोत्कर्षपर पहुँचानेकी प्रवृत्तिसे ओतप्रोत कबीरकी रचनाएँ सिद्ध करती हैं कि कबीर-पन्थियोंकी उपासना-पद्धति भी रहस्यवादसे अनावृत नहीं।

कबीर-पन्थको मुसलमानोंका एकेश्वरवाद, कयामत आदि मान्य तथा भारतीय बहुदेववाद अमान्य है। कबीरने बहुदेवोपासककी जगह-जगह गणिकाके पुत्रसे तुलना की है। बहुदेवोपासनाको व्यभिचार सदृश घृणित वस्तु माना है—

---

१. 'कबीर-ग्रन्थावली' १ साखी १७ 'चांणकको अंग' दो० २०
२. ,, ,, १ ,, ,, ,, ,, ,, ,, २१।

'भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरू बताइया, पुरिबला भरतार[1]॥'

'कयामत'की ओरका इशारा देखिये—

'कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घटा बाती बुझी तब सोवैगा दिन राति[2]॥'

कबीरने शाक्त-मतको घृणास्पद समझनेके कारण शाक्त ब्राह्मणतकको त्याज्य और इसके विपरीत वैष्णवके प्रति उदारताकी भावना होनेसे चाण्डाल वैष्णवको भी आलिंगनीय माना है—'अंकमाल दे भेटिये मानो मिले गुपाल'। इन्होंने शाक्तोंको 'लहसुनकी खानि' और 'कालिखका भाण्ड' भी घोषित किया है[3]। मद्य-मांस भक्षी शाक्त उनकी दृष्टिमें घोर नरकयातनाओंके ही भागी ठहराये गये हैं[4]।

कबीर-पन्थ वर्णाश्रम-व्यवस्थापर कुठाराघात करता है। इसकी समझमें ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू, तुर्क सभी एक हैं। देखिये—

'एक ज्योति थे सब उतपना, कौन बाभन कौन सूदा।'

... ...

'कहै कबीर राम जपहुरे हिन्दू तुरक न कोई[5]।'

कबीर-पन्थ भारतीय संस्कृतिके स्तम्भ वेदशास्त्रकी उपेक्षा करता है। कबीरकी रचनाओंमें इनकी निन्दा की गयी है[6]। कबीरकी वर्णाश्रम धर्म और वेदशास्त्रकी कानि भंग करनेकी प्रवृत्तिका संकेत नाभादासने यों दिया है—

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' १ साखी १६ 'पीवपिछांणन कौ अंग' दो० ३
२. ,, ,, १ ,, २ 'सुमिरणकौ अंग' दो० १०
३. ,, ,, परिशिष्ट पृ० १६०, दो० १५१, ५२.
४. ,, ,, १ साखी २२ 'साँचकौ अंग' दो० १४, १५
५. ,, ,, २ पदावली पद ५७
६. दे० 'कबीर-ग्रन्थावली' २ पदावली पद ३९, १२२ तथा परिशिष्ट २ पदावली पद १३२

'कबीर कानि राखी नहीं बर्णास्रम षट दर्सनी[1]।'

तीर्थ-सेवन, प्रतिमा-पूजन तथा ऐसे ही अन्यान्य आचार-विचार-सम्बन्धी बाह्य साधनोंकी भी कबीर-पन्थ अवहेलना करता है। इसकी दृष्टिमें संसार शृंखलासे निर्मुक्त होकर लौकिक व्यवहारोंका परित्याग कर ध्यान-मग्न रहना ही परम कर्तव्य है। यह पन्थ कण्ठी, जप-माला, तिलक आदिको बाह्याडम्बर घोषित करता है, भले ही इसके अनुयायी भी जप-माला, कण्ठी तिलक आदि धारण करते हों।

अब दादू-पन्थके स्वरूपपर भी कुछ विचार हो जाना चाहिये। वस्तुतः यह पन्थ कबीर-पन्थसे अधिकतर मिलता-जुलता है। स्वयं दादूने कबीरके सिद्धान्तोंका पोषक होनेके नाते कदाचित् ये वाक्य कहे हैं—

'साचा सबद कबीरका मीठा लागै मोहिं।
दादू सुनताँ परम सुख केता आनंद होइ[2]॥'

जो उपास्य कबीरका था वही दादूका भी। इसका उल्लेख दादूने यों किया है—

'जो था कंत कबीरका सोई वरिहौं।
मनसा बाचा कर्मना और न करिहौं[3]॥'

इस उपास्यका स्वरूप कैसा है, यह देखिये—

'परब्रह्म परापरं सो मम देव निरंजन।
निराकार निर्मल, तस्य दादू वंदनं[4]॥'

कुछ विद्वज्जनोंके मतानुसार दादू कबीरके परम्परागत शिष्य इस प्रकार बताये गये हैं—

---

१. 'भक्तमाल' छप्पय ६०

२. 'दादूदयालकी बानी' १ साखी २२ 'सबदकौ अंग' दो० ३४

३. ,, ,, २० 'पीव पिछाणकौ अंग' दो० ११

४. ,, ,, ,, ४

कबीर→कमाल→जमाल→बिमाल →बुद्धन→दादू[1]

'दादूदयालकी बानी'में जो साखी, सबद संगृहीत हैं उनसे स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि दादूकी उपासना-पद्धति कबीरकी उपासना-पद्धतिका रूपान्तरमात्र है। दादूकी हमारे वेद-पुराण अथवा मुसलमानोंके कुरान-हदीसपर कोई आस्था न थी और न वे वेदान्त-दर्शन आदिको ही मानते थे; वे बाह्य-पूजाके विधि-विधान, जाति-पाँति-भेद, प्रतिमोपासना एवं तीर्थ-श्राद्ध आदि सभी कर्म व्यर्थ समझते थे; उनका विश्वास था कि अपने इसी जन्मके कर्मानुसार मनुष्य जन्म-बन्धनसे मुक्त या आबद्ध होता है, वे त्रिदेवोंकी कर्तृत्व-शक्तिमें विश्वास नहीं रखते थे; उनकी दृष्टिमें माया और संसार स्वयं बुरे नहीं, किन्तु बुरे मनुष्यने अपना मन ईश्वरसे हटाकर उन्हें बुरा बना दिया है। दादूकी परमात्म-विषयक तथा साधना-विषयक अन्यान्य सभी बातें कबीर-पन्थसे भिन्न नहीं, एतदर्थ उनका विस्तार अनपेक्षित है।

नानक पन्थियों और मलूकदासके अनुयायियोंकी उपासना-पद्धतियाँ भी निर्गुणपन्थकी ही श्रेणीमें आती हैं। इनके विषयमें स्थानाभाववश इतना ही कहना अलम् होगा कि इन पंथोंकी साधना, इनके साधन और सिद्धान्तकी प्रायः सभी बातें कबीर-पन्थसे गृहीत होनेके कारण उससे मिलती-जुलती हैं।

निर्गुण-सम्प्रदायी कुछ उपासना-पद्धतियोंका स्वरूप निरूपण कर चुकनेके पश्चात् अब उन्हें ध्यानमें रखते हुए तुलसीकी उपासना-पद्धतिसे उनका तारतम्य बहुत थोड़ेमें निर्दिष्ट होगा। निर्गुण-पन्थियोंका उपास्य एक संकुचित सीमामें घिरकर निर्गुण ही रह जाता है। इसके विपरीत तुलसीका उपास्य परमपुरुष साकार मानव, सगुण और निर्गुण सभी रूपोंमें अवगत होता है, स्थूलसे स्थूल बुद्धिवाला प्राणी भी उसे अपनी भावनाके अनुकूल देख सकता है। परन्तु निर्गुण उपासकोंके उपास्य

१. दे० विल्सनकृत 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन् दी रेलिजन्स आव हिन्दूज़' पृ० १०३

ब्रह्मका साक्षात्कार कोई विरला ही कर सकता है। निर्गुण-पन्थकी उपासना-पद्धतिमें निर्गुण ब्रह्म ही सर्वस्व है, उसीकी प्राप्तिके हेतु योगादिकी नाना युक्तियोंका सम्पादन कर मुक्ति-लाभ किया जाता है। पर तुलसीकी उपासनामें तो भगवान्‌की सगुणोपासनाके सामने सब कुछ, यहाँतक कि मुक्ति भी, तुच्छ है। देखिये—

'वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं।
जोग जुगुति अरु मुकुति बिबिध बिधि वा मुरलीपर बारौं॥
जेहि उर बसत स्याम-सुन्दर-घन तेहि निरगुन कस आवै।
तुलसीदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै[1]॥'

निर्गुण-पन्थ रहस्यवादी है, इधर तुलसीकी उपासना-पद्धतिको रहस्यवादकी छाया भी नहीं छूती, यहाँ तो भगवान् 'अन्तर्यामि हुते बड़ बाहिरयामी' घोषित किये गये हैं। तुलसीकी उपासना-पद्धति अन्तर्मुख योगादि साधनोंके चक्करमें पड़कर निर्गुण-पन्थकी भाँति शास्त्र-विहित बाह्य साधनोंकी भर्त्सना नहीं करती, वरन् उसमें तीर्थाटन, पूजा-पाठ, सन्ध्या-वन्दन आदिकी भी पूर्ण प्रतिष्ठा है।

शाक्तोंके प्रति अनौदार्य, अहिंसाकी प्रतिष्ठा, ब्रह्मचर्य, शान्ति, सत्य, क्षमा, दया, आदि उदात्त मनोवृत्तियोंको साधनके अंगोंके रूपमें ग्रहण करना — यह कुछ ऐसी बात है जो तुलसीकी उपासना-पद्धति और निर्गुण-पन्थ दोनोंमें समादृत है। उपासना-पथपर आरूढ़ होनेके लिए गृह-त्यागकी नितान्त आवश्यकता न तुलसी ही मानते हैं और न निर्गुण-पन्थके साधक ही।

अब 'किहनी उपखान' के द्वारा अपना मतप्रचार करनेवाले सूफी साधकोंकी उपासना-पद्धतिका स्वरूप-निर्देश भी हो जाना चाहिये। हिन्दी साहित्यमें सूफी साधकोंकी जितनी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनके अन्तस्तलमें प्रविष्ट होनेपर सूफी उपासनाका जो सन्निहित बीज मिलता है वह है—ईश्वर-विषयक विरह। साधकके हृदयमें जब यह विरह अपनी

---

१. **'श्रीकृष्णगीतावली' पद ३३**

चरमावस्थाको पहुँच जाता है तो उसकी दृष्टिमें सारा संसार दर्पण हो उठता है और इसपर परमात्माके आभास विविध रूपोंमें पड़ते हैं। वह देखता है कि इस सृष्टिके सारे रूप, सारे व्यापार उसीका विरह प्रकट कर रहे हैं। उसके चतुर्दिक्—

'दरियाए इश्क वह रहा लहरोंमें बेशुमार।'

ही नजर आता है।

सौन्दर्य और सदाचारकी मदिरा पीकर प्रेमानन्दमें मग्न रहना ही सूफियोंकी परमोपासना है। एक पाश्चात्य विद्वान्ने सूफी मतकी विशेषता यों दी है—'ईश्वर शाश्वत सौन्दर्य है, उसका स्वाभाविक धर्म है कि उससे प्रेम किया जाय, उसने अपनेको प्रेमका आलम्बन बनानेके लिए ही प्रेम और प्रेमके प्रतीकोंमें व्यक्त किया है। यहाँतक कि लौकिक प्रेम भी एक प्रकारका आध्यात्मिक प्रेम है। यह उस सत्यतक ले जानेका सोपान है। आत्मा तत्त्वतः दिव्य है, यह अपने जीवत्वके कारण परमात्मासे पृथक् हो गया है और उससे मिलनेके लिए परमाकुल रहता है, यही आकुलता उसे अपने मूल स्रोततक ले जा सकती है। प्रेम ही जीवात्मासे सम्मिश्रित कुधातुओंको भस्म कर उसे काञ्चन बना सकता है, उसका प्रियतमसे मिलन करा सकता है।[1]'

बाह्य साधन, नमाज रोजा आदिको सूफी महत्त्व नहीं देते प्रत्युत अन्तःशुद्धिसे ही वे अपनी उपासना करते हैं। तृष्णा और मोहका दमन वे नितान्त आवश्यक मानते हैं। वही उनके 'तरिकत' मोक्षका साधन है। यद्यपि जगत्को वे मिथ्या, मृगतृष्णा समझते हैं, ईश्वरको निराकार मानते हैं, पर हमारे यहाँके निगुर्णवादियोंसे भिन्न वे ईश्वरका मनमोहक रूप जगत्के सभी मनोज्ञ पदार्थोंमें देखते हैं। सूफी मत भारतीय अद्वैतवादसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। फलतः कुछ विद्वानोंने इसे अद्वैतवादी माना है[2]।

---

१. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन्स एण्ड एथिक्स' भाग १२, पृ० १६

२. दे० 'हिन्दी विश्वकोष' भाग २४, पृ० ३९६

यदि सूफी उपासना-पद्धतिके स्वरूपपर दृष्टि रखकर तुलसीकी उपासना-पद्धतिसे उसकी तुलना करना चाहें तो कह सकते हैं कि सूफियों-की उपासना-पद्धति रहस्यवाद-मूलक एक इस्लामी उपासना-पद्धति है, इसके विपरीत हमारे आर्य तुलसीकी उपासना पद्धति रहस्यवाद-शून्य प्राचीन भारतीय सगुणोपासनाकी भक्ति-पद्धति है। वस्तुतः दोनों पद्ध-तियोंकी साधना, उनके साधन एवं सिद्धान्तमें कोई साम्य नहीं। दोनोंके बाह्य आचार-विचार भी सर्वथा भिन्न हैं।

'साखी सबदी दोहरा - उपखान'से लक्षित होनेवाली कुछ उपासना-पद्धतियोंकी तुलना तो हो गयी। अब अलख-पन्थी या अलखिया-सम्प्रदायकी ओर आइये। इस सम्प्रदायके प्रति गोस्वामीजीके क्या विचार थे, इसका आभास निम्नांकित दोहा दे रहा है—

'हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमारके बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहि, राम नाम जपु नीच[1]॥'

अलख-पन्थियोंकी शैव-सम्प्रदायके विशेष साधकोंमें परिगणना की जाती है[2]। ये प्रायः 'अलख'को जगानेवाले नामसे भी प्रचलित हैं। ये गोरख-पन्थी योगियोंसे भिन्न हैं। गोरख-पन्थी योगियोंकी भाँति ये कनफटे नहीं होते। जातिके चमार लालगीर इस पन्थके प्रवर्तक माने गये हैं। उनका समय अनिश्चित है। इस पन्थके सिद्धान्त आदिका उल्लेख डा० ग्रियर्सनने इस प्रकार किया है—'अलख-पन्थी मूर्ति उपासना नहीं मानते, एकमात्र निर्गुण, निरञ्जन, अचिन्त्य, अलक्ष्यमें आस्था रखते हैं। संसार त्यागकर भिक्षावृत्ति धारण करनेका समर्थन करते हैं। पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं रखते। शरीरके नष्ट होनेपर सब कुछ उसके साथ ही नष्ट हो जाता है, सभी तत्त्व तत्त्वोंमें मिल जाते हैं। जीवका अन्तिम लक्ष्य पवित्रताकी प्राप्ति और स्थिर ध्यान करना ही है। पुनर्जन्म कोई वस्तु नहीं स्वर्ग। नरक कल्पनामात्र

१. 'दोहावली' दो० १९

२. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग १, पृ० २१६

हैं......। अलख-पन्थी मूलतः परमात्माके सगुण स्वरूपका सिद्धान्त अर्थात् भक्ति-मार्गका खण्डन करके चलता है और इसके विपरीत अद्वैत ज्ञानके द्वारा अचिन्त्यकी प्रतिष्ठा करता है। साक्षात् चिन्तनीयकी उपासना उसे अमान्य है[1]।

ऐसे अलख-पन्थकी गोस्वामीजीकी उपासना पद्धतिसे तुलना करनेपर यही कहा जा सकता है कि तुलसीकी उपासना पद्धति अलख-पन्थसे भी निराली है। उनका इष्टदेव 'सर्ब-सर्ब-गत-सर्ब-उरालय' होते हुए भी सारे संसारमें प्रत्यक्ष रूपसे भी दृष्टिगोचर होता है, पर 'अलख'को अलख-पन्थी ही जगाते हैं। तुलसीकी उपासना-पद्धति वेद-शास्त्रके प्रतिकूल कुछ भी ग्रहण करनेको तैयार नहीं, परन्तु अलख-पन्थके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, तभी तो वह विग्रह-पूजन, वर्णाश्रम-धर्म, आवागमन आदिके सिद्धान्तोंको भ्रम घोषित करता है। दोनोंमें भारी अन्तर यह भी है कि अलख-पन्थ ज्ञानाश्रयी है और तुलसीकी उपासना-पद्धतिका परम लक्ष्य है परमात्माकी सगुण-भक्ति।

गोस्वामीजी गोरख या नाथ-पन्थकी ओर भी उँगली उठाना नहीं भूले हैं, देखिये—

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते, सो कलि ही छरो सो है[2]'

विचारणीय है कि इस पन्थकी उपासनाका स्वरूप कैसा है। चौरासी सिद्धोंमें गोरखनाथकी भी गणना की जाती है। इससे मालूम पड़ता है कि उनकी उपासनाका मूल बौद्धोंकी वज्रयान शाखा थी, परन्तु गोरखनाथके सिद्धान्तोंमें वज्रयानियोंकी उपासनाके अश्लील एवं वीभत्स विधानोंका नितान्त अभाव देखकर यही मानना पड़ेगा कि गोरखनाथने अपनी उपासना-पद्धतिको वज्रयानी सिद्धोंकी पद्धतिसे बिलकुल पृथक् कर लिया और

1. 'इन्साक्लोपोडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग १, पृ० २१६
2. 'कवितावली' उ० छ० ८४

उन्होंने पतञ्जलिके उच्च लक्ष्य, ईश्वर-प्राप्तिको लेकर हठयोगका प्रवर्तन किया। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' तथा अन्यान्य नाथ-सम्प्रदायी ग्रन्थोंके आधारपर आचार्य रामचन्द्र शुक्लने नाथ-पन्थियोंकी उपासना-पद्धतिका जो स्वरूप दिखाया है उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—'गोरखनाथकी हठयोग-साधना ईश्वरवादको लेकर चली थी, अतः उसमें मुसलमानोंके लिए भी आकर्षण था। ईश्वरको मिलानेवाला योग हिन्दू और मुसलमान दोनोंके लिए एक सामान्य साधनाके रूपमें आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथको दिखाई पड़ी थी। उसमें मुसलमानोंको अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासनाकी आवश्यकता न थी......नाथ-सम्प्रदायके सिद्धान्तग्रन्थोंमें ईश्वरोपासनाके बाह्य विधानोंके प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी है, घटके भीतर ही ईश्वरको प्राप्त करनेपर जोर दिया गया है, वेद-शास्त्रका अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानोंके प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है। तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गये हैं...अन्तस्साधनाके वर्णनमें हृदय दर्पण कहा गया है जिसमें आत्माके स्वरूपका प्रतिविम्ब पड़ता है......परमात्माकी अनिर्वचनीयता सिद्ध की गयी है। 'नाद' और 'विन्दु' संज्ञाएँ वज्रयानी सिद्धोंमें बराबर चलती रहीं। गोरख-सिद्धान्तमें उनको ग्रहण किया है...।[1]' नाथ-पन्थमें वर्णाश्रम-व्यवस्था-पालनका कोई महत्त्व नहीं। 'नाथ-सम्प्रदाय जब फैला तब उसमें भी जनताकी नीची और अशिक्षित श्रेणियोंके बहुत-से लोग आये जो शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न न थे, जिनकी बुद्धिका विकास सामान्य कोटिका था, पर अपनेको रहस्यदर्शी प्रदर्शित करनेके लिए शास्त्रज्ञ पण्डितों और विद्वानोंको फटकारना वे जरूरी समझते थे[2]।'

तुलसी और नाथ-पन्थी दोनोंकी उपासना-पद्धतिका स्वरूप दृष्टिमें रखते हुए एक वाक्यमें हम केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि

१. 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' परिवर्धित और संशोधित संस्करण पृ० १८, १९
२. वही, पृ० २०

योगियोंकी रहस्यमयी पद्धतिसे गोस्वामीजीकी पद्धति प्रायः उसी प्रकार भिन्न है जैसे कि निर्गुण-पन्थसे।

विषयका विस्तार बढ़ गया, परन्तु 'श्रावक' और 'सेवड़ा'की उपासना-पद्धतिपर अभी कुछ नहीं कहा गया। अब इन्हींपर किञ्चित् प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत परिच्छेदकी समाप्ति की जायगी। किस प्रकार बाबाजी 'श्रावक'को श्वान घोषित कर रहे हैं, पहले यह देखिये—

'ईस सीस बिलसत बिमल, तुलसी तरल तरंग।
स्वान सरावगके कहे, लघुता लहे न गंग[1]॥'

कहना नहीं होगा कि उद्धरणका 'सरावग' संस्कृत श्रावकका ही तद्भव है। 'सरावग'पर श्वानरूप आरोप स्पष्ट रूपसे इंगित कर रहा है कि श्रावकोंकी उपासना-पद्धति अवश्य ही हेय थी, अन्यथा गोस्वामीजी जैसा विवेकी महात्मा उसके अनुयायियोंके लिए ऐसे निन्दात्मक विशेषणका प्रयोग कदापि न करता।

विचारणीय है कि ये 'सरावग' हैं कौन। कबीरकी रचनामें भी श्रावक घृणास्पद दृष्टिसे देखा गया है। देखिये—

'पड़ोसी सूँ रुषणा तिल सुखकी हाँणि।
पंडित भए सरावगी, पाँणी पीयें छाँणि[2]॥'

अवतरणमें 'पाणी पीयें छाँणि'की प्रक्रियासे ज्ञात होता है कि 'सरावग' या 'सरावगी' जैन सम्प्रदायवालोंका ही व्यञ्जक है, आज भी जैनोंमें छानकर पानी पीनेका रिवाज चलता है।

हिन्दी विश्वकोशकारने 'सरावग'का परिचय यों दिया है—'जैन, सरावगी, श्रावक धर्मावलम्बी, जैन धर्म माननेवाला, इस धर्मके अनुयायी आजकल वैश्य ही अधिक पाये जाते हैं[3]।'

---

१. 'दोहावली' दो० ३८३
२. 'कबीर-ग्रन्थावली' पृ० ३७
३. 'हिन्दी विश्वकोश' भाग २३ पृ० ६५६

मेजर डेलामणि[1] तथा डा॰ हैमिल्टन[2] ने 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल'के प्रथम भागमें श्रावक अथवा जैनपर निबन्ध लिखे हैं। विल्सन महोदयने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है—'सामान्यतया सभी जैन मतावलम्बियोंके सिद्धान्त एक-से हैं, परन्तु उनके 'यति' तथा 'श्रावक'के विभाजनके आधारपर दोनोंके कुछ कर्तव्योंमें थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। तीर्थांकरके सिद्धान्तों और उनके कर्मोंमें पूर्ण आस्थाकी स्थापना दोनों वर्गोंके लिए अनिवार्य है। पर प्रथम वर्गवालोंके लिए तप-सम्पादन, मौनावलम्बन एवं ब्रह्मचर्यका पालन विशेष रूपसे वांछनीय है और दूसरे वर्गवालोंको अपने नैतिक कर्तव्य तथा धार्मिक नियम-पालनके अतिरिक्त तीर्थांकरकी व्यावहारिक पूजा तथा प्रथम वर्गके अपने पवित्र भाइयोंके प्रति अत्यधिक सम्मानका अनुष्ठान करना चाहिये[3]।'

'श्रावक'के विषयमें पं॰ बलदेव उपाध्यायने और ही कुछ लिखा है। आपने प्रदर्शित किया है कि बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार त्रिविध 'यान' हैं तथा प्रत्येक 'यान'में जीवन्मुक्ति या 'बोधि'की कल्पना एक दूसरेसे नितान्त विलक्षण हैं—'श्रावक बोधि', 'प्रत्येक बुद्ध बोधि' तथा 'सम्यक् बोधि'। 'श्रावक बोधि'का आदर्श हीनयानको मान्य है। बुद्धके पास धर्म सीखनेवाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। जीवको परमुखापेक्षी होनेकी आवश्यकता नहीं है, यदि वह स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्गका यथावत् अनुसरण करे तो संसारकी राग-द्वेषमयी विषयवागुरासे मुक्ति पा सकता है। श्रावकके लिए चार अवस्थाओंका विधान किया गया है [4]।'

---

१. 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल' प्रथम भाग, पृ॰ ४१८
२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ॰ ५२१
३. 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजन्स आव हिन्दूज' पृ॰ ३१७
४. 'भारतीय दर्शन' पृ॰ १९४-९५

'श्रावक' चाहे जैनी हों चाहे बौद्ध, इतना स्थान नहीं कि हम स्वतन्त्र रूपसे इनपर विचार करें और न इतना अवकाश ही है कि हम इन दोनोंकी उपासना-पद्धतिका स्वरूप ही प्रस्तुत कर तुलसीकी उपासना-पद्धतिसे तुलना करें। प्रस्तुत प्रसंगमें इतना ही कहकर काम चलाया जाता है कि जैन और बौद्ध दोनों ही पद्धतियाँ निरीश्वरवादी हैं, दोनों ही वेद-शास्त्रको पाखण्ड घोषित करनेवाली हैं। इनकी दृष्टिमें तीर्थादिकोंका कोई महत्त्व नहीं, गगा एक नदीके अतिरिक्त और कुछ नहीं। ऐसी ही नास्तिकतासे ओत-प्रोत इनकी विचार-धारा देखकर, हो न हो, गोस्वामीजीने 'श्रावक'को 'श्वान' कहा हो।

'सेवरा' और 'सेवड़ा'की उपासना-पद्धतिपर गोस्वामीजीने जो छींटा मारा है वह देखिये--

'सुरा सेवरा आदरहिं निंदहि सुरसरि बारि[१]।'

कुछ ऐसी प्रतीति होती है कि 'सेवड़ा' किसी ऐसी अनाचारमूलक पद्धतिके उपासक थे जिसमें शास्त्र-सम्मत तीर्थादिकी भी निन्दा थी। यद्यपि सुराकी प्रतिष्ठा पूर्णतया शाक्तोंमें ही है, पर शाक्तोंका 'सेवड़ा' जैसा कोई भेद नहीं मिलता। तान्त्रिक बौद्धोंमें वाममार्गियोंकी भाँति मद्यादि गृहीत था, सम्भवतः उन्हींके कुछ विशेष उपासक 'सेवड़ा' कहलाते रहे हों। 'हिन्दी विश्वकोश'में 'सेवड़ा' जैन साधुओंका एक भेद बताया गया है[२]। 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-प्रयाग'से प्रकाशित 'भारतीय अनुशीलन'(सं० १९९०)के चतुर्थ खण्ड(अर्वाचीन काल)में एक लेख है—'हरि विजय सूरि और अकबर' इसी लेखमें एक जगह लेखक मुनिविद्याविजयने लिखा है—'यति' और 'सेवड़ा' शब्द मूल फारसी ग्रन्थोंमें लिखे गये हैं। ये शब्द बौद्ध साधुओंके लिए नहीं, परन्तु जैनी साधुओंके लिए ही है। आज भी मुसलमान लोग अक्सर जैन साधुओंको 'सेवड़ा' कहते

---

१. 'दोहावली' दो० ३२६

२. 'हिन्दी विश्वकोश' भाग २४, पृ० ४४९

हैं। पञ्जाबमें तो आमतौरसे 'सेवड़ा' नामसे पुकारे जाते हैं। जैन साधुओं-को प्राचीन समयमें 'श्रमण' कहते थे। सम्भव है, यही 'श्रमण' 'सेवड़ा'-के रूपमें आ गया हो[1]।

जो कुछ भी हो, 'सेवड़ा' जैन साधु ही हों, पर हमें तो केवल इतना ही कहना है कि इनकी उपासना-पद्धति विकृत थी, ये सुरा-सेवी थे, साथ ही तीर्थादिके निन्दक भी। तभी गोस्वामीजीने एक दृष्टान्तके ही बहाने उन्हें निन्दनीय ठहराया है।

---

१. 'भारतीय अनुशीलन' ४ पृ० १५, १६

सप्तम परिच्छेद

तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण

समीक्षकोंकी विभिन्न धारणाएँ

गोस्वामीजीके दार्शनिक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें अभीतक जो कुछ विचार-विमर्श हुआ है उसके परिशीलनसे अवगत होता है कि अधिकांश लोगोंने अपनी मान्यता और विचार-सरणिके अनुरोधसे ही उन्हें किसी न किसी विशेष दार्शनिक पद्धतिका समर्थक ठहराया है। ऐसे विचारशील तो एक ही दो व्यक्ति हैं जिन्होंने तटस्थ प्राड्विवाक्की भाँति पक्ष और प्रतिपक्ष दोनोंपर सन्तुलित दृष्टि डालते हुए सन्निविष्ट वस्तुतत्त्वके आधार पर अपना निष्पक्ष निर्णय दिया है। इन दोनों वर्गोंके निर्णायकोंके मतका संकेतमात्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा का जोरदार दावा देखिये—'दावेके साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैतके विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायणमें हैं ही नहीं[1]।' प्राच्य विद्यार्णव नगेन्द्र वसु कहते हैं—'रामायणमें कई जगह शंकराचार्यका मत ग्रहण किया गया है[2]।' भावुक भक्त जयरामदासजीको सारे रामायणमें विशिष्टाद्वैत ही देख पड़ा है[3]। प्रसिद्ध रामायणी पं० विजयानन्द त्रिपाठीको 'मानस'की अन्तरंग और बहिरंग परीक्षा करनेका यही फल मिला है कि

---

१. 'तुलसी-ग्रन्थावली' तृतीय खण्ड, पृ० १२७

२. 'हिन्दी विश्वकोश' भाग ९, पृ० ६८६

३. दे० 'कल्याण' वेदांक, पृ० ६०१ लेख: 'गोस्वामी श्री तुलसीदासजी और अद्वैतवाद'।

गोस्वामीजीका दार्शनिक विचार विशुद्ध अद्वैतवाद ही है[1]। बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालके अनुसार गोस्वामीजीका दर्शन अद्वैतसे मिलता है और उससे कई बातोंमें भेद भी रखता है, यथा, 'गोस्वामीजीके मायावाद और शंकराचार्यके मायावादमें भेद दिखाई देता है। शंकराचार्य मायाका अस्तित्व ही नहीं मानते, किन्तु तुलसी रामके बलपर उसका अस्तित्व मानते हैं[2]।' आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी सम्मति है—'परमार्थदृष्टिसे, शुद्ध ज्ञान दृष्टिसे, तो अद्वैत मत गोस्वामीजीको मान्य है, परन्तु भक्तिके व्यावहारिक सिद्धान्तके अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं[3]।' डा० बलदेवप्रसाद मिश्रको भी शुक्लजीका कथन अक्षरःश मान्य है[4]। पर पं० केशवप्रसाद मिश्रका मत कुछ और ही है, देखिये—'यों तो गोस्वामीजीकी समन्वयबुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तोंमें अविरोध देखती है, सभीको यथास्थान महत्त्व देती है और सभी पक्षोंका समर्थन करती है; पर उनके प्रस्थानके अनुरोध तथा ग्रन्थके उपक्रम और उपसंहारके विचारसे द्वैत सिद्धान्त और भक्तिपक्षमें ही उसका (दार्शनिक दृष्टिकोणका) पर्यवसान प्रतीत होता है[5]।'

उक्त सभी महानुभावोंके लेखोंसे पता चलता है कि इन लेखकोंने मानसकी कुछ उक्तियोंके ही आधारपर अपने विचार व्यक्त किये हैं। समस्त ग्रन्थोंके दार्शनिक प्रसंगोंकी छान-बीन नहीं की है। वस्तुतः जब हमें तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण निश्चित करना है तो उनकी सभी कृतियोंमें प्राप्त दार्शनिक विचारोंकी सर्वंकष गवेषणा करके ही कोई निष्पक्ष निष्कर्ष निकालना चाहिये।

---

१. दे० 'कल्याण' जुलाई १९३७ लेख 'गोस्वामी श्री तुलसीदासके दार्शनिक तत्त्व।'

२. दे० 'गोस्वामी तुलसीदास' अध्याय १३

३. दे० 'तुलसी-ग्रन्थावली' तृतीय खण्ड, पृ० १४५

४. दे० 'तुलसी-दर्शन' पृ०, २१३

५. 'कल्याण' मानसांक, खण्ड २, पृ० ९७७

गोस्वामीजी किसी सम्प्रदाय-विशेषसे बँधे साम्प्रदायिक प्रवक्ता नहीं थे जिन्होंने वेदान्तके किसी खास सम्प्रदायका प्रतिपादन या संस्थापन किया हो, तथापि ईश्वर और जीवके स्वरूप, उनके परस्पर सम्बन्ध तथा माया और ब्रह्म आदिके विषयमें उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं वे प्रशस्त, स्पष्ट, निश्चित, प्रमाणप्रतिपन्न और सर्वथा असन्दिग्ध हैं। बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि ऐसे-ऐसे गहन और दुरूह विषय जिनके निरूपणमें बड़े-बड़े धुरन्धर तार्किकोंके छक्के छूट गये और उनके ग्रन्थ अन्ततोगत्वा नीरस ही होकर पड़े रहे, तुलसीके दोहों, चौपाइयों या पदोंमें ऐसी सुन्दर, सरल, संक्षिप्त और सहज सूक्तियोंके रूपमें आ गये हैं कि कोई भी साधारण मनुष्य उन्हें समझ सकता और उनका सुगम उपयोग कर सकता है। 'विनयपत्रिका'के कितने ही रूपकादि अलंकारोंसे अलंकृत मनोहारी पदोंमें दर्शनके मूल सिद्धान्तोंको हृदयंगम करानेकी रीति तो और भी न्यारी है। रघुकुलमणिके स्वरूप और लीलामें इन सब तत्त्वोंके गुम्फित रहनेसे इन्हें कुछ ऐसी विलक्षण शोभा प्राप्त हुई है कि देखने-सुनने-वाले उनके वर्णनसे अनुप्राणित और आप्यायित होते, उनका भावोद्दीपन होता और वे पुलकायमान हो उठते हैं।

गोस्वामीजीके माया-सम्बन्धी विचार

सर्वप्रथम, देखिये, माया सदृश विलक्षण और दुर्बोध तत्त्वको तुलसीने किस प्रकार समझाया है। अपने अनन्य भक्त लक्ष्मणकी माया-विषयक जिज्ञासाकी परितुष्टिके लिए भगवान्‌ने उन्हें जो उपदेश दिया, वह इस प्रकार है—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके[1]॥'

---

१. 'मानस' अरण्य० १४. २–६

... ...

'तेहि ईसकी हौं सरन जाकी बिषम माया गुनमई[1]।'

अहंकार ही मायाका मूल है। 'मैं' और 'मेरा', 'तैं' और 'तेरा' यही इस गोचर जगत्में रहनेवाले सब जीवोंके अज्ञान और परस्पर पार्थक्यका कारण है। माया विद्या और अविद्याके भेदसे द्विविध है। विद्या अर्थात् मायाका सद्रूप, मूल प्रकृति, जो विश्वकी सृष्टि-स्थिति-संहार-कारिणी आदि शक्ति है वही सीता हैं—

'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्[2] ॥'

... ...

'स्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधानकी[3] ॥'

... ...

'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया[4]।'

इसी जगन्मूल आदि शक्ति सीताके ही अंशसे त्रिदेवोंकी अगणित शक्तियाँ भी प्रादुर्भूत होती हैं—

'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि बिलास जासु लय होई। राम बाम दिसि सीता सोई[5] ॥'

विद्या माया ही भगवान्की इच्छासे भगवान्के चरणारविन्दमें अनुरक्त भक्तपर अपनी शीतल छाया प्रदान करती है और भक्तमें उत्तरोत्तर सेवक-सेव्यभावकी अनन्यता बढ़ती जाती है। देखिये—

'हरि सेवकहिं न ब्यापि अविद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या।
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर[6] ॥'

१. 'विनय०' पद १३६ [४]
२. 'मानस' बा० मंगलाचरण श्लोक, ५ ३. 'मानस' अयो० १२५.
४. 'मानस' सुन्दर० २०. ४
५. 'मानस' बा० १४७. ३, ४ ६. 'मानस' उ० ७८. २, ३

गोस्वामीजी स्वयं जब भगवान्‌के समीप पहुँचना चाहते हैं तो भगवान्‌के पास ले जानेवाली साक्षात् सीता-स्वरूपा माया विद्यासे कैसी सहायताकी आकांक्षा करते हैं, यह देखिये—

'कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ॥
दीन सब अंगहीन खीन मलीन अघी अघाइ।
नामु लै भरै उदरु एक प्रभु दासि दासु कहाइ॥
बूझि हैं 'सो है कौन' कहिबो नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरियो बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जनकी किये बचन-सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ[1]॥'

अब अविद्या शक्तिके प्रचण्ड कटकको भी समझ लीजिये—

'व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड[2]।'

अविद्याके इन विकट शूरोंके शरोंसे कौन बच सका है। चतुर्दिक् इन्हींका तो बोलबाला है। ये मनुष्यको अधःपतनके गर्तमें झट झोंकते हैं। इस विषोपम माया-तत्वका आसुरी प्रभाव इतना व्यापक और इतना अन्तर्भेदक है कि नारद और सनकादि ऋषि तथा शिव-ब्रह्मादि महान् देव भी विमोहित होकर इसके विकट चंगुलमें आ जाते हैं—

'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमवादी॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा[3]॥'
'स्त्री मद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर को अस लाग न जाहि[4]॥'

१. 'विनय०' पद ४१
२. 'मानस' उ० ७१
३. 'मानस' उ० ६९. ६—८
४. 'मानस' उ० ७०

'गुन कृत सन्निपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥

... ...

'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा[1]॥'

यही माया नाना प्रकारके छल-छद्म और मोहादिके रूपमें सामने आकर सबको अन्धा बनाये रखती है; यही नाना प्रकारके नशेमें चूर रखती है, लोभ और लोलुपतासे उन्मत्त बनाती है, क्रोधकी आग सुलगाकर आध्यात्मिक शान्तिको जला डालती है; लक्ष्मीके लालोंको ऐश्वर्य-मदसे वंक कर देती है; इसके प्रभावसे अधिकारियोंके कान बहरे हो जाते हैं। यही हमें यौवन-सुलभ उत्तेजना-ज्वरसे पीड़ित करती है। यही मिथ्या अभिमानसे हमारा सिर फेर देती है। यही ईर्ष्या और द्वेषको उभारकर हमारी आत्मोन्नतिमें बाधा डालती है। दुःख और उद्वेगकी लहरोंसे यही हमें विचलित कर देती है। नाना प्रकारकी चिन्ताओं और त्रिविध एषणाओंके प्रपञ्च-विस्तारसे विलासिताके वातावरण सृजन कर अनिष्ट-कीटाणुके रूपमें यही हमारा क्षय-साधन करती रहती है।

अविद्या मायाके वशवर्ती प्राणीके कृत्योंका सारांश समझना हो तो 'विनयपत्रिका' की यह एक पंक्ति स्मरणीय है—

'परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो[2]।'

गोस्वामीजीने अनेकानेक प्रसंगोंमें देवों, मनुष्यों अथवा राक्षसोंके आभिचारिक कृत्यों अथवा अतिचारों या छल-छद्मोंको भी माया ही संज्ञासे सम्बोधित किया है, यथा निम्नांकित अवतरणोंमें देखिये—

'सहो न जाइ कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी॥
सो माया रघुबीरहिं बाँची। लछिमनु कपिन्ह सो मानी साँची॥
देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसल धनी[3]॥'

... ...

---

१. वही. उ० ७०. १, ७ **२. 'विनय०' पद १२६ [७]**
३. 'मानस' लं० ८८. ६—८

'लोग सोग स्रम बस गये सोई। कछुक देव माया मति मोई॥'

...　　　　...　　　　'मानस' अयो० ८४. ६

'प्रथम कुमति करि कपटु सँकेला। सो उचाट सबके सिर मेला॥
सुर-माया सब लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥'

...　　　　...　　　　'मानस' अयो० ३००. ३, ४

'माया मय तेहि कीन्ह रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई॥
बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा।
तेहि महँ बिप्रमासु खल साँधा॥'

...　　　　...　　　　'मानस' बा० १७२. २, ३

इस प्रकारकी धोखेकी टट्टी खड़ी करनेके निमित्त ऐन्द्रजालिकोंके व्यापार कुकर्मोंकी सिद्धिके लिये ही किये जाते हैं, फलतः इन्हें भी अविद्या मायाका अंग समझना चाहिये।

अविद्या मायाके घोर पाशमें जकड़े हुए लोगोंकी तो बात ही छोड़िये, इसके प्रपञ्चमें लेशमात्र भी पड़े हुए प्राणी जगत्को पूर्णतया भगवद्रूपमें नहीं देख सकते। वस्तुतः जगत् और भगवान्में अभेद-दृष्टि रखनेवाले ही अविद्या मायाके द्वारा उत्पन्न होनेवाले समस्त भ्रमोंसे उन्मुक्त होकर भगवान्के निर्गुण और गुणाकार स्वरूपमें भी कोई अन्तर नहीं देखते। उक्त सिद्धान्तकी पुष्टि इस दोहेसे होती है—

'माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहिं।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहिं॥'

'मानस' उ० ८५

माया माया ही है, चाहे वह अविद्या माया हो, चाहे विद्या माया। दोनों ही हमें परमात्माके सामीप्यमें ले जाकर हमारे मनको परम विश्राम नहीं दे सकतीं। महामलिन अविद्या माया तो सीधे ही पतन-कुण्डमें झोंकती है और विद्या माया भगवच्छक्ति स्वरूप होने-से भगवान्से अभिन्न भी होकर (गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न) वह स्वयं

जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारमें दत्तचित्त है; फिर हमें भवसागरमें निमग्नोन्मग्न होते देख हमारा परित्राण क्यों करेगी। हमें सच्चे सुख और शान्तिका अनुभव क्यों करने देगी। वस्तुतः भगवान्‌के परम सामीप्य की उपलब्धि तो एकमात्र अनन्य भक्तिसे ही होती है। यही गोस्वामीजी-का दृढ़ विश्वास है। इसीसे उन्होंने माया और भक्तिका यह पक्षपातरहित तारतम्य भी कर दिया है—

'इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाखउँ॥'

... ...

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानहिं सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया[1]॥'

'इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ'का मर्म यही है कि गोस्वामीजीने मूल प्रकृति-स्वरूप विद्या मायाको ही नाना ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण ठहराकर भगवती सीतासे इसका तादात्म्य अवश्य कर दिया है; पर, यहाँ भक्तिके सामने उसकी लघुता स्वीकार करनेमें वे तनिक भी नहीं हिचकते।

गोस्वामीजीके परमात्मा-सम्बन्धी विचार

मायाके उपरान्त मायाधिपति परमात्मा या ईश्वर-तत्त्व विचारणीय है। गोस्वामीजीके मतमें समस्त कारणोंसे परे ईशकी ही राम आख्या है[2]। राम ही एक, अनीह, अनाम, अज, सच्चिदानन्द परधाम विश्व-रूप भगवान् हैं[3]। 'व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी[4]' हैं। वेद जिस ब्रह्मका नेति-नेति कहकर वर्णन करता है, जो विरज, अकल

१. 'मानस' उ० ११५. १—५
२. 'मानस' बा० मंगलाचरण श्लोक ६
३. वही, बा० १२. ३, ४ ४. वही, बा० २२. ६

और अभेद है वही राम हैं[१] । रघुकुलमणि श्रीराम सहज प्रकाश सच्चिदानन्द प्रसिद्ध पुरुष प्रकट परावरनाथ परेशपुराण व्यापक ब्रह्म हैं[२] । जो सबका प्रकाशक अनादि मायाधीश है उसमें और अवधपति राममें उसी प्रकार कोई भेद नहीं जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपलमें कोई भेद नहीं[३] । अपनी ऐसी ही अभेद-दृष्टिके कारण स्वयं बाबाजी रामके जैसे स्वरूपका स्मरण करते हैं उसे देखिये—

'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूपं ।'

अम्भोदनादघ्न-बन्धु, प्रनतपालक, परम करुणाधाम राम और ब्रह्म राममें अभेद-दृष्टि रखते हुए गोस्वामीजी किस प्रकार भगवान्से शरण-याचना करते हैं, इसे दो-चार पंक्तियोंमें और देखिये—

'अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज
अमित अविकार आनंद सिंधो !
अचल अनिकेत अविरल अनामय अनारंभ अंभोदनादघ्न-बंधो !
दास तुलसी खेदखिन्न, आपन्न,
इह सोक सम्पन्न अतिसय सभीतं ।
प्रनतपालक राम परम करुनाधाम
पाहि मामुर्वीपति दुर्विनीतं[४] ।'

माया, जीव, प्रकृति, गुण, काल, कर्म, महत्तत्वादि सभीका अधिष्ठाता ईश्वर है—

'माया, जीव, सुभाव, गुन, काल करम महदादि ।
ईस-अंक तें बढ़त सब, ईस अंक बिनु बादि[५] ।'

... ...

१. वही, बा० ५०
२. वही, बा० ११५. ५ ६
३. वही, बा० ११५. ३
४. 'विनय०' पद ५६
५. 'दोहावली' दो० २००

'माया जीव काल के, करम के, सुभाय के,
करैया राम बेद कहैं, साँची मन गुनिए[1] ।'

'विनयपत्रिका' में भी कहा गया है—

'प्रकृति, महतत्व, सब्दादि, गुन, देवता, ब्योम, मरुदग्नि अमलांबु, उर्वी ।
बुद्धि मन इंद्रिय प्रान चित्तातमा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी ।
सर्वमेवात्र-त्वद्रूप भूपालमनि ब्यक्तमब्यक्त गतभेद, बिष्णो ।
भुव भवदंस कामारि-बंदित पदद्वंद-मंदाकिनी-जनक-जिष्णो[2] ।'

'मानस' भी संकेत करता है—

'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास चर अचर मय रूप राम भगवान[3] ।'

सारे जगतको नचानेवाली माया जिस सच्चिदानन्दघन, बलधामके भ्रूविलासके संकेतपर अपना प्रचण्ड व्यापार रचती है वही राम हैं, अखिल, अमोघ शक्तिसम्पन्न, व्यापक, व्याप्य, अखण्ड, अनन्त भगवान् राम हैं, सबके हृदयस्थ, प्रकृतिपार, अविनाशी, निरीह, विरज, अगुन, अदभ्र, गिरागोतीत, सर्वज्ञ, अनवद्य, अजित, निर्मम, निराकार, निर्मोह, नित्य, निरञ्जन, सुख-सन्दोह ब्रह्म राम हैं[4] ।

श्रीरघुनाथके नाम, रूप, गुण और महिमा सभी अमित और अनन्त हैं । यह दूसरी बात है कि मुनिगण अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भगवान्का गुणानुवाद करते रहते हैं, पर यथार्थतः 'निगम सेष सिव पार न पावहिं ।' तात्पर्य यह कि रामकी महिमा अपरम्पार है, उसका पार कोई नहीं पा सकता । निरवधि निरुपम प्रभु जगदीश रामकी महिमाका किञ्चित संकेत भक्त-शिरोमणि काकके मुखारविन्दसे गोस्वामीजीने यों कराया है—

१. 'बाहुक' छन्द ४४ २. 'विनय०' पद ५४
३. 'मानस' लं० १५०
४. 'मानस' उ० ७१. १—७ ।

'राम काम-सत-कोटि सुभग तन।
दुर्गा-कोटि-अमित अरिमर्दन ॥
सक्र-कोटि-सत-सरिस बिलासा।
नभ सत कोटि अमित अवकासा ॥

मरुत-कोटि-सत बिपुल बल रबि-सत-कोटि प्रकास।
ससि-सत-कोटि सुसीतल समन सकल-भव-त्रास ॥
काल-कोटि-सत-सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूम-कोटि-सत-कोटि-सम दुराधरष भगवंत ॥

प्रभु अगाध सत-कोटि-पताला। समन-कोटि-सत-सरिस कराला॥
तीरथ-अमित-कोटि-सत पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन ॥
हिमगिरि-कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु-कोटि-सत-सम गंभीरा ॥
कामधेनु-सत-कोटि-समाना। सकल-काम-दायक भगवाना ॥
सारद-कोटि-अमित चतुराई। बिधि-सत-कोटि-सृष्टि निपुनाई ॥
बिष्नु-कोटि-सम पालन करता। रुद्र-कोटि-सत-सम संहरता ॥
धनद कोटि-सत-सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना ॥
भार धरन सत-कोटि-अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै ॥
एहि भाँति निज-निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं।
प्रभु भावगाहक अतिकृपालु सप्रेम सुनि सुख मानहीं ॥'

'मानस' पृ० ४८४

पिछले परिच्छेदमें रघुवंशमणि रामका ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व, विष्णुत्व तथा नाना अवतार आदि यथेष्ट विस्तारपूर्वक दिखाया जा चुका है। एतदर्थ उपर्युक्त ईश्वर-सम्बन्धी संक्षिप्त विचार ही प्रस्तुत प्रसंगके लिए पर्याप्त है। इसके आधारपर यही कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी सगुण भगवान् राम और निर्गुण ब्रह्म राम दोनोंको पूर्णतया अभेद-दृष्टिसे देखते हैं। उनके मतमें अवतीर्ण राम और ब्रह्मराम दोनों एक हैं। इन

दोनोंकी एकता केवल व्यावहारिक कामचलाऊ नहीं, पारमार्थिक सच्ची है। इनमें भेदबुद्धि रखनेवालों या ऐसा कहने - सुननेवालोंको वे कितना बड़ा पतित समझते हैं, इसका अनुमान अधोलिखित पंक्तियोंसे कीजिये—

'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥

अग्य अकोबिद मंद अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्हहिं न सूझ लाभ नहिं हानी॥
... ...

जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्हकर कहा करिय नहिं काना[1]॥'

गोस्वामीजीने 'मानस'में कई ऐसे प्रत्यक्ष दृष्टान्त भी उपस्थित किये हैं जिनसे अवगत होता है कि रामके मनुजत्वको देख अनेक देवादि भी विमोहित हुए हैं। स्वयं सती मोह-ग्रस्त हो उठीं कि ब्रह्म मनुज कैसे हो सकता है; मूढ़ जयन्तने भ्रममें पड़कर रामका बल देखना चाहा; महाज्ञानी गरुड़ भी रामको नागपाशसे मुक्त करके भ्रममें पड़ गया कि परब्रह्म बन्धनमें क्योंकर आ सकता; भक्त भुशुण्डिपर भी रामकी प्राकृत शिशु-लीलाने विचित्र मोह डाला। ये दृष्टान्त भी गोस्वामीजीके इस अभिमत लक्ष्यका प्रतिपादन करते हैं कि अवतीर्ण राम और परब्रह्म राममें कोई भेद नहीं। यदि किसीको मोहवश भेद दिखाई ही पड़े तो ऐसा व्यक्ति जगत्में अविराम रूपसे न जाने कौन-कौन-सा नाच नाचेगा। उसके मनको कदापि विश्राम नहीं मिलेगा। वास्तविक विश्राम तो तभी सम्भव है जब वह भगवान्के इस उपदेशामृतकी अनुभूति करेगा—

'जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि।'

अस्तु, भगवान् और भगवान्के अवतारोंमें भेददृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

---

१. मानस बा० ११४.१–८

गोस्वामीजीके जीव-सम्बन्धी विचार

अब जीव-विषयक विचारोंकी ओर दृष्टिपात कीजिये। बिलपती हुई ताराको श्रीरामके द्वारा उपदेश दिलाकर यह तथ्य व्यक्त किया गया है कि जीव देहेन्द्रिय-मन-प्राण-बुद्धिसे विलक्षण, चैतन्य और नित्य है—

'छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा[1]॥'

नीचे 'विनयपत्रिका'के कुछ पदोंकी दो-चार ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जो जीवके विशुद्ध स्वरूपका द्योतन कर रही हैं—

'निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ।
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परि हर्‌यो।
निःकाज राज विहाय नृप इव स्वप्न कारागृह पर्‌यो[2]।'
... ...
'निर्मम निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई[3]।'
... ...
'चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहंकार।
बिमल विचार परमपद निज सुख सहज उदार[4]।'

जीवके निर्विकार विशुद्ध स्वरूपमें गड़बड़ी क्योंकर पहुँच जाती है, गोस्वामीजी इसका समाधान एक अलंकृत वाक्यमें यों करते हैं—

'भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी[5]।'

निस्सन्देह जीव अपनी विशुद्ध अवस्थामें ज्ञानी और निर्विकार सुखस्वरूप है अवश्य, पर इसके ज्ञानादि सत्प्रतिपक्ष हैं, स्वतन्त्र और निर्विकार नहीं—

१. 'मानस' किष्कि० १०.४,५ २. 'विनय०' पद १३६ [२]
३. 'विनय०' पद १३६ [११] ४. वही, ,, २०३
५. 'मानस' किष्कि० १३.६

'हरष बिषाद ग्यान अग्याना।
जीव धरम अहमिति अभिमाना[1] ॥'

जीवकी अणुरूपता और अनेकता भी गोस्वामीजीको सर्वथा मान्य है[2]। उन्हें जीवके तीन मुख्य भेद ग्राह्य हैं—

'विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने[3] ॥'

ये त्रिविध भेद जीवोंके—बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त जीवोंके ही रूपान्तर हैं। 'मानस' और 'विनयपत्रिका' दोनोंमें इन तीनों श्रेणियोंके जीवोंके प्रकृत स्वरूपके संकेत बराबर मिलते हैं। 'मानस'में तो इन तीनों प्रकारके दृष्टान्त भी हैं।

जीव अपने कर्मानुसार सुख-दुःखका भागी होता है—'जीव करम बस सुख-दुख-भागी[4]' जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है—'जो जस करइ सो तस फल[5] चाखा', 'निज कृत कर्म भोग सब [6]भ्राता', 'निज कृत कर्म-जनित फल[7] पायउँ'। ऐसा होते हुए भी जीवका नियमन किसी औरके हाथ है। देखिये—

'काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे[8]।'

... ...

'उमा दारुजोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं[9] ॥'

... ...

'अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। वेद सिद्ध निगमागम गाई ॥

---

१. 'मानस' बा० ११५.७

२. दे० 'मानस' : अरण्य० 'जीव चराचर जन्तु समाना'।
: उ० 'जीव अनेक एक स्रीकंता'।

३. वही, अयो० २७५. ३

४. वही, अयो० ११. ४

५. वही, अयो० २१७. ४

६. वही, अयो० ९१. ४

७. वही, अरण्य० १. १३

८. 'विनय' पद ११२

९. वही, किष्कि० १०.७

करि बिचार देखेउँ जिय नीके। राम रजाइ सीस सबहीके[1] ॥'

... ...

'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ[2]।'

... ...

'नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत[3] ॥'

'तात जाय जिय करहु गलानी।
ईस अधीन जीव गति जानी[4] ॥'

'दोहावली'के एक दोहेमें भी देखिये कि 'जीवके नाह'ने जीवकी कैसी विचित्र दशा बनायी है जो समझमें नहीं आती—

'केहि मग प्रबिसत जात कहँ, ज्यों दरपनमें छाँह।
तुलसी त्यों जग जीवगति करी जीवके नाह[5] ॥'

जीव और ईश्वरके पारस्परिक सम्बन्धपर दृष्टि रखते हुए जीवकी कुछ अन्य विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं। जीव परतन्त्र है, ईश्वर स्वतन्त्र है। जहाँ विषम माया ईश्वरके अधीन रहती है वहाँ जीव मायाके हाथोंकी कठपुतली बना रहता है। देखिये—

'ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर ॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी ॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता[6] ॥'

... ...

'हौं जड़ जीव, ईस रघुराया।
तुम मायापति हौं बस माया[7] ॥'

... ...

---

१. 'मानस' अयो० २५२. ७, ८
२. वही, बा० १२४
३. वही, किष्किं० ६. २४
४. 'मानस' अयो० २६१.५
५. 'दोहावली' दो० २४४
६. 'मानस' उ० ७७.४–६
७. 'विनय०' पद १७७

'पराधीन देव, दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं।
बोलनिहारे सों करै, बलि, बिनय कि झाईं[1] ॥'

जीव और ईश्वरका बहुत ही सन्निकृष्ट सम्बन्ध है। जीव ईश्वरका साथी है—

'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती[2]।'
... ...
'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू[3]।'

जीव ईश्वरका सखा ही नहीं सेवक भी है। इसीलिए गोस्वामीजीने सेवक-सेव्यभाव-प्रतिष्ठापर बराबर बड़ा जोर दिया है। उनकी सभी कृतियोंमें इसी भावकी गूँज है—

'मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'

साक्षात् रामके श्रीमुख द्वारा गोस्वामीजीने जीव और ईश्वरका भेद यों स्पष्ट कराया है—

'माया ईस न आपु कहँ जानि कहिय सो जीव।
बंध मोक्षप्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव[4] ॥'

अवतरणसे प्रकट है कि जीव मायाधीश नहीं है, पर ईश्वर मायाधीश है, ईश बंध-मोक्ष-दाता है, सबसे परे है, सबकी मर्यादा है, पर जीवमें यह सामर्थ्य नहीं है।

मायासे प्रेरित अविनाशी जीव तो काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंके चक्करमें पड़कर चौरासी लक्ष योनियोंमें निरन्तर भ्रमता रहता है—

'आकर चारि लक्ष चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा[5] ॥'

---

१. 'विनय०' पद १४९
२. 'मानस' बा० १९.४
३. 'मानस' बा० २१६.४
४. मानस' अरण्य० १५
५. 'मानस' उ० ४३. ५

मैं समझता हूँ कि गोस्वामीजीके मतानुसार अपनेको ब्रह्म घोषित करनेवाला व्यक्ति घोर अपराधी है, जब कि ईश्वरकी समतामात्र करनेवाले ज्ञानाभिमानीको जड़ और कल्पपर्यन्त नरकगामी होना बतलाया गया है—

'जौं अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान[1]॥'

गोस्वामीजीके जगत्-सम्बन्धी विचार

देखना चाहिये कि जगत्के प्रति गोस्वामीजीके क्या विचार हैं। उन्होंने 'मानस'के उत्तरकाण्डमें प्रकृष्ट वेद-स्तुतिकी जो उद्भावना की है उस प्रसंगके एक विशिष्ट छन्दसे उनके जगद्विषयक विचारका स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार लक्षित होता है—

'अव्यक्त-मूल-मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक परन सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमामहे॥'

छन्दकी अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है कि वेद संसार-विटपीको सतत फलने-फूलनेवाला नित्य नूतन घोषित करता है। वेदोंके द्वारा की गयी इस स्तुतिमें स्पष्ट वर्णित जगद्विषयक वेदोंका जो मर्म प्रदर्शित किया गया है उसपर किसकी अनास्था होगी?

जगत्को झूठा और अनित्य माननेवाले ज्ञानाभिमानियोंके प्रति तुलसीका क्या विचार है, यह देखिए—

'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है॥
जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके विचार गँवार महा है।

1. वही, बा० ६९

....'

'कविता०' उ० छ० ३९

पुनः 'जौं जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होत कहहु केहि लेखें[1] ।'

'विनयपत्रिका'के 'केसव कहि न जाइ का कहिये'से प्रारम्भ होनेवाले पद[१११]में भी इस विलक्षण संसार-सम्बन्धी सत्यका द्योतन बड़ी मार्मिकतासे किया गया है । उक्त पदकी अन्तिम दो पंक्तियोंमें गोस्वामीजीने अपना जो अभीष्ट व्यक्त किया है, उसे देखिये—

'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरइ तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै ॥'

परिणामवादी सांख्य-मतानुयायी कुछ मनीषियोंका यह विचार है कि गोचर जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है । विवर्तवादी अद्वैत-सिद्धान्ती इसे मिथ्या ठहराते हैं । आरम्भवादी नैयायिक महानुभावोंकी दृष्टिमें यह सत्यासत्य दोनों है । गोस्वामीजी इन तीनों वादोंको अंशतः भ्रमपूर्ण समझते हुए अपनी सच्ची अनुभूति प्रकट करते हैं कि जो व्यक्ति इन शुष्क वादोंसे ऊपर उठ जाते हैं वस्तुतः वे ही इसके वास्तविक स्वरूपकी अनुभूति करते हैं ।

गोस्वामीजी उन दार्शनिकोंमेंसे नहीं हैं जिन्होंने इस जगत्को मिथ्या कहकर इस जीवनको बन्धन, क्लेश अथवा अनिष्टका भाजन बताकर निन्द्य घोषित किया है ; प्रत्युत उनका विचार है कि यह जीवन क्लेश और अनिष्टरूप उन्हीं लोगोंके लिए है जिन्होंने न परमात्माको स्वतन्त्र और जगत्को उनका आश्रित जाना और न इस सत्यके अनुकूल अपने जीवनको ही ढाला । वस्तुतः जो यह तथ्य जानता है और जानकर उसके अनुसार अपना जीवन भी बना लेता है उसे सारे जगत्के भीतर परमात्माकी दिव्य ज्योति दिखाई पड़ती है, यहाँतक कि वह तुच्छातितुच्छ वस्तुओंमें भी परमात्माकी विभूतिका अनुभव करता और आन-

1. 'विनय०' पद १२१

न्दित होता है। उसे ऐसी अनुभूतिसे सारा जगत् ईश्वरमय दिखाई पड़ने लगता है, क्लेश और अनिष्टमय नहीं। जगत्के इसी रूपको देखकर गोस्वामीजी उसे नमन करते हैं—

'सियाराम मय सब जगु जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।।'

रामके अनन्य भक्त शंकरके मुखारविन्दसे भी इस तथ्यका समर्थन यों कराया गया है—

'उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध[1] ।।'

जो मनुष्य जगत्को भगवद्रूप देखता है उसका यह स्वभाव हो जाता है कि वह हृदयके उच्चातिउच्च भावोंसे उल्लसित होकर अपनेको उस विराट्की सेवामें सतत निमग्न रखकर जगत्की सत्यता और सुखका प्रत्यक्ष अनुभव करता है; इसके विपरीत जो व्यक्ति भ्रमाधिक्यके वशीभूत होकर जगत्के वास्तविक स्वरूपको नहीं समझ पाता उसके लिए यह रमणीय संसार परिणाममें भयावह ही सिद्ध होता है। इस तथ्यकी पुष्टि. गोस्वामीजीकी स्वानुभूतिकी इन दो उक्तियोंमें किस प्रकार हुई है यह देखिये—

'अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिवेकमें ब्यवहारी सुखकारी[2] ।।'

अन्तमें, इस तथ्यको पुनः दुहरा देना चाहते हैं, कि गोस्वामीजीको जगत् रामरूपमें ही वन्दनीय और यथार्थमान्य है न कि 'मैं'-'मोर'वाले रूपमें। 'मैं'और 'मोर'वाले रूपमें लीन जीव स्वप्नमें भी विश्रामलाभ नहीं कर सकता—'तुलसिदास, 'मैं' 'मोर' गये बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै[3] ।' इस मायिक रूपको तो उन्होंने भयंकर और गर्ह्य ही माना है जैसा कि

---

१. मानस उ० ११२
२. विनय० पद १२१
३. विनय० पद १२०.

'विनयपत्रिका' के अनेकानेक पदोंसे प्रकट होता है। उदाहरणके लिए अधिक नहीं, एक ही पद उद्धृत कर दिया जाता है—

'जागु जागु जागु जीव जोहै जग-जामिनी।
देह गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी।
सूते सपने ही सहै संसृत-संताप रे।
बूड़ो मृगबारि, खायो जेंवरी को साँप रे!
कहैं बेद बुध तू तो बूझि मन माहिं रे!
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे!
तुलसी जागे तें जाय ताप तिहु ताइ, रे!
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाइ, रे[1]!'

वस्तुतः जगत्को रामके अतिरिक्त नाना रूपोंमें देखना तो भ्रम है। ऐसे ही भ्रममें पड़े हुए प्राणी जगत्का यथार्थ मर्म नहीं समझ पाते, वे ही निरन्तर भवव्यालग्रसित होते हैं, उन्हें ही राम और जगत्में भेद दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जो चराचरको जगन्निवासमय ही मानते हैं वे उसे रामसे पृथक् कैसे देख सकते हैं—'यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया[2]।'

गोस्वामीजीके साधन-मार्ग-सम्बन्धी विचार

गोस्वामीजीने जिस प्रशस्त साधन-मार्गका निरूपण किया है वह व्यापक और विश्वजनीन है। इसके अन्तर्गत सद्गुणों और आचार-विचारोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। इसमें वर्णाश्रम धर्मावलम्बन, वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह, विलासिताका त्याग, आशा और भयका निराकरण, भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण, सत्, हित और प्रियवचनोंका प्रयोग, स्वाध्यायाभ्यसन, दान, विपन्न-रक्षण, शरणागत-परित्राण, सर्वभूतानुकम्पा, हरि, गुरु तथा शास्त्रमें सतत श्रद्धा—सभी भगत्प्रेम-प्राप्तिके लिए नितान्त आवश्यक ठहराये गये हैं। इस प्रशस्त मार्गमें समस्त वैधी भक्ति तथा

१. 'विनय' पद ७३ २. 'विनय' पद ६७ [५]

श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंसे पोषित ज्ञानादि भी समादृत हुए हैं। समाधिस्थ योगियोंकी अखण्ड साधनासे प्राप्त होनेवाले परम तत्त्वकी भी अपूर्व प्रतिष्ठा की गयी है। इनके अतिरिक्त भगवदनुग्रह तो इस मार्गका सर्वस्व बताया गया है। इसीसे इस बातपर बराबर जोर दिया गया है कि जबतक भगवान् श्रीरामकी कृपा नहीं होती तबतक केवल विविध साधनोंसे ही उनकी विशुद्ध अविरल प्रेम-भक्ति नहीं प्राप्त होती। गोस्वामीजीके मतानुसार भगवान्का अनन्य प्रेमाधिकारी भक्त भगवान्की अनपायिनी प्रेम-भक्तिको प्राप्त करके भी अपनी दास्यभावनाको निरन्तर बनाये रखता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने प्रेमकी पराकाष्ठापर पहुँच जानेपर ऐसा अनन्य भक्त चराचरको भगवद्रूप देखने लगता है, पर अपनेको वह सेवक-रूपमें ही रखता है। देखिये, श्रीमुखके द्वारा इसी तथ्यका समर्थन यों कराया गया है—

'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत[1]॥'

और भी देखिये, निम्नांकित अवतरणोंमें उपासक और उपास्य दोनोंकी पृथक् सत्ताद्योतक सेवक-सेव्यभावका सिद्धान्त कितनी दृढ़तासे कहा गया है—

'बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल[2]॥'

... ...

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि[3]॥'

इसी प्रकार उन्होंने और भी कितने ही सिद्धान्त-वाक्योंमें स्पष्टतया सेवक-सेव्य-भावको सर्वोपरि ठहराया है। प्रकृष्ट दृष्टान्तोंके द्वारा भी अपने

---

१. 'मानस' किष्कि० ३ २. 'मानस' उ० १२२

३. वही, उ० ११९

इसी अभिमत सिद्धान्तकी पुष्टि की है। गोस्वामीजी भेदभक्ति-सम्पन्न अनन्य भक्तोंके अद्वितीय दृष्टान्तस्वरूप स्वयं हैं। उनकी समस्त कृतियोंके अक्षर-प्रत्यक्षर छानकर देखिये कि उन्होंने कहीं भी अपनेको राम या ब्रह्म-स्वरूप घोषित किया है? कदापि नहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने जितने भी अनन्य भक्त पात्रोंका शील चित्रित किया है उनमेंसे ऐसा कोई नहीं मिलेगा जो 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे'-की उच्चतम भावनासे शून्य हो। महाराज दशरथ सामान्य कोटिके भक्त नहीं थे। मुक्ति तो उनके चरणोंपर लोटकर स्वतः कृतकृत्य हो जाती, पर उन्होंने मुक्तिको ठुकराकर 'भेद भगति'को अपनाया। देखिये—

'ताते उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेद भगति मन लावा॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं[1]॥'

तपःपुञ्ज परम भगवद्भक्त शरभंग ऋषि जिन्होंने योगाग्निमें अपने नश्वर शरीरको डाल दिया और जो साक्षात् ब्रह्मपदमें लीन होनेके अधिकारी थे—भगवान्‌ने उन्हें कैसी गति दी उसे भी देखिये—

'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा॥
ताते मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ[2]॥'

एक-दो ब्रह्मज्ञानी भक्तोंके प्रकाशमें भी गोस्वामीजीके साधन-मार्गको समझ लेना समीचीन होगा। ब्रह्मानन्दमें निरन्तर लीन रहनेवाले महाराज जनक सदृश ब्रह्मज्ञानीके मनके रामकी अलौकिक रूप मधुरिमापर मुग्ध हो जानेपर उनके मुखसे निम्नांकित उक्ति—

'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा[3]॥'

कहलाकर गोस्वामीजीने अपने साधन-मार्गमें भक्तिकी ही सर्वश्रेष्ठता दिखायी है। इसके द्वारा व्यञ्जित किया है कि ज्ञानीको भी भगवत्प्रेमोन्मुख होनेमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह ब्रह्मानन्दसे बढ़कर है। फलतः ज्ञानी

---

१. 'मानस'लं० ११११. ६, ७ २. 'मानस'अरण्य० ८. १, २
३. वही, बा० २१५. ५

भी भक्ति-निरत होकर ही आश्वस्त हो सकता है। गोस्वामीजीने बाल्मीकि मुनिको भी 'ज्ञानी मुनि' कहा है—'साधु साधु बोले मुनि ग्यानी'[१], पर, इस 'ज्ञानी मुनि'से भी भक्तिका ही पूर्ण समर्थन कराया है। तभी तो मुनिने ज्ञानियोंकी परमानुभूति 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिको भी भक्तिके अधीन बताया है, देखिये—

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई[२]॥'

इससे स्पष्ट है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'की चरितार्थता भी भगवदनुग्रहपर ही अवलम्बित है। अर्थात् यावत् भगवान्‌की कृपा नहीं होती तावत् अभेदज्ञान भी नहीं प्राप्त होता। अवतरणमें 'देहु जनाई' पद भगवत्कृपाकी प्रेरणाका ही द्योतक है।

उपर्युक्त उक्तिके अतिरिक्त बाल्मीकि मुनिने रामके लिए जो विभिन्न पुनीत भवन इंगित किये हैं उन सबके द्वारा भी भक्तिकी प्रतिष्ठा की गयी है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ अगस्त्य अपनी ब्रह्मज्ञतासे बढ़कर भक्तिको प्रश्रय देते हैं। देखिये—

'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।
अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ।
फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ[३]॥'

प्रस्तुत प्रसंगमें तुलसीके साधनमार्गकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं, पञ्चम और षष्ठ परिच्छेदोंमें एतद्विषयक प्रायः सभी विचार अन्तर्भूत हो चुके हैं।

उक्त सभी प्रतिपाद्योंके प्रकाशमें उपलब्ध निष्कर्ष

गोस्वामीजीके माया, ब्रह्म, जीव, जगत् और साधन-मार्ग-सम्बन्धी विचारोंको दृष्टिमें रखते हुए अब देखना है कि उनकी विचार-पद्धति

१. वही, अयो० १२४. ७ २. वही, अयो० १२५. ३
३. 'मानस' अरण्य० १२. १२, १३

किसी 'वाद'से पूर्णतया मेल खाती है कि नहीं। सर्वप्रथम शांकर अद्वैत-वादसे इनकी विचार-पद्धतिकी तुलना करके देखना चाहिये कि क्या उक्त पद्धति इन्हें मान्य है। यदि हम अद्वैतवादियोंकी 'सदसदविलक्षण', 'अनिर्वचनीय' मायाको तुलसीकी मायासे मिलाते हैं तो दोनोंमें एकता नहीं दिखाई पड़ती। जहाँ अद्वैतवादी जीव-ब्रह्म अथवा आत्मानात्मकी अभिमत एकतापर आवरण डालकर भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाली अविद्या-को माया बताते हैं वहाँ गोस्वामीजी 'सीयराम' और सब जगमें भेद डालकर उपासकको भ्रान्त करनेवाली अविद्याको माया समझते हैं। यही नहीं, उन्होंने जगद्धात्री विद्या मायाका स्वरूप-निर्देश करते हुए उसका सीतासे जो तादात्म्य किया है वह भी अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

गोस्वामीजीकी विचार-पद्धतिके अनुसार 'निगु'न नाम न रूप'वाला ब्रह्म और साक्षात् लोचन-गोचर होनेवाले सगुण स्वरूपमें परमार्थतः कोई भेद नहीं। तभी तो दशरथापत्य, कौसल्यागर्भज श्री रघुवंशमणि राम और ब्रह्म रामकी एकता डंकेकी चोट बार-बार कही गयी है। उधर सगुण निगु'णकी यह एकता शांकर अद्वैतके अनुसार अधिकसे अधिक संवादी भ्रमके आधारपर ही मानी जा सकती है। क्योंकि उनके मतमें एक ब्रह्म सत्ताके अतिरिक्त और किसीकी सत्ता भ्रममूलक ही समझी जायगी। यह भ्रम दो प्रकारका होता है। एक संवादी भ्रम और दूसरा विसंवादी भ्रम। ब्रह्म और जीव सजातीय हैं। अतः जीवको ब्रह्म समझनेमें जो भ्रम है वह संवादी भ्रम ही कहा जायगा,'प्रमा' नहीं। बाबाजी जिसे प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञानके रूपमें ग्रहण करते हैं, शांकर अद्वैतवादी उसे संवादी भ्रम स्वीकार करता है। उसके मतमें ब्रह्म और जीवमें तत्त्वतः कोई भेद न रहनेसे अर्थात् दोनोंके एक ही होनेसे दोकी सत्ता अमान्य है। इस अमान्य सत्ताको स्वीकार करके दोनोंकी एकता स्वीकार करना भ्रम ही है। दाशरथि राम और ब्रह्म इन दोकी सत्ता अमान्य सत्ता हुई और दोनोंकी एकता भ्रममूलक।

शांकर अद्वैत मतानुयायी 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' आदि श्रुतियोंके आधारपर ब्रह्मको एक, अखण्ड और अद्वितीय स्वीकार करनेके कारण सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदशून्य मानते हैं। उनकी दृष्टिमें ब्रह्मके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है। पर, गोस्वामीजीके रामका स्वरूप देखते हुए तो यही कहना होगा कि वे ब्रह्मको सजातीय, विजातीत भेद-शून्य तो स्वीकार करते हैं, किन्तु स्वगत भेद-शून्य नहीं।

अद्वैतवादियोंके 'जीवो ब्रह्मैव नापरः'का विचार भी गोस्वामीजीको सर्वथा मान्य था, यह भी कैसे कहा जाये जब कि उन्होंने जीवको ब्रह्मका अंश माना है, क्षुद्र तथा क्षुद्रशक्तिसम्पन्न बताया है। उनके मतमें जीवका ब्रह्मके साथ एकीभावापन्न होना कभी सम्भव नहीं है। जीव अब भी जैसे पृथक् है वैसे ही निरन्तर पृथक् रहेगा, मुक्ति-दशामें केवल ब्रह्मानन्दका अनुभव करना ही उसका विशेष लाभ है।

अद्वैतवादियोंका 'जगन्मिथ्या'का सिद्धान्त भी गोस्वामीजीको अग्राह्य है। उनका दृढ़ विश्वास है—'बिस्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वास।' फिर, वे इस विश्वरूप भगवान्‌को मिथ्या कैसे मान सकते हैं? हाँ, जगत्‌को साक्षात् भगवान् रामकी अभिव्यक्ति न समझना घोरातिघोर भ्रम है—यह वे अवश्य मानते हैं।

अद्वैतवादी अपने महत्त्वपूर्ण 'विवर्तवाद'के सिद्धान्तके अनुसार मानते हैं कि एकमात्र स्वप्रकाश अखण्ड पारमार्थिक चैतन्य सत्ताके अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है और कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् मायाका तो परिणाम है, पर ब्रह्मका विवर्त है। कार्यके अनिर्वचनीयतावादकी पारिभाषिक संज्ञा 'विवर्त' है। गोस्वामीजीको विवर्तवादका सिद्धान्त कदापि ग्राह्य नहीं। तभी तो उन्होंने उक्त सिद्धान्तका निर्देश करके भी उसपर अपने निजी सिद्धान्तका रंग चढ़ाया है। देखिये —

'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा,
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लवं एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥'

इस अवतरणकी प्रथम दो पंक्तियोंमें शांकर अद्वैतके 'विवर्तवाद' की झलकने तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण खोजनेवाले महानुभावोंमेंसे अनेकोंके मनमें यही भावना जगा दी है कि तुलसीदास शांकर अद्वैतके अनुयायी अवश्य थे, तभी तो उन्होंने विवर्तवादका यह प्रसिद्ध दृष्टान्त अपनाया है। परन्तु हमें उक्त दृष्टान्तसे भ्रान्त नहीं होना चाहिये। जरा विचारपूर्वक देखिये, अन्तिम पंक्ति क्या घोषणा कर रही है। उससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी अद्वैतवादियोंके औपनिषदिक ब्रह्मका रामनामधारी दाशरथि रामसे अभेद मानते हैं। तभी तो वे कहते हैं कि मैं उस ईशका अभिवादन करता हूँ जो रामनामसे विश्रुत है, जिसकी राम आख्या अर्थात् नाम है। भला 'निर्गुन नाम न रूप' उक्तिसे स्पष्ट सूचित किया गया अनाम ब्रह्म कैसे रामाख्य हो सकता है?

विवर्तवादके उक्त दृष्टान्तसे ही नहीं, अपितु 'मानस' और 'विनय०' के कुछ प्रसंगोंमें प्रयुक्त 'हरिपद' और 'रामपद' प्रभृति पदोंसे भी कुछ लोगोंकी धारणा बद्धमूल हो गयी है कि ये पद शांकर अद्वैतवादियोंके ब्रह्मपदके ही सूचक हैं। परन्तु ऐसे महानुभावोंसे यही निवेदन करना है कि जरा आग्रह छोड़कर देखिये कि ये पद भगवान्‌के चरणारविन्दके अर्थमें ही सर्वत्र व्यवहृत हुए हैं कि नहीं।

अद्वैतवादियोंका मत है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी उपासना और ज्ञानका फल वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ निर्विशेष ब्रह्म आत्मरूप बताया गया है, वहाँ उसके ज्ञानका फल एकरूप मोक्ष ही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासनाका प्रसंग आता है, अर्थात् ब्रह्मका सम्बन्ध किसी प्रतीक राम, कृष्ण, सूर्य आदि देवतासे विशेष बताया गया है, वहाँ संसार-गोचर ही फल भिन्न भिन्न होता है। उपास्य-उपासककी भेद-दृष्टिसे ही यह कल्पना है। अतः जीव और ईश्वरकी कल्पना व्यावहारिक होनेसे दोनों मायिक हैं—उपाधिके काल्पनिक विलासके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस सिद्धान्तसे भी गोस्वामीजीकी विमति है, कदाचित् इसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं।

तुलसीका साधनमार्ग भी अद्वैत मतानुयायियोंके साधनमार्गसे भिन्न है। अद्वैतवादियोंके साधनमार्गकी ये चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। सर्वप्रथम साधकको 'नित्यानित्य वस्तुविवेक'-सम्पन्न होना पड़ता है और तत्परिणामस्वरूप दूसरी अवस्था आती है जिसमें उत्तरोत्तर विरतिकी प्रतिष्ठा होती जाती है। जब साधक पूर्णतया वैराग्य-सम्पन्न हो जाता है तो उसकी साधनाकी तीसरी अवस्था आती है जिसके अनुसार वह अपने निर्विकारत्वकी अनुभूति करने लगता है और अन्ततोगत्वा चौथी अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर उसमें मुमुक्षा जग पड़ती है और 'तत्वमसि' आदि महावाक्योंका निरन्तर मनन एवं निदिध्यासन करते-करते उसे 'अहं ब्रह्मास्मि'का बोध हो जाता है। यही ब्रह्मभाव ज्ञानियोंका परमपद है। यही उनकी मुक्ति है। यही उनके ज्ञानका परम फल है। गोस्वामीजीके साधन-मार्गमें ज्ञानियोंकी इस मुक्तिको कोई विशेष प्रश्रय नहीं दिया गया है, प्रत्युत उसमें भक्ति ही सर्वोपरि ठहरायी गयी है। ज्ञानादि विविध साधनोंको भी भक्तिके ही अधीन बताया गया है—

'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥'

इस प्रसंगका विस्तृत विवेचन अन्यत्र हो चुका है।

तुलसी और शांकर अद्वैतवादकी विचार-पद्धतिकी उपर्युक्त संक्षिप्त तुलनाके आधारपर किसी विचारशील व्यक्तिका यही निर्णय होगा कि गोस्वामीजीका दार्शनिक दृष्टिकोण शांकर अद्वैतवाद नहीं है।

गोस्वामीजी शांकर अद्वैतवादके पूर्ण अनुयायी नहीं हैं, इस निष्कर्षके उपरान्त यदि रामानुजके विशिष्टाद्वैत अथवा मध्वके द्वैत मतके प्रकाशमें भी अपने कविका दार्शनिक दृष्टिकोण निर्णय करना चाहें तो हम दृढ़तापूर्वक यह नहीं सिद्ध कर सकते कि गोस्वामीजी इन दोनों पद्धतियोंमेंसे किसी एकके पक्के अनुयायी हैं। यह दूसरी बात है कि इन दोनों पद्धतियोंके अनेकानेक सिद्धान्त और साधन-सम्बन्धी बातें तुलसीकी रचनाओंमें मिलती

हैं। पर इन दोनों पद्धतियोंके कुछ प्रमुख सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजीकी पूर्ण विमति भी है। यथा, मायाका अस्तित्व न विशिष्टाद्वैतवादी ही स्वीकार करते हैं, न माध्व मतानुयायी ही, पर तुलसीको मायाकी विशेष सत्ता मान्य है। इसके अतिरिक्त इन दोनों पद्धतियोंके कुछ अन्यान्य प्रमुख सिद्धान्त भी गोस्वामीजीको अमान्य हैं। जैसे, विशिष्टाद्वैतवादी जगत्‌को ब्रह्मका अंश मानते हैं, परन्तु बाबाजीके विचारसे जगत् साक्षात् 'रघुवंशमणि-स्वरूप' ही है। माध्व मतानुयायियोंके अनुसार परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्त गुण-परिपूर्ण हैं अर्थात् भगवान्‌के गुण अनन्त हैं तथा उनके प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय है। इधर गोस्वामीजीके मतमें राम परमात्मा हैं, वे ही अनन्त गुण-परिपूर्ण हैं। माध्व सम्प्रदायियोंका मत है कि अचिन्त्य शक्ति विष्णु भगवान्‌में निवास करती है, पर तुलसीके मतमें अघटित-घटना-पटीयसीकी परम सामर्थ्य राममें है। तात्पर्य यह कि अचिन्त्य शक्ति राममें निवास करती है। राममें ही विचित्र कार्य-संपादनकी अलौकिक सामर्थ्य रहती है। द्वैतवादी माध्वोंका यह सिद्धान्त कि इस जगत्‌के जन्मादि व्यापारमें परमात्मा केवल निमित्त कारण है और जड़ प्रकृति उपादान कारण, यह भी गोस्वामीजीको अमान्य ही कहा जा सकता है। माध्वोंके साधन-मार्गमें श्रवण, मनन, ध्यानके साथ तारतम्य-परिज्ञान[1] तथा पञ्चभेद-ज्ञान[2] नितान्त आवश्यक ठहराये गये हैं, क्योंकि ये मुक्तिके साधक हैं, किन्तु गोस्वामीजीके साधन-मार्गमें 'तारतम्य ज्ञान' और 'पञ्चभेद-ज्ञान'का कोई विशेष स्थान नहीं है। रामानुजके विशिष्टाद्वैत अथवा माध्व द्वैतवादकी और भी कितनी ही बातें हैं जो तुलसीके मतमें नहीं हैं।

---

१. जगत्‌के समस्त पदार्थ एक दूसरेसे बढ़कर हैं। ज्ञान, सुखादिका अवसान भगवान्‌में ही होता है। यही 'तारतम्य-ज्ञान' है।

२. भेद पाँच प्रकारका होता है १. ईश्वरका जीवसे भेद, २. ईश्वरका जड़से भेद, ३. जीवका जड़से भेद, ४. जीवका दूसरे जीवसे भेद, ५. एक जड़का दूसरे जड़ पदार्थसे भेद।

अभीतक जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट है कि तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण न पूर्णतया शंकराचार्यका अद्वैतवाद ही है और न रामानुजाचार्य-का विशिष्टाद्वैत अथवा मध्वाचार्यका द्वैतवाद ही। वस्तु-स्थिति कुछ और ही है। 'प्रस्थानभेदाद्दर्शनभेदः'के अनुसार गोस्वामीजीकी दार्शनिक विचार-पद्धति स्वतन्त्र है। उनकी इस विचार-पद्धतिका सच्चा अनुयायी और मर्मज्ञ यही अनुभव करेगा कि सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् कौसल्यानन्दन राम और ब्रह्म राममें कोई भेद नहीं। जगत् राम-रूपमें ही वन्द्य और सत्य है। जगत्को रामसे या रामको ब्रह्मसे पृथक् देखना ही द्वैतबुद्धि है। उपासककी विशुद्ध अद्वैतबुद्धि तभी कही जा सकती है जब वह सारे जगको भगवद्रूप समझता है और सगुण और निर्गुणमें कोई भेद नहीं देखता दोनोंको ही परमार्थतः सत्य मानता है। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि गोस्वामीजीके मतमें ऐसी अद्वैतबुद्धिकी प्राप्तिके अनन्तर भी उपासक अपनी सत्ताको उपास्यकी सत्तामें विलीन कर स्वयं उपास्यरूप ही नहीं बन जाता, प्रत्युत वह अपनी भेद-शक्तिको शाश्वत बनाये रहता है अर्थात् 'सचराचर रूप स्वामि भगवंत'को तो वह समझने ही लगता है, साथ ही अपनेको 'मैं सेवक'के ही रूपमें देखते हुए अनन्य भगवत्प्रेमका उच्चतम आनन्द-लाभ करता है।

हम देखते हैं कि तुलसीकी विचार-पद्धतिमें उपासक और उपास्य दोनोंकी पृथक् सत्ता पूर्णतया प्रतिष्ठित है। फलतः हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि उनका अभिमत सिद्धान्त द्वैत है। उनके मार्मिक व्याख्याता देवस्वामी काष्ठजिह्वा स्वामी पुकारकर कहते हैं—'द्वैत सदा अद्वैत कबहुँ नहिं यह स्रुतिको निर्घोष।'

अष्टम परिच्छेद

तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य

हमारे प्राचीनतम वाङ्मयका प्रस्थान वेदोंसे ही प्रारम्भ होता है। जिज्ञासा होती है कि क्या प्राचीन राम-साहित्यकी उत्थानिका भी वेदोंमें सन्निहित है? रामका कोई उल्लेख जब वेद अथवा वेदके अंग प्राचीन उपनिषदोंमें भी नहीं तो कैसे कहा जाय कि राम-साहित्यका प्रादुर्भाव वेदसे हुआ। पर तुलसीकी इस वेद-वन्दनाका आशय क्या—

'बंदउ चारिउ वेद, भव-बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जस॥'

प्रस्तुत प्रबन्धके चतुर्थ परिच्छेदमें इष्टदेवका स्वरूप दिखानेके प्रसंगमें कहा जा चुका है कि तुलसीकी दृष्टिमें दाशरथि राम विभुरूपसे व्याप्त विष्णु तथा उस अखण्ड, परिपूर्ण, परब्रह्मसे सर्वथा अभिन्न हैं। वेद जब विष्णु और परब्रह्म दोनोंका विशद गुणानुवाद करता है तो गोस्वामीजी उसे रामका गुणगायक क्यों न कहते। इसके अतिरिक्त 'रामतापिनी' या 'राम-रहस्योपनिषद' सदृश अर्वाचीन उपनिषदोंमें राम और रामनामका परमोत्कर्ष तो वर्णित ही है।

प्राचीन राम-साहित्यकी व्यापकता

वस्तुतः प्राचीन राम-साहित्यका निर्विवाद स्रोत वाल्मीकीय रामायण है। प्राचीनतम राम-साहित्यके स्रष्टा वाल्मीकि ही ठहरते हैं। इनके भव्य-निर्माणके प्रति गोस्वामीजी प्रणत होते हैं—

'बंदउ मुनि पद कंज, रामायन जेहि निरमयउ।'

'रामायण'के अतिरिक्त 'महाभारत'-सदृश पुराकल्प ग्रन्थने भी 'वाल्मीकीय रामायण'की व्यापक कथाको संक्षेपमें वनपर्वके अन्तर्गत

रामोपाख्यानमें गाकर प्राचीन राम-साहित्यकी महिमा बढ़ायी है। अष्टादश मुख्य पुराणोंमें भी जो प्राचीन और प्रामाणिक माने जाते हैं उनमेंसे 'पद्मपुराण', 'ब्रह्माण्डपुराण', 'श्रीमद्भागवत', 'नृसिंहपुराण', 'विष्णु-पुराण', 'अग्निपुराण' प्रभृति पुराणोंमें प्राचीन राम-साहित्य सुरक्षित है। इसीलिए कितने ही कलाकारोंको अपना राम-साहित्य प्रस्तुत करनेमें उक्त पुराणोंमें वर्णित राम-कथासे पर्याप्त प्रेरणा मिली है। तुलसीने भी इस पौराणिक राम-साहित्यसे यथेष्ट सामग्री प्राप्त की है। उन्होंने 'मानस'का नाना पुराणसम्मत होना स्वीकार भी किया है। कुछ पौराणिक रामायणों-में 'अध्यात्मरामायण' विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह 'ब्रह्माण्ड पुराण'के अन्तर्गत है। 'महारामायण', 'आनन्दरामायण', 'भुशुण्डिरामायण', 'अद्भुतरामायण' आदि भी पौराणिक ढंगके प्राचीन रामायण हैं। इन सबमें भी प्राचीन राम-साहित्य सञ्चित है।

इतिहास-पुराण आदिके द्वारा जिस राम-साहित्यकी प्रतिष्ठा हुई उसका प्रवाह संस्कृतके कतिपय महाकाव्यों और नाटकोंमें भी स्यन्दमान् हुआ और कालान्तरमें इनके द्वारा भी राम-साहित्यका क्षेत्र व्यापक तथा मनोज्ञतर होकर जगमगाया। कविकण्ठाभरण कालिदासकृत 'रघुवंश' महाकाव्य प्राचीन राम-साहित्यकी उत्तम निधि है। अभिनन्दकृत 'राम-चरित' अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। यह भी वैदर्भी रीतिमें लिखा गया उत्तम महाकाव्य है। वलभीके राजा श्रीधरसेनके राजाश्रित कवि भट्टिकृत 'रावण-वध' जो 'भट्टिकाव्य'के नामसे भी विश्रुत है, एक उत्कृष्ट महा-काव्य है। इसी प्रकार भौमक भट्टकृत 'रावणार्जुनीय' वा 'अर्जुनरावणीय' भी प्रसिद्ध महाकाव्य है। कुमारदासका 'जानकीहरण' अथवा क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण-मञ्जरी' भी उच्च कोटिके काव्य हैं। चौदहवें शतकमें वर्तमान मल्लिनाथकृत 'रघुवीरचरित' भी उल्लेखनीय है। नाटकोंमें भवभूति-कृत 'उत्तररामचरित', मुरारिकृत 'अनर्घराघव', राजशेखरकृत 'बाल-रामायण' मधुसूदन और दामोदर मिश्र-कृत 'हनुमान्नाटक' अथवा जयदेव-कृत 'प्रसन्नराघव' आदि उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि प्राचीन राम-साहित्यके विपुल भण्डारपर संस्कृतका ही विशेषाधिकार है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि प्राकृत, अपभ्रंश अथवा अवहट्टने राम-साहित्य-निर्माणके प्रति उदासीनता दिखायी है। प्राकृतमें राम-साहित्यकी श्रेष्ठ विभूति प्रदर्शित करनेके लिए प्रवरसेन-विरचित 'सेतुबन्ध' उत्तम महाकाव्य है। इसी प्रकार अपभ्रंशकी देनके फलस्वरूप पुष्पदन्तके 'महापुराण' में अनोखे ढंगसे वर्णित राम-कथाका महत्त्व कम नहीं। इसके अतिरिक्त जैन मतावलम्बी कविराज स्वयम्भूकृत 'रामायण' भी अपभ्रंशके द्वारा समर्पित प्राचीन राम-साहित्यका अंग है। स्वयम्भूके रामायणका संकेत और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनेवाले हैं—राहुल सांकृत्यायनजी। आपने अपने एक लेखमें[1] उक्त रामायणके कुछ अवतरण देकर उसके स्वरूपका किञ्चित आभास तो दिया ही है, साथ ही स्वयम्भूके विषयमें भी कुछ प्रकाश डाला है। हेमचन्द्रने अपने अपभ्रंशके व्याकरणमें जो उदाहरण दिये हैं उनमें कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें किसी न किसी रूपमें राम-चर्चा भी है। इन रचनाओंके आधारपर ऐसा अनुमान असंगत न होगा कि अपभ्रंशकी फुटकल रचनाओंके द्वारा भी प्राचीन राम-साहित्यकी वृद्धि हुई। तुलसीके पूर्ववर्ती हिन्दीके कुछ कवियोंने भी राम-चरितकी चर्चा करके अपनी वाणीको पवित्र किया। रामानन्द और उनके प्रधान शिष्योंकी रचनाओंमें ब्रह्म रामका जो गान हुआ वह भी प्रकारान्तरसे राम-साहित्यके ही अन्तर्गत कहा जा सकता है। 'सूरसागर'में सन्निहित राम-सम्बन्धी पदोंको भी नहीं भुलाया जा सकता है। डा० रामकुमार वर्माने तुलसीके पूर्वकी राम-काव्यकी परम्परासे भगवतदास और कविचन्द नामक दो कवियोंका सम्बन्ध जोड़ा है[2]।

गोस्वामीजी जिस समय अपने भव्य 'मानस'का प्रणयन कर रहे थे उस समय उनकी सात्त्विक अन्तर्दृष्टिके समक्ष प्राचीन राम-साहित्यके

१. दे० 'हंस', वर्ष १५, नवम्बर १९४४, अंक २, पृ० ६३—७३
२. दे० 'हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ३४५–४६

विस्तृत और रम्य उद्यानका दृश्य अवश्य था। इसीसे उसके स्रष्टाओंकी वन्दना की गयी है—

'व्यास आदिकवि पुंगव नाना।
जिन्ह सादर हरिचरित बखाना॥
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे।
पुरवहु सकल मनोरथ मेरे॥
कलिके कविन्ह करउँ परनामा।
जिन्ह बरने रघुपति-गुन-ग्रामा॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने।
भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥'

"वाल्मीकीय रामायण" और "मानस"

प्राचीन राम-साहित्यके व्यापक क्षेत्रको पूर्णतया सम्पन्न करनेवाले इन विविध ग्रन्थोंमेंसे, जिनके द्वारा तुलसीको अपने साहित्यके निर्माणमें प्रेरणा मिली, सर्वप्रथम 'वाल्मीकीय रामायण' है। यह उत्तम 'परिक्रिया'[१] रूप ऐतिहासिक आदि काव्य है। इसीसे इसके रचयिता 'आदिकवि' कहे जाते हैं। संस्कृतके रामाश्रित महाकाव्योंकी रचना प्रायः इसी ग्रन्थके आधारपर हुई है। साहित्य-विद्याके ग्रन्थोंमें महाकाव्यके निर्दिष्ट लक्षण इसी ग्रन्थको सामने रखकर निर्मित हुए हैं। 'रामायण'के सर्ग, सर्गोंके अन्तमें भिन्न-भिन्न छन्द, नदी, पर्वत, ऋतु आदिका वर्णन इत्यादि जो कुछ है वह मानों महाकाव्यका निदर्शन है। यह रामायणी कथाकी उदात्तता है जो उसने नानाविधि कृतिकारोंको अपने प्रसाधन और परिष्कारके लिए आकर्षित किया है।

महामुनि वाल्मीकि रामका गुणगान करनेके लिए भले ही तुलसीके रूपमें अवतीर्ण होकर इस धरा-धामपर क्यों न आये हों, पर यह तो

१. 'परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा। स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।' 'काव्यमीमांसा।'

निर्विवाद है कि वे अपने नये तुलसी-अवतारमें रामके प्रति अपनी नवीन, अपूर्व भावनाएँ लेकर उतरे। नाना रूपोंमें अपनी नवीन ज्योति बिखेरी। आदि-कविने अपने विकासोन्मुख युगकी आवश्यकताको देख आर्य-संस्कृतिका परमोत्कर्ष दिखानेके लिए रामको मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें ग्रहण किया। इसके विपरीत तुलसीने अपने हृदय-वल्लभ रामका ऐसा स्वरूप लिया कि वे केवल मर्यादापुरुषोत्तम ही न रहें अपितु भक्तिके विविध अधिकारियोंकी स्थूल या सूक्ष्म भावनाके अनुसार उनकी भक्तिके दिव्यालम्बन भी रहें। 'वाल्मीकीय रामायण'का अंग-प्रत्यंग आर्योंकी सामाजिक रीति-नीतिके विस्तृत विवरणसे शोभित है। इसके समान नीतिका दूसरा ग्रन्थ विश्व-साहित्यमें नहीं है। इधर मानसकारने रामायण-कालीन रीति-नीतिका सामान्य प्रदर्शन किया है। वाल्मीकिको वीरत्वका विशाल वातावरणचित्रण अभीष्ट था। अतः उनके ग्रन्थभरमें वीर रसका अथवा कुछ आलंकारिकोंके मतसे शान्त रसका परिपाक हुआ है। तुलसीका 'मानस'-हृद तो प्रधानतः भक्ति रससे परिपूर्ण है। वन-प्रान्तों, निर्झरों, गिरि-सरि-तटोंसे मण्डित तपोभूमिके अनन्य सहचर महर्षि वाल्मीकिका हृदय प्रकृति-नटीकी कमनीय कलाओंमें रमा तो था ही, फलतः उन्हें उसके प्रत्येक हाव-भावका सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था; अपनी इस प्रकृति-पर्य्यवेक्षणकी अमित विभूतिको अत्यधिक विस्तार देकर उन्होंने अपने ग्रन्थको प्रकृतिकी विस्तृत लीला-स्थली बना दिया है। इधर गोस्वामीजीने प्रकृतिका आनुषंगिक वर्णन किया है। अतः उसमें किसी प्रकार विरसता नहीं आने पायी है। सभ्य समाज व्यवहार-शिष्टताके हेतु, श्लीलताकी रक्षाके लिए कितनी ही बातोंको अर्थापदेशके रूपमें मर्यादित ढंगसे प्रकट करता है। रामायणकालके महाकवि अपनी उस आदिकालीन संस्कृतिमें इस नियमका कठोर पालन कैसे करते। पर, गोस्वामीजीने उच्च सामाजिक शिष्टता और मर्यादाकी अपूर्व रक्षा करते हुए अपना वर्णन कहीं भी अमर्यादित नहीं होने दिया है। आदिकविके सामने आर्य-संस्कृतिका एकनिष्ठ वैदिक युग था जिसमें सांस्कृतिक संघर्षोंको

जन्म देनेवाले विविध मत-मतान्तरोंका प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। इधर तुलसीके समक्ष विलक्षण साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक संघर्षमय युग चौकड़ी भर रहा था। कहनेका तात्पर्य यह कि दोनों कवियोंके अपने-अपने युग-प्रदर्शनकी रीतिमें भी अन्तर है। यदि प्रथमके ऊपर संस्कृतिके एक सीधे मार्ग-निरूपणका दायित्व था तो द्वितीयपर कितने ही टेढ़े-मेढ़े मार्गोंके समन्वयका गुरुतर भार था। पात्रोंके चरित्रांकनके सम्बन्धमें भी दोनोंके दृष्टिकोणमें एकरूपता नहीं। जहाँ वाल्मीकिके सभी पात्रोंकी चारित्रिक विशेषताएँ अनावृत और यथार्थ रूपमें अवगत होती हैं, वहाँ तुलसीके सभी पात्रोंपर, उनके वैयक्तिक चरित्रांकनपर, भक्तिकी छाप भी लगी रहती है। गोस्वामीजीने अपने पात्रोंका चित्रण केवल चरित्रांकनकी दृष्टिसे नहीं किया है, प्रत्युत इनके द्वारा आदर्श-प्रतिष्ठा और विशेषतः भक्ति-प्रचारका ध्यान रखा है। ऐसा करके भी उन्होंने चरित्र-चित्रण-कलाकी पूर्ण रक्षा की है—यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है।

'मानस'की कलापूर्ण वस्तु-विन्यास-योजना 'वाल्मीकीय रामायण'के इतिवृत्तसे कितने ही अंशोंमें निराली है। उसके उपक्रम और उपसंहार 'वाल्मीकीय रामायण'के उपक्रम और उपसंहारसे सर्वथा भिन्न हैं। स्मरण रहे कि यह भेद साभिप्राय है। सर्वगुण-सम्पन्न परम कारुणिक रामको यह कदापि शोभा नहीं देता कि वे साध्वी सीताका त्याग करें। भक्तकी दृष्टिमें राम और सीता अभिन्न हैं—'गिरा अर्थ जल बीचि सम''' खिन्न।' इसी लिए तुलसीने 'वाल्मीकीय रामायण'के उत्तरकाण्डकी कथा सीता-त्याग आदिको अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने 'वाल्मीकीय रामायण'की प्रारम्भिक कथा (वाल्मीकिका नारदसे मिलन, क्रौंच पक्षीके जोड़ेपर व्याधका क्रूराचार अवलोकन कर उसे शाप देना, ब्रह्माकी आज्ञासे रामायणकी रचना करना और उसे लव-कुशको सिखाकर अयोध्या भेजना)को भी 'मानस'के उपक्रममें सन्निविष्ट करना व्यर्थ समझा।

इतिवृत्तका जिज्ञासु 'वाल्मीकीय रामायण'में पड़नेवाली आनुषंगिक कथाओं और घटनाओंके लम्बे विस्तारको भले ही पसन्द करे, पर कला-

पारखी तो उपकथाओं और अप्रधान घटनाओंका वैसा ही संकेत चाहेगा जैसा कि तुलसीने अपने 'मानस' में किया है। लक्ष्य-भेदके कारण दोनों रामायणोंकी मुख्य कथावस्तुकी उभयनिष्ठ घटनाओंके निरूपणमें भी अन्तर है। उदाहरणार्थ राम-जन्मकी अपूर्व घटना ही लीजिये। शुभ मुहूर्त आदिके उपस्थित होनेपर मानसकारने 'भये प्रकट कृपाला परम दयाला...' आदिका स्वरूप दिखाया है; पर आदिकविने ऐसे प्रकट होनेकी कोई चर्चा नहीं की है। अन्यथा राम-जन्मकी घटना दोनों रामायणोंमें है। बालचरित, बन्धुओंका परस्पर प्रेम-वर्णन भी दोनों ग्रन्थोंमें है अवश्य, किन्तु इसमें भी रामके चरितकी अलौकिकता दिखानेके लिए—'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखी। मति भइ भ्रमित कि आन बिसेखी।' अथवा 'देखरावा मातहिं तब अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागेउ कोटि कोटि ब्रह्मंड' आदिका उल्लेख गोस्वामीजीने कर दिया है; वाल्मीकिकी दृष्टि इस अलौकिकता-प्रदर्शनकी ओर नहीं थी। अहल्या-उद्धारकी घटना यद्यपि है दोनों रामायणोंमें, पर वाल्मीकिके वर्णनसे प्रकट होता है कि वह उस शापित घोर निर्जन स्थानमें सर्वजीवोंको अदृश्य रहकर निराहार, वायुभक्षण करती हुई कठोर तप करती थी, वहाँ राम-लक्ष्मणके आनेपर पवित्र होनेके पश्चात् उसे अपना पूर्व कान्तिमय स्वरूप मिल गया, तदनन्तर दोनों भाइयोंने उसके चरण छूए और वह भी गौतमका पूर्वकथित वचन याद करती हुई उनका सत्कार करने लगी; रामने उसका आतिथ्य स्वीकार किया; गौतम भी वहीं आ गये और उनसे भी सत्कृत होकर वे जनकपुरकी ओर बढ़े[1]। तुलसीने शापित अहल्याको शिला-रूपमें दिखाया है और भगवान्‌की परम पुनीत चरण-रजके स्पर्शमात्रसे उसके शापमोचन और सद्गति-प्राप्तिका निर्देश किया है।

राम-विवाहकी घटनाकी सिद्धि और उसे परम रमणीय एवं हृदय-ग्राही बनानेके लिए तुलसीने फुलवारीमें सीता और रामका परस्पर संप्रेक्षण और उनके पूर्वरागकी जो चारु भूमिका प्रस्तुत की है उसका 'वाल्मीकीय

१. दे० 'वाल्मी० रामा०' बाल० सर्ग ४८:२९–३२; ४९:१७, १८–२३

रामायण' में कोई संकेत नहीं। रंगभूमिमें एकत्र हुए मिथिलाके नर-नारियों, बड़े-बड़े पराक्रमी राजाओं-महाराजाओं और विविध वेशधारी देवों और दानवोंके बीच पहले अपूर्व, नाटकीय, धुकधुकी बढ़ानेवाला वातावरण उपस्थित करके भरी सभामें रामके द्वारा धनुष तुड़वाकर उनका उत्कर्ष दिखाते हुए एक ओर हर्ष और दूसरी ओर कोलाहलका जो विचित्र समन्वय तुलसीने मूर्तिमान् किया है वह वाल्मीकिमें कहाँ। यही नहीं, आदिकविने रामके विवाहादि संस्कारको भी तुलसीकी-सी सहृदयता और मार्मिकताके साथ नहीं दिखाया है।

अपने वृद्धावस्था-सूचक चिह्नोंको देख महाराज दशरथने मन्त्रियोंके सत्परामर्शसे रामको युवराजपदपर अभिषिक्त करना चाहा और उसकी तैय्यारियाँ होने लगीं—यह प्रसंग दोनों रामायणोंमें है अवश्य, पर वाल्मीकिने इसके अन्तर्गत यह भी दिखाया है कि अन्तःपुरमें दशरथने एकान्तमें रामसे कहा है कि हम तुम्हें कल ही युवराज बना देनेकी इच्छा करते हैं, भरतके आनेके पूर्व ही यह कार्य सम्पन्न हो जाये, अन्यथा उनके यहाँ आनेपर कदाचित् कोई विघ्न खड़ा हो जाये[1]। मन्थराकी कुचालकी बात भी दोनों ग्रन्थोंमें एक होकर भी कुछ अन्तर रखती है। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार दासीकी बुद्धि सरस्वतीके द्वारा भ्रष्ट नहीं करायी गयी है, वरन् उसने स्वयं अपने कौटिल्यसे रानीकी मति फेरकर उसे दोनों वर माँगनेके लिए सन्नद्ध किया है[2]। वाल्मीकिने इसका भी उल्लेख किया है कि कैकेयीके दोनों वरदान सुनकर राजाने उसे बहुत समझाया, पर वह टससे मस न हुई, इसपर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा कि मेरे मरनेपर न तो तू मेरा शरीर छूए और न भरत मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करे[3]। तुलसीने ऐसा नहीं कहलाया। वाल्मीकिने यह भी वर्णन किया है कि सुमन्त्रके साथ जब राम कैकेयीके भवनमें गये तो छिपे-छिपे लक्ष्मण भी वहीं

१. 'वाल्मी० रामा०' अयो० सर्ग ४:२४, २५

२. वही, अयो० सर्ग ८; ९

३. वही, अयो० सर्ग १४:१६, १७

पहुँचे[1]। राजाने रामसे कहा कि मुझ स्त्रैणको कारागारमें डालकर तुम राज्य करो, पर राम इसपर सहमत न हुए[2]। जब राम कौसल्यासे विदा माँगने गये तब माता तथा लक्ष्मण दोनोंने उन्हें वन जानेसे रोकनेकी बड़ी चेष्टा की, यही नहीं, रामको सिंहासनारूढ़ करनेके लिए लक्ष्मणने उनसे कहा कि आप भाग्यकी प्रबलता बखान रहे हैं और मैं स्त्रैण, कामुक राजाको बन्दी करके तथा भरत, शत्रुघ्न और उनके पक्षपातियोंको, चाहे वे देवराज ही क्यों न हों, रणक्षेत्रमें भूशायी बनाकर संसारको आज ही दिखा देना चाहता हूँ कि पौरुषके सामने भाग्य कुछ नहीं है[3]। सीताने अपना भावी वियोग-दुःख प्रकट करते हुए कहा कि आप हमें वन दिखानेके लिए बहुत दिनसे कह रहे थे; हमने अपने पीहरमें ज्योतिषियोंसे भी सुना है कि हमें वनमें रहना होगा, अतः हमें अपने साथ ले चलिये[4]। इसी सिलसिलेमें उन्होंने यह भी कहा कि आप हमें साथ ले जानेसे भयभीत होते हैं, आप आकारमें ही पुरुष हैं, आपके तेज-प्रतापकी प्रशंसा व्यर्थ है। यदि हमारे पिता ऐसा जानते तो आपको अपना जामाता न बनाते[5]। मानस-रचयिताने न तो सुमन्त्रके साथ कैकेयी-भवनकी ओर जाते हुए रामके पीछे लक्ष्मणके छिपे-छिपे जानेका प्रसंग ही छेड़ा है और न ऊपर दिखाये गये लक्ष्मण और सीताके कथनोपकथनको ही स्थान दिया है।

राम-वन-गमनके अवसरपर अयोध्याके व्याकुल नर-नारी रामके पीछे-पीछे तमसाके किनारेतक चले आये, रात्रिमें जब श्रान्त पुरवासी सो गये तो रामकी आज्ञासे सुमन्त्रने रास्ता बदलकर रथ हाँका। प्रातःकाल जगनेपर प्रजा निराश होकर अयोध्या लौटी। उधर राम शृंगवेरपुर पहुँचे और वहाँ निषादसे उनकी भेंट हुई। यह प्रसंग दोनों रामायणोंमें

१. वाल्मी० रा० अयो० सर्ग १६:२६ २. वही, अयो० सर्ग ३४:२६

३. वही, अयो० सर्ग २३

४. वही, अयो० सर्ग २९:७–९

५. वही, अयो० सर्ग ३०:१–४

है। पर, रात्रिमें सीता और रामके सो जानेपर निषाद और लक्ष्मणमें जो वार्ता हुई है वह दोनों ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न है। 'वाल्मीकीय रामायण'में लक्ष्मण रामके राजधानीमें व्यतीत होनेवाले सुखमय जीवन और तत्कालीन वनवासके सम्भाव्य दुःखोंका अन्तर निषादको समझाकर स्वयं बहुत बिलखाये, निषादका हृदय भी बहुत संतप्त हुआ[१]। इधर 'मानस'में उन्होंने उसे रामका परमार्थ स्वरूप बताया है, ज्ञानका उपदेश दिया है[२]। 'मानस'में वर्णित केवट द्वारा रामका पाद-प्रक्षालन, रामका पार्थिव-पूजन, सीताको गंगाका आशीर्वचन, भरद्वाजके शिष्योंका मार्ग-प्रदर्शन, निषादके साथ गमन और यमुना पार होनेके पश्चात् एक तापसका आकस्मिक आगमन आदि घटनाएँ 'वाल्मीकीय रामायण'में कहीं नहीं हैं और न वाल्मीकिने रामके रहनेके विविध ठाँव ही दिखाये हैं। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार शृंगवेरपुरके समीप भरतको ससैन्य देख करके निषाद पाँच सौ नावोंपर सौ-सौ वीरोंको बिठा घाटको रुकवाकर तब मांस, मछली, शहद आदि लेकर भरतसे मिलने गया है[३]। स्पष्ट शब्दोंमें पूछा है कि आप सेना लेकर रामके पास किस विचारसे जा रहे हैं[४]। 'मानस'में निषादने ऐसा प्रश्न नहीं किया है, यह अवश्य है कि इसमें निषादकी टोलीका जो सजीव चित्रण हुआ है वह 'वाल्मीकीय रामायण'में नहीं है। इसी प्रसंगमें तुलसीने वशिष्ठ-निषाद तथा भरत-निषादका आलिंगन कराकर जो भक्ति-महिमा दिखायी है उसका वाल्मीकीयने संकेत भी नहीं किया है। चित्रकूटमें ससमाज जनकके आगमन-की घटनाका जिसके विस्तारमें तुलसीकी अलौकिक काव्यानुभूतिका परिचय मिलता है और जो 'मानस'का उत्कृष्ट अंश है, 'वाल्मीकीय रामायण'में कोई उल्लेख नहीं।

---

१. 'बाल्मी० रामा०'अयो० सर्ग ५१

२. 'मानस'अयो० ९१. १–८; ९२. १–८, ९३

३. 'बाल्मी० रामा०'अयो० सर्ग ८४:८, ९

४. वही, ,, ,, ८५:७

काक-वेश-धारी जयन्तकी नीचताके सम्बन्धमें वाल्मीकिने लिखा है कि उसने सीताकी छातीमें चोंच और चंगुल मारकर उन्हें व्यग्र किया[1]। इधर गोस्वामीजी केवल 'सीता चरन चोंच हति भागा' कहकर रह गये हैं। अत्रि-मिलन, विराध-वध, शरभंग-दर्शन और उनका शरीर-त्याग, मुनियोंका एकत्र होकर राक्षसोंके वधके लिए विनय करना तथा सुतीक्ष्ण और अगस्त्यसे मिलनेकी घटनाएँ यद्यपि दोनों रामायणोंमें हैं, तथापि 'मानस'में इन ऋषियोंने रामको साक्षात् भगवान् मानकर उनकी स्तुति की है, वाल्मीकिमें ऐसा नहीं है। वाल्मीकिने विराधका जो विस्तृत वृत्तान्त दिया है तथा मुनि-आश्रमों और वन्य प्रांतोंकी सुषमाका सजीव चित्रण किया है उसका 'मानस'में संकेतमात्र है। वाल्मीकिने दिखाया है कि शूर्पणखा अपने स्वाभाविक भयानक, कुरूप, दारुण वृद्धा-वेशमें ही रामके सम्मुख आयी[2]। पर तुलसीदासका कहना है कि वह 'रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ गई।' रामने कञ्चन-मृगपर जब अपना बाण मारा तो प्राणोंको छोड़ते समय मारीचने जोरसे कातर स्वरमें हा लक्ष्मण! कहा, जिसे सुनकर सीता परम सभीत और विह्वल हुईं—यह प्रसंग दोनों रामायणोंमें एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे अंकित हुआ है। वाल्मीकिने सीताके मुखसे साधु लक्ष्मणको दुःशील, कठोर-हृदय, कुल-कलंक, दुष्ट, भरतका गुप्तचर तथा उन्हें हथियानेकी स्पृहा रखनेवाला आदि भर्त्सनात्मक वचन कहला दिये हैं[3] और उन्हें सुनकर अन्तमें लक्ष्मणने भी धिक्कारा है— 'धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे।' गोस्वामीजीने इस प्रसंगका ऐसा अनभिलषित रूप नहीं होने दिया है। मुमूर्षुदशाको प्राप्त जटायुसे रामकी भेंट और उसके द्वारा यह समाचार पाना कि रावण सीताको हर ले गया, जटायु-मरण और रामके द्वारा उसके और्ध्वदेहिक कर्म किये जानेकी बातें भी दोनों रामायणोंमें हैं अवश्य, पर वाल्मीकिने तुलसीकी

---

१. 'वाल्मी० रामा०' सुन्दर० सर्ग ३८:२३

२. वही, अरण्य० सर्ग १७:१०–१२

३. वही, अरण्य० सर्ग ४५

भाँति यह नहीं दिखाया है कि गृद्ध चतुर्भुज रूप धारण करके 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही' आदि स्तुति करते हुए राम-धामको गया। रामके शबरीके आश्रममें जानेके प्रसंगमें वाल्मीकिने दर्शाया है कि उसने पहले दोनों भाइयोंका बड़ी उमंगके साथ आतिथ्य किया, तदनन्तर रामसे अपना सारा वृत्तान्त बताया और अन्तमें उनकी अनुमति लेकर वह जलती हुई आगमें कूद पड़ी, फिर उसमेंसे प्रज्वलित अग्निका-सा चमचमाता रूप धारण कर वह निकली और स्वर्ग चली गयी[१]। इधर 'मानस'के अनुसार उसने पहले राम-लक्ष्मणका सत्कार किया, फिर हाथ जोड़कर स्तुति करने लगी, तब उसकी भक्तिसे परितुष्ट होकर रामने उसे नवधा भक्तिका उपदेश दिया। अन्तमें, रामके पूछनेपर उसने उन्हें पंपासरकी ओर जाने और सुग्रीवसे मैत्री करनेकी बातें बताकर 'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे'की गति प्राप्त की। दण्डकारण्यमें रामका लक्ष्मणके प्रति दिया गया भक्ति और ज्ञानका उपदेश, सीताको पावकमें निवास करनेका आदेश तथा पंपासरके तीरपर विरही राम और नारद-मिलनके जो प्रसंग 'मानस'में समाविष्ट हैं वे 'वाल्मीकीय रामायण' में नही हैं।

ऋष्यमूक पर्वतके समीप दोनों वीरोंको आते हुए देख सुग्रीव शंकित और त्रस्त हुए। उन्होंने हनुमान्‌को भेद लेनेके लिए भेजा। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार हनुमान् भिक्षुरूप[२]में गये हैं, पर 'मानस'के अनुसार वटुरूपमें। यही नहीं, इसी प्रसंगमें दोनों रामायणोंके हनुमान्‌के द्वारा किये गये वार्तालापमें भी बड़ा अन्तर है। 'मानस'में तो थोड़ी वार्ताके उपरान्त 'प्रभु पहिचान परेउ गहि चरना 'अथवा 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदय निज नाथहिं चीन्हीं॥' की स्थिति दिखायी गयी है; उधर 'वाल्मीकीय रामायण'में ऐसा नहीं दिखाया गया है। वहाँ तो हनुमान् लगातार लच्छेदार संस्कृत बोलते हुए दिखाई पड़ते हैं और अन्तमें रामने

१. दे० 'वाल्मी० रामा०'अरण्य० सर्ग ७४:३३

२. दे० वहीं, किष्कि० सर्ग ३:२

लक्ष्मणसे उनके भाषणकी शुद्धता और मधुरताकी सराहना भी की है[१]। 'वाल्मीकीय रामायण'में राम-बाणसे विद्ध होकर बालिने जो अति कटु और व्यंग्य-पूर्ण बातें कही हैं,[२] वे 'मानस'में नहीं। यहाँ तो निरुत्तर हो जानेपर बालिने रामकी स्तुति की है और अंगदको उन्हें ही सौंपा है। 'वाल्मीकीय रामायण'में बालिने रामकी स्तुति नहीं की है, अंगदको सुग्रीवकी शरणमें छोड़ा है[३]। तारा-विलाप दोनों रामायणोंमें है, पर आदिकविने 'तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ध्यान हरि लीन्ही माया॥' या 'उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥' आदिका उल्लेख नहीं किया है। रामके प्रवर्षण-गिरि-प्रवासके प्रसंगमें मानसकारने दिखाया है कि रामके निवास करनेके लिए देवोंने स्वयं आकर वहाँ रमणीय गुफा बना रखी थी[४]। 'वाल्मीकीय रामायण'में रमणीय गुफाका वर्णन है, पर इसका कोई उल्लेख नहीं कि देवोंने उसे रामके लिए बनाया। प्रवर्षण-प्रवासके ही सिलसिलेमें वाल्मीकिने वर्षा और शरद् ऋतुका जो विस्तृत और रुचिर वर्णन किया है उसके समक्ष तुलसीका वर्णन बच्चा-सा लगता है। इसके अतिरिक्त जहाँ आदिकविका वर्णन प्रकृतिके विविध विलासोंको मूर्तिमान् करता है,[५] वहाँ बाबाजीका वर्णन उसके विविध अवयवोंसे कुछ न कुछ उपदेश ग्रहण करानेमें भी सहायक होता है। सुग्रीवकी असावधानीपर रामका स्वयं रुष्ट होना, फिर लक्ष्मणका उग्र क्रोध देखकर उन्हें समझा-बुझाकर किष्किन्धामें वानरराजको भयभीत करनेके लिए भेजना तथा लक्ष्मणका अन्तःपुरमें प्रवेश करनेपर सुग्रीवकी घोर मद्यपता और विलासिता देखना और उसपर आग बबूला हो उठना, साथ ही बुद्धिमती ताराका नाना प्रकारके अनुनय-विनयोंसे उनका प्रशमन आदि प्रसंगोंको

१. वाल्मीकि रामा० किष्कि० सर्ग ३:२७–३२
२. वही, ,, ३:१७
३. वही, ,, ३:२२
४. 'मानस' किष्कि० १२
५. दे० 'वाल्मी० रामा०' किष्कि० सर्ग २८, ३०

वाल्मीकिने स्वच्छ आईनेकी भाँति कई सर्गोंमें चमकाया है, पर गोस्वामीजीने प्रच्छन्न रूपसे इन सबका संकेतमात्र दिया है। विभिन्न प्रान्तोंके असख्य वानरोंके एकत्र होने और भिन्न-भिन्न दिशाओंमें भेजे जानेका विस्तार भी वाल्मीकिने अत्यधिक किया है; गोस्वामीजीने इस प्रसंगको भी संक्षेपमें चलता कर दिया है। इसी प्रकार वानरोंके बिल-प्रवेश और तपस्विनी-दर्शनकी कथा भी बहुत थोड़ेमें कही है। इसी प्रसंगमें यह भी दिखाया है कि तपस्विनी बन्दरोंको विवरसे बाहर समुद्रके किनारे लाकर स्वयं रामके पास पहुँची और वहाँ स्तुति करनेके उपरान्त प्रभुकी आज्ञासे बदरिकाश्रम गयीं[१]। 'वाल्मीकीय रामायण'में ये दोनों बातें नहीं हैं।

जाम्बवान्‌के उत्साह-वर्धन वचनोंको सुनकर हनुमान् तटपरके पर्वतपर उछलकर चढ़ गये और वहाँसे छलाँग मार समुद्र पार जानेके लिए हुमके। उस समय पर्वतकी जो दशा हुई उसका वाल्मीकिने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है,[२] तुलसीने केवल संकेत करके छोड़ दिया है। लंकाके सौन्दर्य-वर्णनमें वाल्मीकिका मन खूब रमा है,[३] फलतः उन्होंने उसका बड़ा ही व्यापक वर्णन किया है, पर तुलसीने इस विवरणको भी संक्षेपमें चलता किया है[४]। हनुमान्‌के मुष्टिका-प्रहारसे लंकिनी विनम्र हुई—यह वाल्मीकिने भी दिखाया है,[५] परन्तु उन्होंने तुलसीकी भाँति लंकिनीके मुखसे 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख......लव सतसंग।' आदि बातें नहीं कहलायी हैं। लंकामें प्रवेश करनेके अनन्तर सूक्ष्म रूपधारी हनुमान्‌ने कैसे वहाँका प्रत्येक भवन ढूँढ़ा, इसका बृहद् विवरण तो वाल्मीकिने अनेकानेक सर्गोंमें दिया ही है, साथ ही रावणके शयनागारमें जो-जो अद्‌भुत दृश्य दिखाई पड़े उनके वर्णनमें भी कमाल कर दिया है[६]। हनुमान् जब एक छोड़ दो-दो

१. 'मानस' किष्कि० २४. ६–८; २५.
२. 'वाल्मी० रामा०' सुन्दर० सर्ग १
३. वही, सुन्दर० सर्ग २, ३, ४
४. 'मानस' सुन्दर० २.३
५. 'वाल्मी० रामा०' सुन्दर० सर्ग ३:५१
६. दे० 'वाल्मी० रामा०' सुन्दर० सर्ग ३:५१

बार रावणके मन्दिर तथा अन्य भवनोंको भली भाँति ढूँढ़कर भी सीताको न देख पाये तो उनके हृदयमें ,संकल्प-विकल्पकी आँधी-सी चल पड़ी; इसी बीच अशोक-वाटिकाकी ओर दृष्टि गयी और विचार आया कि उधर तो ढूँढ़ा ही नहीं, अतः उधर बढ़नेके पूर्व ब्रह्मादि देवोंकी प्रार्थना की[१]। तदनन्तर अशोक-वाटिकामें जाकर शिंशपाके वृक्षपर चढ़े और वहींसे जानकीको देखा[२]। इधर गोस्वामीजीने दिखाया है कि जब हनुमान् रावणका भवन ढूँढ़ चुके तब—'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥' फिर क्या था। इसी मन्दिर-निवासी सन्तके साथ उनका समागम हुआ। विभीषणने ही उन्हें सीताका सारा वृत्तान्त बताया। सीताको रामकी मुद्रिका-प्राप्तिका प्रसंग है तो दोनों रामायणोंमें, किन्तु उसकी प्राप्तिके ढंगमें अन्तर है। 'वाल्मीकीय रामायण'में वर्णित है कि पहले हनुमान्ने सीताके समीप आकर रामके शारीरिक चिह्नोंका पूर्ण परिचय दिया, तदुपरान्त वानरोंके साथ रामने कैसे मैत्री जोड़ी, इसका वर्णन किया और अभिज्ञानके रूपमें रामकी मुद्रिका दी[३]। इधर 'मानस'-में सीताकी अंगार-याचनाके परिणामस्वरूप मानों अशोकने अंगार-सदृश दमकती हुई मुद्रिका ही गिरा दी। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार वाटिका-विध्वंस करनेका समाचार सुनकर रावणने बन्दरको पकड़ लानेके लिए पहले जम्बुमाली, सात मन्त्रिपुत्रों तथा विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर आदि पञ्च सेनानायकोंको क्रमशः भेजा[४] और उन सबके ध्वस्त होनेके बाद अक्षयकुमार आया[५]। मानसकारने केवल अक्षयकुमारके आनेका उल्लेख किया है, अन्य वीरोंका नहीं। 'मानस'में हनुमान्ने सीतासे फल खानेकी आज्ञा लेकर वाटिका-विध्वंस आदिका कौतुक शुरू किया है। 'वाल्मीकीय रामायण'में इसका कोई उल्लेख नहीं है कि सीताकी अनुमति लेकर हनुमान फल खाने गये। वहाँ तो स्पष्टतया कहा गया है कि

१. वाल्मी०, सुन्दर० सर्ग १३ २. वही, सुन्दर० सर्ग १४, १५
३. वही, सुन्दर० सर्ग ३६ ४. वही, सुन्दर० सर्ग ४४–४६
५. वही, सुन्दर० सर्ग ४७

हनुमान्‌ने रावणका विशेष रहस्य जानने और उससे वार्तालाप करनेके ध्येयसे वाटिका-ध्वंस करनेकी युक्ति निकाली[1]। दोनों रामायणोंके हनुमान्-रावण-संवादमें भी अन्तर है। 'मानस'के हनुमान्‌ने रावणको राम-भक्तिका उपदेश दिया है, पर 'वाल्मीकीय रामायण'में उन्होंने नीतिका मर्म समझाया है[2]। लंकाको दग्ध कर चुकनेपर हनुमान् बहुत आकुल हुए कि कहीं सीता भी तो नहीं जल गयी[3]। 'मानस'में इसका कोई उल्लेख नहीं है, यहाँ तो विभीषणका गृह भी सुरक्षित ही बताया गया है।

तुलसीकी भाँति वाल्मीकिने यह नहीं दिखाया है कि रावणने विभीषणको समझानेके पुरस्कारमें चरण-प्रहार किया, प्रत्युत उन्होंने इतना ही वर्णन किया है कि रावणने उन्हें अनेकानेक दुर्वचन कहे[4]। शरणागत विभीषण और रामका जो परस्पर वार्तालाप[5] 'मानस'में दिखाया गया है वह 'वाल्मीकीय रामायण' में अंकित राम-विभीषणकी वार्तासे भिन्न है[6]। गोस्वामीजीने सेतुबन्धके प्रसंगमें लिखा है कि रुचिर सेतु-निर्माण देखकर रामने पहले उस रम्य धरणीपर रामेश्वर-लिंग-स्थापन और पूजन किया-साथ ही उसका माहात्म्य भी गाया, तदनन्तर सेनाने प्रस्थान किया[7]। वाल्मीकिने शिव-लिंग-स्थापन और पूजनका कोई संकेत नहीं किया है। अंगदका दूत बनकर रावणकी सभामें जाना 'वाल्मीकीय रामायण'में आया है[8], पर यह प्रसंग 'मानस'में और ही ढंगसे वर्णित है। इसमें अंगदके चरणरोपनेकी प्रतिज्ञा, रावणके किरीट फेंकने और राम-भक्तिका उपदेश करनेकी बातें तुलसीने बढ़ा दी हैं। निशाचरों और वानरोंके युद्धका जो वृहत् सजीव वर्णन आदिकविने किया है वह तुलसीने नहीं।

१. दे० 'वाल्मी० रामा०' सुन्दर० सर्ग ४१

२. दे० वही, सुन्दर० सर्ग ५१ ३. वही, सुन्दर० सर्ग ५५

४. वही, युद्ध० सर्ग १६

५. 'मानस' सुन्दर० ४५–४८

६. दे० 'वाल्मी० रामा०' युद्ध० सर्ग १९ ७. 'मानस' लं० पृ० ३७४

८. 'वाल्मी० रामा०' युद्ध० सर्ग ४१ : ५९–९०

दोनों रामायणोंके प्रायः सभी काण्डोंके प्रमुख प्रसंगोंको दृष्टिमें रख-कर उनका परस्पर मिलान करके हमने देखा कि तुलसीने कितना अधिक फेरफार किया है। इन सभी प्रसंगोंके फेर-फारके मूलमें सावधानीपूर्वक देखनेसे यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि गोस्वामीजीने कहीं रामका भगवदवतार प्रतिपादित करनेके लिए, कहीं शीलवैचित्र्य और उपास्यताके विप्रतिषेधमें व्यक्तित्वके यथार्थ चित्रणको बुद्धिपूर्वक दबाकर भक्तिके आदर्शका प्राबल्य स्थापित करनेके लिए, कहीं उदात्त पात्रोंके शीलनिरूपण-के लिए, कहीं काव्य-सौष्ठव दिखाकर सर्व-सामान्य हृदयपर प्रभाव डालनेके लिए, कहीं उच्च कोटिकी शिष्टता और मर्यादाकी रक्षाके लिए, कहीं सैद्धान्तिक समन्वय या साधुताकी प्रतिष्ठाके लिए, कहीं प्रतिपक्षका अपकर्ष-प्रदर्शनके लिए तो कहीं विरसता और अनावश्यक विस्तार रोकनेके लिए 'वाल्मीकीय रामायण'की कथावस्तुसे मानसकी कथावस्तुमें अनल्प भेद कर दिया है।

'महारामायण' और तुलसीका राम-साहित्य

'महारामायण'के 'योगवासिष्ठ महारामायण,' 'आर्ष रामायण,' 'वासिष्ठरामायण,' 'ज्ञानवासिष्ठ,' 'वासिष्ठ'आदि नाम भी प्रचलित हैं। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक विचारोंका अक्षय भण्डार है। जटिल, गूढ़ और शुष्क दार्शनिक विचारोंको काव्य और आख्यायिकाओंके सुन्दर आवरणमें छिपाकर हृदयंगम करानेकी इसकी शैली रोचक है। इस ग्रन्थके किसी कथांश या इसकी दृष्टान्त-प्रदर्शनकी शैलीका अनुकरण तुलसीके राम-साहित्यमें नहीं हुआ है। अतएव इसकी रूप-रेखा या इसके समस्त सिद्धान्तोंका विश्लेषण करनेकी अपेक्षा नहीं। हमें तो केवल इतना ही संकेत करना है कि 'महारामायण'के कुछ विचारोंका प्रतिभास 'मानस'के कुछ विशेष प्रसंगोंपर अवगत होता है। यथा, अरण्य-काण्डमें नारीको 'मोह विपिनका वसन्त' आदि कहकर अन्तमें उसे 'अवगुन मूल सूलप्रद' और 'दुखखानि' सिद्ध करनेवाला प्रसंग 'योगवासिष्ठ'के कतिपय श्लोकों[1]की

१. दे० 'योगवासिष्ठ' १:२१:१, २, ८, १२, १६, २२

प्रतिच्छाया-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार जगत्की असारता और अनित्यताका संकेत करनेवाली गोस्वामीजीकी उक्तियोंमें[1] 'योगवाशिष्ठ'की एतद्विषयक कुछ उक्तियोंकी[2] प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है।

वैराग्य-प्रधान ग्रन्थ होनेके कारण 'योगवासिष्ठ' जगत्के प्रति मनको अनासक्त करनेके हेतु उसकी निस्सारताका अनेक प्रकारसे उपस्थापन करता है और मनकी साधनाके निमित्त उसके विषयगामी स्वरूपका विविध विधिसे निर्देश करता है। 'विनयपत्रिका'में संसार और मनकी बहुत कुछ वैसी ही अवस्थाओंका उल्लेख है; यद्यपि उतने उग्र रूपमें नहीं। ऐसा होते हुए भी हमें यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि 'योगवासिष्ठ' ज्ञानात्मक अद्वैत-मार्गको ग्रहण करता है, फलतः उसमें निर्दिष्ट साधनाकी प्रक्रिया ज्ञान तथा योग सिद्धान्तोंके अधिक निकट है। गोस्वामीजीका साध्य और साधन दोनों इससे भिन्न हैं।

अध्यात्मरामायण और तुलसीका राम-साहित्य

'अध्यात्मरामायण'ने गोस्वामीजीपर जितना गहरा प्रभाव डाला है उतना अन्यान्य पौराणिक रामायणोंने नहीं। गोस्वामीजीने 'मानस'के निर्माणमें जैसी व्यापक प्रेरणा 'अध्यात्मरामायण'से प्राप्त की वैसी किसी अन्य ग्रन्थसे नहीं। अत्यन्त संक्षेपमें, पहले दोनोंकी कथावस्तुमें साम्य देखिये, आर्त देवोंकी स्तुति सुनकर भगवान्का अवतार ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा करना, दशरथका पुत्रेष्टियज्ञ करना, रामका जन्म ग्रहण करना, बाललीला करना, विश्वामित्रका आना और राम-लक्ष्मणको अपने साथ ले जाना, रामका ताड़काका वध करना, यज्ञकी रक्षा करना, धनुर्भंग करना और विवाहित होना आदि बालकाण्डकी कथाएँ 'अध्यात्मरामायण'

१. दे० 'मानस' बाल० १११. १, २, ११७. १, २, अयो० ९१. ६, ८, ९२., उ० ७२,३ ५

२. दे० 'योगवासिष्ठ' ४:४५:२९, ३:४१:५३; ३:५७:५४; ३:१००:३५, ४:४५:१८, ३:६६:९

और 'मानस'में एक-सी हैं। इसी प्रकार राम-वनगमन, निषाद-मिलन, लक्ष्मणका निषादको प्रबोधन, सुमन्त्रका प्रत्यागमन, दशरथका प्राण-विसर्जन, भरतका ननिहालसे लौटना, वशिष्ठके आदेशसे पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करना, चित्रकूटको प्रस्थान करना, मार्गमें गुह और भरद्वाजसे भेंट करना तथा चित्रकूट-दर्शनके उपरान्त रामसे मिलना और संवाद आदि करना दोनों रामायणोंके अन्तर्गत एक-से हैं। विराध-वध, शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य-संवाद, लक्ष्मणको ज्ञान-दान, शूर्पणखाका नासिका-कर्णापहरण, खर-युद्ध, सीता-हरण, जटायु-संवाद, कबन्ध-वध, शबरी-मिलन आदिका वर्णन भी दोनों रामायणोंके अरण्यकाण्डमें अभिन्न-सा है। यही नहीं, दोनों ग्रन्थोंके किष्किन्धाकाण्डकी राम-सुग्रीवकी मैत्री, बालि-वध, तारा-विलाप, सुग्रीवको राजपदकी प्राप्ति, रामका प्रवर्षण-प्रवास, रामका शोक और लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीमें प्रवेश, सीताकी खोजके लिए वानरोंका प्रस्थान, योगिनी-भेंट, सम्पाती-परिचय और समुद्रोल्लंघनकी मन्त्रणा आदिमें भी एकता है। हनुमान्का समुद्र लाँघकर लंकामें प्रवेश करना और वाटिकामें जाना, रावण और राक्षसियोंका सीताको भय दिखाना, त्रिजटाका स्वप्न देखना, हनुमान्का जानकीसे मिलना, वाटिका-ध्वंस करना, ब्रह्मपाशमें बँध जाना, रावणसे संवाद करना, फिर लंका-दहन करना, अन्तमें सीतासे विदा मांगना और लौटकर रामको सीताका सन्देश सुनाना आदि कथाओंके सन्निवेशमें भी दोनों रामायणोंमें सादृश्य है। सेतु-निर्माण, रामेश्वर-प्रतिष्ठा, समुद्र-तरण, वानर-राक्षस-संग्राम, लक्ष्मण-मूर्च्छा, हनुमान्का द्रोणाचल-गमन, रावण-कालनेमि-संवाद, कालनेमिका स्वाँग और उसका वध, लक्ष्मणकी मूर्च्छाका निवारण, रावणकी विकट युक्तियोंसे कुम्भकरणका जागरण, उसका युद्ध-प्रयाण और वध, मेघनाद-वध, राम-रावण-संग्राम, रावण-वध, विभीषण-राज्याभिषेक, सीताकी अग्नि-परीक्षा, सीता-सहित अग्निका प्रादुर्भाव, देवताओंका आगमन और उनकी राम-स्तुति तथा रामकी अयोध्या-यात्रा आदिके प्रसंग भी दोनों रामायणोंमें मिलते-जुलते हैं।

अस्तु, 'मानस' और 'अध्यात्मरामायण'की कथावस्तुओंमें इस प्रकारकी तुल्यता देखते हुए यही दृढ़ प्रतीति होती है कि इन दोनोंके कथांशोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी जो कुछ अन्तर हो उसे समझ लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना हम गोस्वामीजीके अर्थाहरणका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकेंगे।

'अध्यात्मरामायण'की कथा आद्योपान्त उमा-महेश्वर-संवादके रूपमें चली है। इधर 'मानस'की कथाका विस्तार चार प्रधान संवादोंके रूपमें हुआ है जिनमें उमा-महेश्वर-संवाद भी एक है। 'मानस'के बालकाण्डमें वर्णित सती-चरित्र, काम-दहन, पार्वती-मंगल, भानुप्रतापकी कथा तथा जनक-वाटिकामें राम और सीताका परस्पर सम्प्रेक्षण आदिका 'अध्यात्म रामायण'में नामग्रहणतक नहीं है। इसी प्रकार 'मानस'के अयोध्याकाण्डका अपूर्व श्रीवृद्धिकारक निम्मांकित प्रसंग भी 'अध्यात्मरामायण'में नहीं है—'लघुवयस' तापसका सहसा आना, रामके दर्शनाभिलाषी कोल-किरातोंका फल फूल लेकर एकत्र होना और अपना परम प्रेम प्रकट करना, चित्रकूट-महिमा-वर्णन, चित्रकूटमें राम-भरतका मिलन होनेके पूर्व सीताका दुःस्वप्न देखना, ससैन्य भरतका आगमन सुनकर लक्ष्मणका क्रुद्ध होना, ससमाज जनकका आगमन और दोनों समाजकी वर्णनातीत व्याकुलता और उनके पारस्परिक आर्त संलापका विवरण, जनक-भरत-संवाद, शंकित इन्द्रादि देवोंका शोकातुर होना, भरतका रामवनमें परिभ्रमण करना, अत्रिसे मिलना और भरत-कूपकी प्रतिष्ठा करना आदि। 'मानस'में वर्णित जयन्तका वायसरूपमें आकर सीताके चरणमें चोंच मारना, खर-दूषणका अपने दूतोंसे रामको यह सन्देश भेजना कि वे अपनी स्त्री छोड़कर सकुशल लौट जायें, नारदका रामको नाना प्रकारकी विपत्ति झेलते देख उनके पास आना और उनके द्वारा समादृत होकर स्तुति करना आदि प्रसंग भी 'अध्यात्मरामायण'में नहीं हैं। 'मानस'में इसका मार्मिक वर्णन है कि बालिकी अन्तिम कोमल वाणीने रामके हृदयको पानी-पानी कर दिया और वे उसके सिरपर हाथ फेरते हुए बोल उठे—

'अचल करउँ तन राखहु प्राना।' 'अध्यात्मरामायण'में यह प्राण-दान देनेका प्रसंग नहीं है। 'मानस'के सुन्दरकाण्डमें अंकित हनुमद्विभीषण-मिलापका प्रसंग भी 'अध्यात्मरामायण'में नहीं है। रामाज्ञासे अंगदका रावणकी सभामें प्रवेश करके रावणसे संवाद करना, दोनोंका परस्पर दुर्वाक्य कहना और अन्तमें क्रुद्ध होकर अंगदका तड़पना और रावणके किरीटोंको रामके पास फेंकना, भरी सभामें अपना पाँव रोपकर मेघनाद आदि वीरोंका मान-मर्दन करना, मेघनादका रामको नागपाशमें बाँधना और नारदके द्वारा भेजे जानेपर गरुड़का नागपाश काटनेके लिए आना, रामका विभीषणको धर्म-रथका स्वरूप बताना, रामके बाणोंसे खण्डित होनेपर भी रावणके सिरों और भुजाओंके पुनः नूतन होनेका समाचार त्रिजटाके द्वारा सुनकर सीताका परम विषण्ण होना—ये सभी प्रसंग ऐसे हैं जो 'मानस'में अत्यन्त सहृदयतापूर्वक चित्रित किये गये हैं, पर 'अध्यात्मरामायण'में इन सबका कोई उल्लेख नहीं है। 'अध्यात्मरामायण' 'मानस'के उत्तरकाण्डकी भुशुण्डि-गरुड़की रुचिर कथासे भी शून्य है।

यहाँतक तो 'मानस'के उन प्रसंगोंका उल्लेख किया गया जिनका 'अध्यात्म रामायण'में सर्वथा अभाव है। अब कुछ ऐसे प्रसंगोंको देखना चाहिये जो मूल रूपमें तो 'अध्यात्मरामायण'से गृहीत अवश्य हुए हैं, पर गोस्वामीजीने स्वतन्त्रतापूर्वक उनके विस्तारमें हेर-फेर कर लिया है। यथा, रामजन्मके हेतु देवोंकी स्तुति करना यद्यपि दोनों रामायणोंमें है, पर मानस' के अनुसार भार-पीड़िता पृथ्वी देवोंके सहित विरञ्चि-लोक गयी और वहीं 'हरिब्यापक सर्बत्र समाना' जानकर देवोंने स्तुति की। तदनन्तर आकाशवाणीके द्वारा उन्हें आश्वासन मिला[1]। उधर 'अध्यात्मरामायण'में ब्रह्मा देवोंको साथ लिये क्षीरसागरके तटपर गये और वहीं सबने स्तुति की। विष्णु स्वयं प्रकट हुए और अपने अवतार ग्रहण करनेकी बात कही[2]। रामके धनुष्

१. दे० 'मानस' बाल० १८४-१८७

२. 'अध्यात्म रामा०' बाल० २:६—१८

तोड़ने और परशुरामके आगमन एवं संवादके प्रसंगोंको भी गोस्वामीजीने 'अध्यात्मरामायण'के इन प्रसंगोंसे अधिक प्रभविष्णु एवं मार्मिक बनानेके लिए इनके विस्तार तथा पूर्वापर स्थान देनेमें अभीष्ट फेरफार कर लिया है। 'मानस'के अनुसार दशरथ रामको युवराज पदपर बिठानेके निमित्त गुरु-की अनुमति लेनेके लिए स्वयं गुरुके पास गये और उन्हें अपना मन्तव्य सुनाया[1]। 'अध्यात्मरामायण'में राजाने गुरुको एकान्तमें अपने पास बुलाकार अपनी अभिलाषा प्रकट की[2]। गोस्वामीजीने दिखाया है कि वनवासका समाचार सुनते ही सीता भी कौसल्याके पास आ गयी[3]। माताने रामसे प्रस्ताव किया कि वे सीताको उनके समीप ही छोड़ते जायें, रामने माताके सामने ही सीताको नाना प्रकारसे समझाया। 'अध्यात्मरामायण' में सीता कौसल्याके पास नहीं आयीं, प्रत्युत उन्हें समझानेके लिए राम स्वयं अपने महलमें गये[4]। 'मानस'के वर्णनसे अवगत होता है कि सीताको समझा-बुझाकर हार जानेपर रामने उन्हें साथ चलनेकी अनुमति दे दी, तदनन्तर वनवासका समाचार सुनकर लक्ष्मण भी अति व्याकुल होकर दौड़े आये[5]। उधर 'अध्यात्मरामायण'में दिखाया गया है कि जब राम कौसल्याके पास बिदा लेनेके लिए गये तो उनके साथ लक्ष्मण भी थे[6]। रामने पहले लक्ष्मणको समझाया, तत्पश्चात् वे सीताके महलमें गये[7]। 'अध्यात्मरामायण'के अनुसार विवर-प्रवेशके उपरान्त बानरोंके आँख मूँदनेपर स्वयम्प्रभाने उन्हें उसी वनमें लाकर छोड़ा जहाँसे वे आये थे[8], पर 'मानस'में दिखाया गया है कि स्वयम्प्रभाने उन्हें समुद्र-तटपर छोड़ा[9]। 'अध्यात्मरामायण'में विस्तारपूर्वक वर्णित दुन्दुभी दैत्य, सप्तताल, स्वयम्प्रभा, सम्पाती आदिकी कथाओंका गोस्वामीजीने केवल संकेतमात्र

---

१. 'मानस' अयो० २. १–८ २. 'अध्या० रामा०' अयो० २:१-४
३. 'मानस' अयो० ५७ ४. 'अध्या० रामा०' अयो० ४:५३
५. 'मानस' अयो० ६९. १ ६. अध्या० रामा०' अयो० ४:१४
७. 'अध्या० रामा०' अयो० ४:१९–५१ ८. वही, किष्कि० ६:५८
९. 'मानस' किष्कि० २४. ६

किया है। सीताको रामकी मुद्रिका प्राप्तिका प्रसग भी 'मानस'में भिन्न प्रकारसे दिखाया गया है। इसी प्रकार और भी अनेकानेका प्रसंग हैं जिन्हें तुलसीने यथारुचि परिवर्तित करके अपनाया है। यहाँ अवकाश नहीं कि और अधिक प्रसंगोंका संकेतमात्र भी दिया जा सके।

गोस्वामीजीने 'मानस'में अध्यात्मरामायणकी अनेकानेक कथाओं और प्रसंगोंको अनावश्यक समझकर उनका उल्लेखतक नहीं किया। उन्होंने 'अध्यात्मरामायण'के उत्तरकाण्डका समस्त कथांश तो छोड़ ही दिया है, साथ ही उसके अन्य काण्डोंके थोड़े बहुत प्रसंग भी नहीं लिये। यहाँ उन अगृहीत प्रसंगोंकी चर्चा व्यर्थ है।

'अध्यात्मरामायण'की कथावस्तुसे निकट सम्बन्ध होनेके कारण यह भी स्वाभाविक था कि उसके कुछ भावों और उक्तियोंकी प्रतिच्छाया भी 'मानस'में आ जाती। नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(क) 'यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्ययाज्ञानविप्लवे।
तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि॥
भरणाद्भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्।
शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत॥'

'अध्या० रामा०' बाल० ३:४०,४१

'जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिस्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय सकल-जगत-आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥'

'मानस' पृ० ९३

... ...

(ख) 'मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी।'

'अध्या० रामा०' बाल० ६:३

'चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥'

'मानस' पृ० २०८

(ग) 'ब्रूहि कं धनिनं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियङ्करम्।
धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम्॥'

'अध्या० रामा०' अयो० ३:१२।

'कहु केहि रंकहुँ करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकासउँ देसू॥'

... ... 'मानस' पृ० १८०

(घ) 'अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियौ कृती।
जगत्स्थितिलयौ सर्गं लीलया कर्तुमुद्यतौ॥
स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ।
नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः॥'

'अध्या० रामा०' किष्कि० १:१५, १६

'की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन-पति लीन्ह मनुज अवतार'।

'मानस' पृ० ३२८

'अध्यात्मरामयण'के आध्यात्मिक विचारों और सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजी कहाँतक प्रभावित हुए, यह भी विचारणीय है। सर्वप्रथम रामका ईश्वरत्व लीजिये। 'अध्यात्मरामायण'के अनुसार रामने लक्ष्मणको अपना यथार्थ स्वरूप यों बताया है—'मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, अच्छेद्य, भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सदा ही मुक्त अचिन्त्य शक्ति, अतीन्द्रिय, अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश हृदयमें मेरा चिन्तन करते हैं[1]।' रामके इसी शुद्ध परिपूर्ण सच्चिदानन्दत्व, ब्रह्मत्व, सर्वव्यापकत्व, निर्विकारत्व, निरञ्जनत्व आदिकी प्रतिष्ठाका

१. 'अध्या० रामा०' उ० ५:४३, ४४

प्रयास आद्योपान्त दिखाई पड़ता है। ग्रन्थभरमें ऐसे प्रसंगोंकी भरमार है[1]। इधर 'मानस'में भी रामका परमात्मत्व और ब्रह्मत्व प्रतिपादित करने-वाले प्रसंगोंकी कमी नहीं है[2]।

रामके सगुण ब्रह्मत्वका समर्थन भी 'अध्यात्मरामायण'[3] और 'मानस'[4] दोनोंमें एक-सा पाया जाता है। जिज्ञास्य है कि इन दोनों रामायणोंके अनुसार निर्गुण और सगुण स्वरूपमें भेद क्या है। 'अध्यात्मरामायण'-में कहा गया है कि वही पुराण-पुरुष परमात्मा राम संसारपर अनुग्रह करनेके लिए एक, स्वयम्प्रकाश, अनन्त और सबके आदिकारण होते हुए भी जगन्मोहन मायामय रूप धारण करते हैं[5]। 'मानस'में दोनों रूप क्यों कर अभिन्न बताये गये हैं, यह देखिये—

'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे[6]॥'

परात्पर परमात्मा निर्गुण-सगुण-स्वरूप राम ही अपनी मायाके द्वारा अवतीर्ण होते और मायाके ही कारण मनुष्यवत् प्रतीत होते, साथ ही नाना

---

१. दे० वही, बा० १:१, २, ३२, ३३; ५:५३–५६; अयो० १:२६–२८; ९:८२; अरण्य० ३:२०–२९; ९:३०–३३; सुन्दर ४:४३; युद्ध १:५४; ३:२८; ८:४०; १४:२१, २४; उ० १:६२, २:७७

२. देखिये 'मानस' बा० १२. ३४, दो० ५१ के ऊपरका छंद; ११७. ४–८; १४३. १, ४, ५, ६, १९८; २०५; ३४०. ४–८; अयो० ९२. ७, ८, १२५. ५; किष्कि० २५. १२; सुन्दर ३८. १, २; लं० १०९. ५, ६; उ० ७१. ३–७

३. दे० 'अध्या० रामा०' बा० १:१८; २:१५; १:४१, ४२; अयो० २:२५; अरण्य० ३:३१; युद्ध १५:५२

४. 'मानस' बा० ११६. ७; ३४०. ६; अरण्य० १०. ११; ३१. ३ उ० १२. १

५. 'अध्या० रामा०' बा० ५:४९ ६. 'मानस' बा० ११५. १-३

प्रकारकी विचित्र मानवीय लीलाएँ करते हैं। रामकी अवतारी सृष्टि और उनकी लीला-सम्बन्धी बातें दोनों रामायणोंमें एक-सी हैं।

उभय रामायणोंमें रामका विष्णुत्व प्रदर्शित करनेवाले प्रसंग एक नहीं, अनेक हैं[1]। अतः देखना चाहिये कि विष्णुके स्वरूपके विषयमें दोनों ग्रन्थोंके क्या विचार हैं। 'अध्यात्मरामायण'के अनुसार विष्णु परमात्मा हैं, आदि-नारायण हैं, अपनी त्रिगुणमयी मायाका आश्रय करके इस जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं, पर ज्ञानस्वरूप वे इससे लिप्त नहीं होते[2]। पुरुषोत्तम आदिनारायण ही मायाशबलित होकर विभिन्न विग्रहधारी-से प्रतीत हुआ करते हैं[3]। 'मानस'में भी विष्णु परमात्मा, परब्रह्मसे अभिन्न माने गये हैं, इसीसे उन्हें 'हरि व्यापक सर्बत्र समाना', 'घट-घट-वासी', 'अविनाशी' 'परमानन्द' आदि घोषित करते हुए इन्दिरा-रमण, निर्गुण, अनन्त, अनामय, अनघ, अनेक, एक, अनाम, निरञ्जन, सर्व, सर्वगत, सर्व-उरालय आदि सभी ठहराया-गया है[4]। यही परम विष्णु नाना अवतार धारण करते हैं[5]। इन्हींकी माया अनेकानेक ब्रह्माण्डोंकी रचना करनेवाली है।

दोनों रामायणोंके आधारपर दिखाये गये इस संक्षिप्त आध्यात्मिक विवरणसे यही निष्कर्ष निकलता है कि राम ही परमात्मा हैं, वे ही वेदोक्त सगुण और निर्गुण ब्रह्म हैं, उनमें और विष्णुमें कोई भेद नहीं।

---

१. देखिये 'अध्या० रामा०' बा० २:२८; ३:१५, १८; अयो० २:२३; ६:३७, अरण्य० २:१५, १६, युद्ध० ७:६२, ६४, १३:१०, १२ इत्यादि। 'मानस' बा० १२१. ४,५; १२२. १, २, १२३. १, २, १२४. १३९

२. दे० 'अध्या० रामा०' बा० २:१४, १५, अयो० १:३१, ५:३०, ७:३१, अरण्य० ८:३४, युद्ध० १०:५७, उ० ३:३३, ३४, आदि।

३. वही, अयो० ५:१२

४. 'मानस' बा० १८४. ४, ७; १८५ ५, ६; १९१. ९, उ० ३३. २-७

५. वही, बा० १५१. ४

सीताका आध्यात्मिक स्वरूप समझनेके लिए पहले 'अध्यात्मरामायण'-में सीताकी यह उक्ति देखिये—

'मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम् ।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता[1] ॥'

इसी प्रकारके और भी प्रसंग हैं जो स्पष्टतः व्यक्त करते हैं कि सीता ही परमात्माकी परम शक्ति हैं[2], आदि नारायणकी योगमाया हैं[3], साक्षात् जगद्रूपिणी चिच्छक्ति हैं, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारकारिणी हैं[4], लक्ष्मी भी हैं[5], मूल प्रकृति, योगमाया, शक्ति एवं लक्ष्मी एक ही हैं[6]। 'मानस'में भी सीता उसी परमात्माकी आदि शक्ति ठहरायी गयी हैं—

'आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला ।
बाम भाग सोभति अनुकूला ॥
भृकुटि बिलास जासु लय होई ।
राम बाम दिसि सीता सोई[7] ॥'

जगत्‌का उद्भव, स्थिति और संहार ब्रह्मकी जिस शक्ति माया अथवा मूल प्रकृतिसे होता है, सीता वही हैं[8]। सीताका लक्ष्मीसे तादात्म्य भी बराबर किया गया है। 'रमा'का प्रयोग सीताके लिए हुआ है[9]।

अस्तु, सीताके मूल प्रकृतित्व, मायात्व तथा लक्ष्मीत्वके सम्बन्धमें दोनों रामायणोंके मत एक ही हैं।

'अध्यात्मरामायण'के अनुसार लक्ष्मण मायासे जितनी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन सबके आधार भगवान् विष्णुके स्वरूपभूत शेषनागके

---

१. 'अध्या० रामा०' बा० १:३४ २. 'अध्या० रामा०' बा० ७:२७

३. वही, बा० २:२८; ४:१८; अयो० ५:११; ९:४३; सुन्दर० १:१८

४. वही, किष्कि० ७:१७; युद्ध० ४:४०

५. वही, अयो० ५:११; अरण्य० २:१५, १६; युद्ध० २:१६; ४:४०

६. वही, अयो० ५:११; अरण्य० ३:२२ ७. 'मानस' बा० १४७. ४,५

८. वही, बा० मंगलाचरण श्लोक ५ ९. वही, लं० १०६. ९; उ० ११

अंशावतार हैं[1], अखिल भुवनाधार हैं[2], साक्षात् नारायणके अंश हैं; अजन्मा, प्रकाशस्वरूप परमेश्वर भी हैं[3]। निखिल लोकाधार विष्णु जो समस्त जगत्के सार परमेश्वरस्वरूप विराट् पुरुष हैं वही लक्ष्मण हैं[4]।

'मानस'में भी लक्ष्मण 'सहस्र सीस जग कारन[5],' 'सहस सीस अहीस महिधर', 'सचराचर धनी[6]', 'जगदाधार अनन्त[7]', 'अखिल बिस्व कारन करन[8]' आदि माने गये हैं। वे रामके ही स्वरूप हैं। वे ही अनन्त हैं और वे ही पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं, अतः उन्हें ही 'अनन्त' और 'भूधर' भी कहा गया है[9]।

भरतका विश्व भरण-पोषण-कर्तृत्व तथा शत्रुघ्नका शत्रु-हन्तृत्व सम्बन्धी विचार भी दोनों रामायणोंमें एक-से हैं[10]। रामका अवतार चार अंशोंमें हुआ। यह चतुर्व्यूहका सिद्धान्त भी दोनों रामायणोंमें एक-सा है[11]। दोनोंके इस मतमें भी एकता है कि वानरगण भगवान्के सगुणोपासकगण थे और वे सब देवांशसे अवतीर्ण हुए थे[12]। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थोंमें भगवान्के अवतार-सम्बन्धी विचारोंमें भी साम्य[13] होनेके

१. 'अध्या० रामा०' युद्ध ६:९
२. वही, बा० ४:१७; अयो० ५:१२, ९:४४
३. 'अध्या० रामा०' युद्ध ६:१७
४. वही, युद्ध ६:११
५. 'मानस' बा० १६.७
६. 'मानस' अयो० १२४.११
७. वही, बा० १९७, लं० ५३.४; ५४, ७५
८. वही, बा० २०८
९. वही, उ० ३३. २, ४
१०. दे० 'मानस' बा० १९६.७, ८, 'अध्या० रामा०' बा० ३:४१
११. 'मानस' बा० १५१. २, १८६. २, 'अध्या० रामा०' बा० २:२७, ६:६३, ६४
१२. 'मानस' बा० १८७. ३, ४, लं० ११३. ८, 'अध्या० रामा०' बा० ६:२७, किष्क० ७:१९
१३. 'मानस' बा० १२०. ६–८, अयो० ९३; सुन्दर० ४७.८, उ० ७२ 'अध्या० रामा०' बा० १:१, ३:३०, किष्कि० २:३६, ५:२९, ६:६४, युद्ध० १५:५३

साथ ही यह भी निर्दिष्ट है कि रामने ही अपने पूर्वके अवतारोंमें मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन आदि अवतार भी धारण किये थे[१]।

'अध्यात्मरामायण'में मायाकी जो विशद विवेचना हुई है अब उसे भी थोड़ेमें समझ लीजिये। माया त्रिगुणात्मक है[२], उसीसे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं[३]; ब्रह्मादि प्रजाएँ उसीसे उत्पन्न हैं[४]; वह रामकी सन्निधि प्राप्त कर सृष्टि करती है[५]; वह निर्गुण रामका आश्रय पाकर ही भासमान होती है; उन्हींमें रहती और उन्हींकी शक्ति कही जाती है[६]; वह रामके अधीन है; नाना रूप धारण करनेके कारण वह बहुरूपिणी नर्तकीमात्र है और उनसे डरती रहती है[७]; वह विद्या और अविद्या दो रूपोंमें भासती है[८]; इनमें प्रथम संसृतिसे मुक्त करनेवाली है[९] तथा दूसरी संसृतिका हेतु है[१०], प्रवृत्तिमार्गी अविद्याके वशीभूत होते हैं[११], पर निवृत्तिमार्गी विद्यामय होते हैं[१२]।

'मानस'के अनुसार भी माया त्रिगुणात्मक ही ठहरती है—'एक रचइ जग गुन बस जाके[१३]।' माया ही सृष्टिकी कारक, धारक और संहारक है[१४]; ब्रह्मादि देव सभी उसके वशवर्ती हैं, चराचर जीव तो

---

१. 'मानस' बा० १२१, ६–८, लं० १०९. ७.
'अध्या० रामा०' अयो० ५:१४–२०, युद्ध १०:४७–५४
२. 'अध्या० रामा०' अयो० १:११
३. 'अध्या० रामा०' बा० १:३४, अयो० ५:२३
४. वही, अयो० १:११ ५. वही, अयो० १:११; युद्ध १४:२८
६. वही, अयो० १:११; अरण्य० ३:२०
७. वही, अयो० २:३२; ९:५९, ९२
८. वही, अरण्य० ३:३२ ९. वही, अरण्य० ३:३३; अयो० ४:३४
१०. वही, अयो० ४:३४; अरण्य० ३:३३; सुन्दर० ४:१८; युद्ध० ३:२२
११. वही, अरण्य० ३:३३ १२. वही अरण्य० ३:३३
१३. 'मानस' अरण्य० १४.६
१४. 'मानस' अयो० २२४. ४; अरण्य० १४. ३, सुन्दर० २०. ४; ५८.२,३

उसकी मुट्ठीमें हैं ही[१]; वह स्वतः निर्बल है, पर रामका बल पाकर विश्व-निर्माण करती है[२]; वह स्वयं जड़ भी है, पर रामका आश्रय पाकर चेतनवत् भासती है[३]; वह रामके अधीन है। यद्यपि वह विश्व-विमोहिनी है, परन्तु रामसे डरती रहती है[४]; रामके भ्रूविलासके अनुसार वह नटीकी तरह नाचा करती है, निश्चय ही भक्ति-राज-महिषीके सामने वह नर्तकी मात्र है[५]।' उसके 'विद्या' और 'अविद्या' दो भेद हैं[६]। अविद्या संसृतिका हेतु है और विद्या जीवको संसृतिसे मुक्त करनेवाली है, प्रवृत्ति-मार्गी प्रथमके वशीभूत होते हैं और निवृत्तिमार्गी भक्तगण दूसरेके[७]।

अब रामोन्मुख होनेके लिए अपेक्षित साधनोंको लीजिये। 'अध्यात्म-रामायण'के कुछ प्रसंगों[८]में स्पष्टतः कहा गया है कि रामकी प्राप्ति एवं संसारसे छुटकारा पानेका प्रमुख तथा सर्वोत्कृष्ट मार्ग है रामकी भक्ति। 'मानस'में राम-भक्ति क्योंकर सर्वश्रेष्ठ और परमावश्यक ठहरायी गयी है इसे यहाँ दिखानेकी कोई आवश्यकता नहीं। सन्तवृत्ति और सत्संग भी भगवद्भक्तिके लिए नितान्त आवश्यक हैं। 'अध्यात्मरामायण'में इन्हें मोक्षके प्रमुख साधनोंमें बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति इन साधनोंसे सम्पन्न रहता है उसमें राम-भक्तिके अन्यान्य साधन स्वतः चले आते हैं[९]। इधर 'मानस'में सन्तवृत्ति और सत्संगको जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है उसका तो कुछ कहना ही नहीं। प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्रतिष्ठाके

१. वही, बा० मंगलाचरण श्लोक ६
२. वही, अरण्य० १४. ६, सुन्दर० २०. ४,
३. वही, बा० ११६; ७, ८; ११७. १,
४. वही, बा० १९९. ४; २०१. ३
५. 'मानस' उ० ७१, १, २, ११५,४,५ ६. वही, अरण्य० १४. ४
७. वही, उ० ७७. २, ३; ७८, २
८. 'अध्या० रामा०' बा० १:११, अयो० २:२९, युद्ध० ३:३१,३६
९. 'अध्या० रामा०' अरण्य० ३:३६-३९ १०:३३, ३१

हेतु जिन नवों साधनोंका उपदेश रामने शबरीको दिया है वे सब 'अध्यात्म रामायण' और 'मानस' दोनोंमें एक-से हैं[१]।

परम पद-प्राप्तिके आकांक्षी एवं परम कल्याणार्थीको चाहिये कि वह शिवाराधनमें भी दत्तचित्त रहे। इस विचारकी पुष्टि 'अध्यात्मरामायण' और मानस दोनोंमें की गयी है[२]। ज्ञान-विज्ञान और वैराग्यकी महत्ता, उपयोगिता और उपादेयता दोनोंमें स्वीकृत की गयी हैं[३]। जीव और ब्रह्मका अभेद भी दोनोंमें माना गया है[४]। भौतिक शरीरकी नश्वरता और उसमें रहनेवाले जीवकी नित्यता भी दोनोंमें निश्चित की गयी हैं[५]। सकाम कर्म ही बन्धनका कारण है, इस मतपर भी दोनोंमें साम्य है[६]। दोनोंमें चित्त-शुद्धिके अनेकानेक उपाय, बुद्धि, अहंकार आदिके सम्बन्धमें जिन तथ्योंका निरूपण हुआ है वे सब भी परस्पर मिलते-जुलते हैं[७], त्रिविध मुक्तिका सन्निवेश भी दोनोंमें है[८]।

१. दे० 'अध्या० रामा०' अरण्य० १०:२२-२८ 'मानस' अरण्य० ३४, ८, ३५, १-६

२. दे० 'अध्या० रामा०' युद्ध० ४:३, ४ 'मानस' लं० २,१-४.४,उ०४५

३. 'अध्या० रामा०' अयो० १:२८, ४:२०-३१, ७:९६-१०७, अरण्य० ४:३८-४१, 'मानस' उ० ९४. ५, ८३.१, ५४. १-४, ११४. १३, ११८, ३

४. 'अध्या० रामा०' अयो० ७:१०७; अरण्य ४:३०, 'मानस' अयो० १२५. ३; उ० ७७. ४, ५; ११०.६,

५. 'अध्या० रामा०' किष्कि० ३:१३, १४; युद्ध० १२:२७ 'मानस' किष्कि० १०. ४, ५

६. 'अध्या० रामा०' किष्कि० १:१८, 'मानस' उ० ४०.४–७; ४४.४,५, किष्कि० १६

७. 'अध्या० रामा०' अरण्य० ३:२३, २६, ३०; युद्ध० १३:११, १२, १४, २७, 'मानस' लं० १५; उ० ११७

८. 'अध्या० रामा०' अरण्य० २:३९; ८:४०, ५४; युद्ध० ११:८१, ८६; १६:१५, १९ 'मानस' अरण्य० ३१.१ २; ३६, किष्कि० १०. १; लं० ७०. ८; १०२. ९; ११६; उ० ११४. ४; १२९. १४

यह तो हुई दोनों ग्रन्थोंके विविध मतों और विचारोंके परस्पर साम्यकी चर्चा। अब ऐसे सैद्धान्तिक वैषम्यकी ओर भी दृष्टिपात करना चाहिये जिसे तुलसीने अपनी मौलवृत्तिके बलपर 'अध्यात्मरामायण'से कहीं भिन्न रूपमें प्रस्तुत किया है।

रामका सगुण-निर्गुण ब्रह्मत्व और विष्णुत्व यद्यपि दोनों रामायणोंमें है, तथापि गोस्वामीजीने रामको विष्णु आदिसे उत्कृष्ट ठहराया है। जहाँ 'अध्यात्मरामायण'में रामका विष्णुसे तादात्म्य करके भी अन्ततोगत्वा विष्णुको सर्वेसर्वा मान लिया गया है, वहाँ 'मानस'में रामका विष्णुसे तादात्म्य करनेके उपरान्त रामको विष्णुसे कहीं बढ़कर माना गया है। अनेकानेक त्रिदेव(ब्रह्मा, विष्णु, शिव)को भी रामका आराधक बताया गया है[1]; रामके अंशसे नाना त्रिदेवोंकी उत्पत्ति होती है[2], राम त्रिदेवोंसे परे हैं, उन्हें नचानेवाले हैं[3]; रामके अनन्य भक्तोंपर त्रिदेवोंकी मायाका कोई वश नहीं चलता[4]; त्रिदेव, शशि, सूर्य, माया, जीव, काल सभी रामकी आज्ञाके अनुवर्ती हैं[5]; रामके ही तेजसे त्रिदेव अपना-अपना उद्भव, स्थिति और संहारका कार्य करते हैं[6], लोक-प्रति-लोकके अनुसार विष्णु एवं ब्रह्मा आदि भी परिवर्तनशील होते हैं, पर राम सदैव अनेकानेक भुवनोंमें अद्वितीय ही हैं[7], करोड़ों त्रिदेवोंकी शक्ति रामकी शक्तिके समक्ष तुच्छ है[8], इत्यादि।

तुलसीने जैसे रामको त्रिदेवोंसे बढ़कर अनन्त शक्ति-सम्पन्न दिखाया है वैसे ही सीताको भी त्रिदेवोंकी शक्तियों(पार्वती, सरस्वती, लक्ष्मी)से कहीं बृहत् बताया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'अध्यात्मरामायण'में भी सीता मूल प्रकृति, माया एवं लक्ष्मीके ही रूपमें मानी गयी हैं, पर वहाँ उनका लक्ष्मीसे तादात्म्य करनेपर भी लक्ष्मीको ही सर्वोपरि कहा गया है।

१. 'मानस' बा० १४३.६ २. वही, अयो० १२५.१
३. वही, अयो० २३० ४. वही, अयो० २५२.६, ८
५. वही, सुन्दर० २०.५, २१ ६. वही, उ० ८०.१, ८१
७. वही, उ० ९१. ५,६ ८. वही, बा० १४७.३

परन्तु तुलसीने सीताका लक्ष्मीसे तादात्म्य किया है अवश्य, पर उन्होंने सीताको सर्वोपरि ठहराया है[1]। जगदम्बा सीता, उमा, रमा तथा ब्रह्माणीके द्वारा पूजित होती हैं[2]। विविध लोकोंके अनुसार जैसे त्रिदेवोंमें अनेकत्व और परिवर्तनशीलत्व है वैसे ही सती, विधात्री और इन्दिरामें भी, इसके विपरीत सीता अद्वितीय और अपरिवर्तनशील मानी गयी हैं[3]।

'मानस'में गोस्वामीजीने जिस प्रकार राम और सीताको परम तत्त्व परमात्मरूपमें देखा और उस दृष्टिसे विष्णुका हीनब्रह्मत्व तथा लक्ष्मीका हीन शक्तित्व प्रतिपादित किया ठीक उसी प्रकार उन्होंने रामभक्तिको चरम साध्यरूपमें देखा और ज्ञानादिको उसके अधीन ठहराते हुए सारे ग्रन्थको भक्तिके सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तों और अमृतमय भक्ति रससे भर दिया है, 'भगवदनुग्रह'के सिद्धान्तका वर्णन भी व्यापकतासे किया है। 'अध्यात्मरामायण' इन तत्त्वोंसे एक प्रकार शून्य-सा है। सन्त एवं सत्संग का जो विशद प्रकाशन 'मानस'में हुआ है वह 'अध्यात्मरामायण'में नहीं। वर्णाश्रम-धर्म, धर्मका व्यापक स्वरूप, सदाचार और लोकसंग्रहकी भावना आदि जिस कौशलके साथ 'मानस'में नगों की भाँति जड़ी गयी हैं वह 'अध्यात्मरामायण'में कहाँ?

'अध्यात्म रामायण'में ज्ञान चरम साध्य माना गया है। भक्ति ज्ञानका प्रथम साधन मानी गयी है[4], उसे ज्ञानयोग राज-भवनके शिखरपर पहुँचनेका सोपान कहा गया है[5]। ज्ञानयोगको दृढ़ करनेवाले विविध अभीष्ट उपादानों और साधनोंका जैसा विवरण उसमें है वैसा 'मानस'में नहीं। 'अध्यात्मरामायण'में निर्गुण ब्रह्म-चिन्तनको अत्यधिक प्रश्रय दिया गया है। इधर 'मानस' में निर्गुणोपासनाकी पूर्णतया अवहेलना तो नहीं की गयी है, पर सगुणोपासनाको ही प्राधान्य दिया गया है।

---

१. 'मानस' बा० १४७.३
२. वही, उ० २३.९
३. वही, बा० ५४.४
४. 'अध्या०रामा०' युद्ध० ७:६७
५. 'अध्या० रामा०' युद्ध० ३:३१

'अध्यात्मरामायण'में विष्णुका ही परमात्मत्व प्रतिपादित हुआ है। फलतः बीच-बीचमें विष्णु-भक्तिकी महिमा आदि बराबर प्रकट की गयी है। कहा है—'भगवान् विष्णुकी भक्ति बुद्धिको निर्मल करनेवाली है, उसीसे अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है और उससे दृढ़ बोध हो जानेपर मनुष्य परमपद पाता है[१]।' 'मानस'में विष्णु-भक्तिकी स्वतन्त्र रूपसे कोई विवेचना नहीं, यहाँ तो सर्वत्र ही राम-भक्तिका स्रोत स्पन्दमान होता है।

'अध्यात्मरामायण'में यद्यपि निर्गुणोपासनाका ही सर्वत्र समर्थन है, तथापि एक स्थलपर उसमें क्रिया-मार्ग (पूजा-पद्धति)का स्थूल स्वरूप भी विस्तार-पूर्वक वर्णित है[२]। मानसमें ऐसी पूजा पद्धतिकी व्याख्या नहीं है।

दोनों ग्रन्थोंकी कथावस्तु उनकी कुछ उक्तियों और उनके कुछ विचारों और प्रमुख सिद्धान्तोंका जो परस्पर मिलान किया गया है उसके आधारपर हम कह सकते हैं कि गोस्वामीजीके 'मानस'पर 'अध्यात्म-रामायण'का गहरा प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु प्रभावित होते हुए भी अपनी प्रचण्ड प्रतिभाके कारण उन्होंने अपनी मौलिकताके फलस्वरूप 'अध्यात्मरामायण'से गृहीत कथावस्तुमें नूतन कथांशोंका संयोजन, एकसे एक बढ़कर परिवर्तन, परिवर्धन तथा संकोचन कलापूर्ण ढंगसे कर लिया है, उससे गृहीत उक्तियोंको अधिकाधिक उत्कर्षमय बना लिया है। इसी प्रकार उससे प्राप्त सिद्धान्तों और विचारोंको और भी व्यापक, सार्वभौमिक तथा सार्वजनिक, सरल और सुलभ बनाकर उसपर अपनी मौलिकताकी छाप लगा दी है, साथ ही अपने ग्रन्थको सर्वशास्त्र-सम्मत बनानेके ध्येयसे उसमें सर्वसिद्धान्त समन्वयका मार्ग प्रतिष्ठित किया है। काव्यका वह अप्रतिम चमत्कार भी दिखाया है जो 'अध्यात्मरामायण'में स्वप्नमें भी न मिलेगा।

१. 'अध्या० रामा०' सुन्दर० ४:२२

२. वही, किष्कि० ४:१२–३७

संस्कृतके नाटकोंका प्रभाव

संस्कृतके प्राचीन पौराणिक रामायणों तथा अन्य जिन-जिन रामायणोंसे गोस्वामीजीको थोड़ी-बहुत प्रेरणा मिली अब उनपर प्रकाश डालनेका अवकाश नहीं। आगे संस्कृतके कुछ प्राचीन नाटकोंका प्रभाव दिखानेका प्रयास किया जाता है। हमारे कविको जिन नाटकोंने सीधे ही प्रभावित किया और जिनका प्रतिभास उसकी रचनाओंमें अवगत होता है उनमें 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक' तथा 'उत्तररामचरित' उल्लेखनीय हैं।

गोस्वामीजीके हृदय-पटलपर 'प्रसन्नराघव'की 'कोमल-काव्य-कौशल-कला-लीलावती-भारती'की मनोज्ञ मूर्ति प्रतिबिम्बित हुई और वे उस रमणीय दृश्यको न भुला सके। यही कारण है कि 'मानस'में वर्णित जनक-वाटिकामें राम-सीताका परस्परावलोकन, धनुर्भंगके उपरान्त रंग-भूमिमें परशुरामका आगमन तथा उनका और लक्ष्मणका संवाद आदिके प्रसंगोंका सर्जन 'प्रसन्नराघव'के ही ढंगपर किया गया है। यह अवश्य है कि उक्त गृहीत कथांशोंमें भी जो विस्तार गोस्वामीजीको ईप्सित नहीं था उसे उन्होंने त्याग दिया है। यथा, 'प्रसन्नराघव'के अनुसार रावण और बाणासुर दोनों स्वयंवरमें आये और उनमें परस्पर ओजपूर्ण संवाद भी हुआ। गोस्वामीजीने इस विस्तारको नगण्य-सा कर दिया है। केवल एक पंक्तिमें इस कथाका संकेत करके चलता किया है—

'रावन बान महाभट हारे। देखि सरासन गवँहिं सिधारे॥'

परशुराम-आगमनकी कथा भी 'प्रसन्नराघव'में विस्तृत रूपमें है। इसके अनुसार परशुरामने अपने शिष्यके द्वारा जनकको यह सन्देश भेजा कि वे (जनक) धनुष्के आधारपर सीताका स्वयंवर न रचें, प्रत्युत सामान्य रूपसे स्वयंवर करके किसी प्रतापशाली राजासे जानकीका विवाह कर दें। अपनी प्रतिज्ञाके भंगके भयसे जनकने परशुरामके सन्देशपर ध्यान नहीं दिया। गोस्वामीजीने इस कथांशको बिलकुल छोड़ दिया है। इसकी ओर संकेत करनेका तात्पर्य यह है कि उन्होंने 'प्रसन्नराघव'से गृहीत कथांश-की भी अन्धी नकल नहीं की है।

'प्रसन्नराघव'की कुछ सरस उक्तियोंको गोस्वामीजीने ग्रहण करके उनका भी सम्मान बढ़ाया। पितामह ब्रह्माके भवनसे अपनी लम्बी यात्रा समाप्त करके जब सरस्वती इस लोकमें आती हैं तो उनका श्रम किस प्रकार दूर होता है, इसपर 'प्रसन्नराघव'की यह उक्ति देखिये—

'झगिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामहविष्टपान्-
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनां न चेद्वगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम्[1] ॥'

इसी भावको गोस्वामीजीने यों व्यक्त किया है—

'भगत हेतु बिधि सदन बिहाई। सुमिरत सादर आवत धाई॥
राम चरितसर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाये[2] ॥'

अपने वाग्विलासपर सभी उल्लसित होते हैं, पर पर-भणितिसे तोष सन्त जनोंको ही होता है, यह बात 'प्रसन्नराघव'में यों कही गयी है—

'अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः[3] ।'

यह भाव गोस्वामीके द्वारा किस प्रकार गृहीत हुआ, यह देखिये—

'निज कबित्त केहि लाग न नीका।
सरस होइ अथवा अति फीका॥
जे पर भनित सुनत हरषाहीं।
ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं[4] ॥'

जामदग्न्यसे राम-लक्ष्मणका जो संवाद 'प्रसन्नराघव'में दिखाया गया है[5] उसकी प्रतिच्छाया 'मानस'के परशुराम-संवादमें मिलती है। इसीसे दोनों ग्रन्थोंके उक्त प्रसंगकी अनेक उक्तियाँ एक-सी हैं, 'मानस'के अनुसार

१. 'प्रसन्नराघव' प्रथम अंक पृ० ५
२. 'मानस' बा० १०१. ४, ५
३. 'प्रसन्नराघव' प्रथम अंक पृ० ७
४. 'मानस' बा० ७.११, १२
५. 'प्रसन्नराघव' चतुर्थ अंक

अशोकवाटिकामें स्थित कृशतन्वी, सन्तप्ता वैदेहीने रावणको जो उत्तर दिया[1] वह 'प्रसन्नराघव'में रावणके प्रति सीताके द्वारा दिये गये उत्तरसे मिलता-जुलता है[2]। इस प्रसंगकी केवल दो पंक्तियाँ बतौर उदाहरणके देखिये। मानस'की सीताकी उक्ति है—

चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति-बिरह-अनल-संजातं॥
सीतल निसित बहसि बर-धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

उधर 'प्रसन्नराघव'में सीताकी उक्ति है—

चंद्रहास हर मे परितापं
रामचन्द्रविरहानलजातम्।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्ण-
धारया वहसि शीतलमम्भः॥

'मानस'में हनुमान्‌ने सीतासे रामकी हृदय-विद्राविणी दशाका वर्णन करते हुए उनका जो सन्देश[3] सुनाया है वह 'प्रसन्नराघव'के कुछ श्लोकों[4]-का प्रतिभास-सा प्रकट होता है। रावणके प्रबोधनार्थ विभीषणकी यह उक्ति—

'जो आपन चाहइ कल्याना।
सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो पर नारि लिलारु गोसाईं।
तजइ चौथि के चंद की नाईं[5]॥'

भी 'प्रसन्नराघव'के निम्नांकित श्लोकका रूपान्तर है—

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका[6]॥'

---

१. 'मानस' सुन्दर० ८. ३, ५; ९. १—६
२. 'प्रसन्नराघव' षष्ठ अंक पृ० ११७, ११८
३. दे० 'मानस' सुन्दर० १४, २—७
४. दे० 'प्रसन्नराघव' षष्ठ अंक, पृ० १२३
५. 'मानस' सुन्दर० ३७. ५, ६ ६. 'प्रसन्नराघव' सप्तम अंक पृ० १२८

अन्तमें 'मानस'की एक मार्मिक उक्तिमें 'प्रसन्नराघव'की उक्तिकी मञ्जु दीप्ति और देखिये। पूर्वदिशाकी कन्दरासे निकलनेवाले शशि-केशरी-का शौर्य-प्रदर्शन है—

'मत्त-नाग-तम-कुंभ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुता हल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा[१]॥'

अवतारित चौपाईकी रचना करते समय गोस्वामीजीकी दृष्टि 'प्रसन्न-राघव'के इस श्लोकपर अवश्य थी—

'मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्तागणः।
पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित-
स्तुषारककेसरी गगनकाननं गाहते[२]॥'

गोस्वामीजीपर 'हनुमन्नाटक'की उक्तियोंका प्रभाव 'प्रसन्नराघव'की उक्तियोंकी अपेक्षा अधिक पड़ा है, यही कारण है कि उसकी अनेकानेक उक्तियाँ 'मानस'के प्रत्येक काण्डमें ही नहीं अपितु 'गीतावली' और 'कवितावली'में भी कहीं-कहीं सन्निविष्ट हुई हैं। पहले मानसके विभिन्न काण्डोंकी कुछ उक्तियोंको देखिये। लंकाकाण्डके रावण-अंगद-संवादके प्रसंगमें 'हनुमान्नाटक'के अष्टम अंकके कतिपय श्लोकोंका प्रतिबिम्ब स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस प्रसंगसे अधिक नहीं तो दो ही पंक्तियों-का उदाहरण लीजिये—

'कह कपि धरमसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर तिय चोरी॥
धरमसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़ भागी॥'

उधर 'हनुमन्नाटक' की उक्ति यों है—

'परदारापहरणे न श्रुता या दशानने।
दृष्टा दूतपरित्राणे साधोस्ते धर्मशीलता॥'

---

१. 'मानस' लं० ११. २, ३
२. 'प्रसन्नराघव' सप्तम अंक पृ० १४८

सुन्दरकाण्डमें हनुमानकी उक्ति है—

'साखामृग कै बड़ि मनुसाई।
साखा तें साखा पर जाई॥
नाँघि सिंधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बिधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछु मोरी मनुसाई[1]॥'

'हनुमन्नाटक'में हनुमान्ने रामका उत्तर इस प्रकार दिया है—

'शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः
यत्पुनर्लंघितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव[2]॥'

अरण्यकाण्डमें राम मरणासन्न जटायुसे कह रहे हैं—

'जल भरि नयन कहत रघुराई। तात करम निज तें गति पाई॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा॥
सीता हरन पिता सन तात कहेउ जनि जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन जाइ[3]॥'

इस उक्तिको 'हनुमन्नाटक'की निम्नांकित उक्तिसे मिलाइये—

'तात त्वं निज तेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते
ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः।
रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कन्धरः
सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः[4]॥'

एक उदाहरण अयोध्याकाण्डसे भी लीजिये—

'सीय समीप ग्राम तिय जाहीं। पूछत अति सनेहँ सकुचाहीं[5]॥
... ...

१. 'मानस' सुन्दर० ३२.७–९ २. 'हनुमन्नाटक' अंक ६:४४
३. 'मानस' अरण्य० ३०.८,१०,३१ ४. 'हनुमन्नाटक' अंक ५:१६
५. 'मानस' अयो० ११४.४

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि[1]॥'

उधर 'हनुमन्नाटक'की उक्ति इस प्रकार है—

'पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्त नेत्रं
मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता[2]॥'

बालकाण्डमें धनुर्भंगके अवसरपर लक्ष्मणके द्वारा पृथ्वी तथा दिक्पालों-को दी गयी चेतावनी और धनुर्भंगके विश्व-व्यापी घोर घोष आदिका वर्णन 'हनुमन्नाटक'के प्रथम अंकके कुछ श्लोकोंका रूपान्तर-सा प्रतीत होता है। परशुरामके तेजस्वी स्वरूपके वर्णन तथा राम एवं परशुराम-संवादके प्रसंगपर भी 'हनुमन्नाटक'की कुछ उक्तियोंका प्रभाव प्रकट होता है।

'गीतावली'के जिन प्रसंगोंमें 'हनुमन्नाटक'की कुछ उक्तियोंकी झलक मिलती है, अब उनमेंसे भी एकाधपर दृष्टिपात कीजिये। जटायुकी यह आत्मग्लानि—

'दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो हुतो जो सकल जग साखी।
बरबस हरत निसाचर पति सों हठि न जानकी राखी॥
मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाए।
चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सिय सुधि प्रभुहिं सुनाए[3]॥'

---

१. मानस' अयो० ११५.१,२,६,७

२. 'हनुमन्नाटक' अंक ३:१५

३. 'गीतावली अरण्य० गीत १२.

"हनुमन्नाटक'में निम्नांकित जटायु-कृत पश्चात्तापसे क्या अन्तर रखती है—

'न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया
न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः।
न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो
जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम्'[१] ॥'

अन्तमें 'कवितावली'के दो एक सरस छन्दोंपर भी 'हनुमन्नाटक'के श्लोकोंकी छाप देखनी चाहिये। 'कवितावली'का एक छन्द है—

'बिंध के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनिभे मुनि बृंद सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥[२]'

अवतारित सवैयेकी रचनाके मूलमें'हनुमन्नाटक'के निम्नांकित श्लोककी प्रेरणा स्पष्टतः प्रकट होती है—

पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहा-
मलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम्।
त्वयि चरति विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे
कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः॥[३]'

"हनुमन्नाटक'में अंकित एक हृदयस्पर्शी दृश्य और देखिए—

'सद्यः पुरीपरिसरेषु शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्य सकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्'[४]।'

---

१. 'हनुमन्नाटक' अंक ४:१३

२. 'कविता०'अयो० छ० २८. ३. 'हनुमन्नाटक' अंक ३ १९

४. 'हनुमन्नाटक' अंक ३:१२

इस दृश्यका अंकुर तुलसीके हृदयमें अवश्य जम गया था और वह 'कवितावली'के निम्नांकित मार्मिक छन्दके रूपमें फलित हुआ—

'पुर ते निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जलकी, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है 'चलनो अब केतिक, पर्न कुटी करिहौ कित ह्वै?'
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै[1]॥

'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक'की अनेकानेक सुन्दर और सरस उक्तियोंने तुलसीके रसीले हृदयमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, यह बात तो ऊपरके अनेक उदाहरणोंको देखते हुए कही ही जा सकती है, साथ ही उन्हींके अधारपर यह और भी दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि ये उक्तियाँ तुलसीके अलौकिक कवि-हृदयमें स्थान पा चुकनेके अनन्तर मूलकी अपेक्षा अधिक रमणीय, सजीव और उत्कर्षपूर्ण होकर प्रकाशित हुई हैं।

'उत्तरचरित'का कोई विशेष प्रभाव गोस्वामीजीपर नहीं पड़ा है। 'मानस'के उत्तरकाण्डका यह दोहा—

'चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम चरित जे निरख मुनि ते मन लेहिं चुराइ[2]॥'

हो न हो, 'उत्तरचरित'के चित्र दर्शनोंनाम प्रथमोऽकका ही प्रसाद हो। भवभूतिने जिस चित्रशालामें राम-चरितका एक-एक करके उल्लेख किया है उसीको बाबाजीने उद्धृत दोहेमें इंगित किया है।

'उत्तरचरित' की एक उक्ति भी उद्धरणीय है—

'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति[3]॥'

---

१. 'कवितावली' अयो० छं० ११

२. 'मानस' उ० २७

३. 'उत्तरचरित' प्रथम अंक, श्लोक १०

सम्भव है इसी उक्तिकी प्रेरणासे 'मानस'का यह दोहा रचा गया हो—

'राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार ॥'

'रघुवंश'की झलक

अब 'रघुवंश' सदृश एक महाकाव्यका प्रसंग छेड़कर हम संकेतमात्र करना चाहते हैं कि तुलसीकी दृष्टि इधर भी पड़ी थी। 'रघुवंश'के प्रारम्भमें कालिदासने अपनी विनम्रतावश जिस प्रकार अपनेको अयोग्य, असमर्थ और अज्ञ आदि कहा है, उससे कहीं बढ़कर गोस्वामीजीने 'मानस' के उपक्रममें अपना दैन्य दर्शाया है। 'रघुवंश'की कुछ उक्तियाँ भी 'मानस' में समादृत हैं। एक उदाहरण लीजिये—

'वशीनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति[1] ।'

अर्थात् रघुवंशियोंका चित्त पराई स्त्रीकी ओर नहीं जाता।

इधर गोस्वामीजीने रामके मुखारविन्दसे कहलाया है—

'नहि लावहिं पर तिय मन दीठी[2] ।'

इस गृहीत भावमें 'दीठी' जोड़कर गोस्वामीजीने और गाम्भीर्य ला दिया है। केवल स्थूल दृष्टिसे देखनेका ही निषेध नहीं किया है, पर मानसिक दृष्टि डालना भी निषिद्ध ठहराया है।

'गीतावली'के जिन करुणात्मक पदोंमें सीता-निर्वासन तथा उन्हें छोड़नेके लिए साथ गये लक्ष्मणके प्रति उनके आर्त कथनका निरूपण हुआ [3]है उन अपूर्व पदोंकी सृष्टि करते समय तुलसीके हृदयमें 'रघुवंश'में वर्णित सीता-निर्वासनके [4]प्रसंगका प्रकाश अवश्य था। इसीसे दोनों ग्रन्थोंके उक्त प्रसंगमें साम्य है।

१. 'रघुवंश' १६ : ८

२. 'मानस' बाल० २३०. ७ ३. दे० 'गीतावली' उ० गीत २८–३२

४. दे० 'रघुवंश' सर्ग १४

निष्कर्ष

प्रस्तुत परिच्छेदके निष्कर्षके रूपमें एक वाक्यसे अधिक नहीं कहना है। प्राचीन राम-साहित्यके विधान संस्कृतके प्राचीन रामायणों, नाटकों और महाकाव्योंमेंसे कुछको सामने रखकर हमने देखा कि तुलसीने अपनी भक्तिको उत्तरोत्तर दृढ़ करने तथा रामचरितका मर्म समझनेके लिए अधिकसे अधिक प्राचीन राम-साहित्य-रूप रत्नाकरका भावपूर्वक शोध किया और अपनी सद्ग्राहिताके अनुसार मनोवाञ्छित सारभूत रचनोपकरण-रत्नोंको ग्रहण किया और उन्हें अपने दिव्य प्रकाश और मौलिकताकी शानपर चढ़ाकर विशेष सुसंस्कृत रूप देकर अपने नूतन राम-साहित्यमें सन्निविष्ट किया।

नवम परिच्छेद

तुलसीकी सन्दर्भण-कला और रामचरितमानस

सन्दर्भणका प्रयोग यहाँ संग्रन्थन अथवा गुम्फनके अर्थमें किया गया है। इस कलाका एक स्थूल उदाहरण देखनेके लिए उस पट्ठ इलाकेबन्द-(पटहार)की ओर दृष्टि दौड़ाइये जो अपनी अनोखी कारीगरीसे बिखरे और बेजोड़ मोतियोंको रेशमके मसृण पाटमें इस प्रकार संग्रन्थित करता है कि विशिष्ट सुषमामय हार बन जाता है। उस हारमें पिरोये मोतियोंमें प्रत्येकका ऐसा उपयुक्त स्थान रहता है कि हर एककी कान्ति दूसरेपर यों पड़ती है कि समस्त जलजहारसे एक अविच्छिन्न ज्योति प्रस्फुटित होती दिखाई पड़ती है। जलजहारके इसी रूपक द्वारा यदि गोस्वामीजीकी सन्दर्भण-कला हृदयंगम करानी हो तो कहना चाहिये कि वे ऐसे सिरमौर कवि-रूप पटहार हैं जिन्होंने अपने कौशलसे विविध कथांशरूप मौक्तिकोंका ऐसा अनूठा संग्रन्थ किया है कि उनके अपूर्व संयोगसे अनर्घ 'मानस' रूप हार निर्मित हो गया। इस हारकी सन्दर्भण-कलाकी उत्कृष्टताका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि सती-चरित्रका कथांश, कामदहनका कथांश, पार्वतीमंगल, नारदमोह, मनु-उपाख्यान, भानुप्रतापकी कथा, भुशुण्डि-गरुण-संवाद आदि सभी कथांशोंको भी कविने संयत और सुकुमार कलाके सहारे ऐसा संयोजित किया है कि वे 'मानस'के सारभूत अंग प्रतीत होते हैं, उसे सांगोपांग बनाते हैं।

उपक्रमकी नवीनता और प्रौढ़ि

'मानस'के उपक्रमकी ओर दृष्टि डालते ही सन्दर्भण-कलाकी प्रथम बाँकी-झाँकी होती है। यद्यपि प्राचीन रामायणोंका प्रभाव 'मानस'पर किसी

न किसी प्रकार अवश्य पड़ा है[1], तथापि 'मानस'के उपक्रमकी विशेषता किसी रामायण या अन्य आर्ष ग्रन्थमें नहीं मिलती। इसकी प्रमुख नवीनता इस बातमें है कि इसमें महाकाव्योचित उपक्रमके विधानके साथ ही भक्ति-तत्त्वोंका ऐसा कलात्मक संग्रन्थन किया गया है कि उपक्रमकी समाप्तिके पश्चात् पाठक अनायास ही अपने समक्ष महाकाव्य एवं भक्ति दोनोंका एक ही द्वार उद्घाटित देखता है। काव्य-प्रेमी उसे महाकाव्यका द्वार समझ काव्यके रसास्वादनके हेतु, और भक्ति-लुब्ध अपनी श्रद्धा और विश्वासको अटल बनाकर भगवच्चरणोंके अनन्य प्रेमकी प्राप्तिके लिए पुलकित होता हुआ 'मानस'के भव्य प्रासादमें प्रविष्ट होता है। उपक्रमके मंगलाचरणके श्लोक एवं खल, साधु आदिकी वन्दनाओंको देखते हुए, यही आभास होता है कि कवि महाकाव्यकी परम्पराका पालन कर रहा है, पर इसी परम्परा-निर्वाहके साथ वह झट कुसंग और सत्संगका प्रसंग सरस और स्वाभाविक ढंगसे छेड़कर भक्तिका श्रेष्ठ साधन भी प्रस्तुत कर देता है।

गोस्वामीजीने काव्य और भक्तिके जिस अपूर्व ताने-बानेसे उपक्रमका विकास दिलाया है वह अद्वितीय है। उसमें काव्यकी उत्कृष्ट कसौटी प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने किसी प्रकारकी अप्रासंगिकताकी अनुभूतिका अवकाश नहीं छोड़ा है। काव्य-परम्पराके अनुसार—

'आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव भेद रसभेद अपारा। कबित दोस गुन बिबिध प्रकारा[2]॥'

का ध्यान रखते हुए भी वे यह परमावश्यक मानते हैं कि काव्य भगवद्-भक्तिसे संपृक्त होना चाहिये, अन्यथा वह श्रीविहीन होगा—

'भनित बिचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी[3]॥'

१. यह पिछले परिच्छेदमें दिखाया जा चुका है।
२. 'मानस' बा० ८. ८, ९
३. वही, बा० ९. ३, ४

रचना भगवद्भक्ति-विषयिणी तो रहे ही, साथ ही उसके अर्थ और प्रभावकी प्रेषणीयता भी ऐसी हो कि पाठकके हृदय में कविके द्वारा अनुभूति किये गये तत्त्वोंकी आनन्दानुभूति अत्यधिक बढ़ाये—

'मनि-मानिक-मुकुता छबि जैसी।
अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥
नृपकिरीट तरुनी-तन पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं'[1]॥'

काव्यका जो प्रतिमान गोस्वामीजीको अभीष्ट था उसे इंगित करके वे उपक्रमका प्रवाह बड़े रोचक ढंगसे बढ़ाते हैं। वे विविध वन्दनाओंकी जो सुश्रृंखला प्रस्तुत करते है वह भी कलायुक्त है। उसमें उन्होंने एक ओर धर्मके अनुसार प्रचलित कुछ देवों, मनुष्यों तथा भक्तोंके प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था प्रकट की है तो दूसरी ओर अपनी रचनाके निर्माणमें व्यास, वाल्मीकि आदिकी काव्य-परम्पराका ऋणी होनेके कारण उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता भी व्यक्त की है। यही नहीं, उन्होंने रामकी कथासे सम्बद्ध अनन्य भक्त पात्रोंका परिचय देनेका कार्य भी उक्त श्रृंखलासे लिया है। पात्रोंकी मूल चारित्रिक विशेषताओंका जो संकेत उपक्रममें मिलता है वही ग्रन्थमें आद्योपान्त जगमगाता है। यथा—

'प्रनवउँ प्रथम भरतके चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'

सारे मानसका मन्थन कर डालिये, भरत-चरितकी यही प्रमुख विशेषता मिलेगी। इसी प्रकार अन्यान्य पात्रोंकी वन्दनामें उनकी सर्वप्रधान चारित्रिक विशेषताका संकेत है।

उपक्रममें विविध वन्दनाओंको श्रृंखलाके अनन्तर राम-नाम-महिमा, सगुण-निर्गुण-विवेचन और कथा-माहात्म्य आदिका जो उत्कृष्ट वर्णन है

---

१. वही, बा० १०. १—२

वह भक्ति-निरूपण और प्रस्थापनके लिए ही सन्निविष्ट किया गया है, न कि किसी काव्य-परम्परा-निर्वाहके लिए। इन प्रसंगोंको पूर्वके प्रसंगोंसे संग्रथित करनेमें कविकी जो कला है वह तो है ही, सबसे बड़ी बात यह है कि निर्गुण और सगुणके बीचकी क्लिष्ट उलझन केवल नाम-जपके माहात्म्यसे सुलझा दी गयी है। कोरे अन्ध-विश्वासकी पद्धतिसे नहीं, प्रत्युत बुद्धि और श्रद्धा दोनोंकी पुष्टि और तुष्टि करनेवाली उक्तियोंसे।

मानसके रूपककी अपूर्वता

'मानस'को जो रूपकका स्वरूप दिया गया है उसमें भी उपक्रमकी नवीनता और प्रौढ़ि, साथ ही सन्दर्भण कलाका अनूठा निर्देश है। छोटे-बड़े सभी कृतिकार रूपकके बड़े प्रेमी होते हैं। अलंकाररूपमें इसका प्रयोग तो सभी करते हैं, इसके अतिरिक्त कृतियोंके नामकरणमें भी वे इसे प्रायः ग्रहण करते हैं। इसमें बहुधा होता यह है कि यदि उनकी किसी रचना-विशेषमें कोई विशिष्ट अंश हुआ तो वे उसीके अनुरूप कोई रूपक चुन लेते हैं। वस्तुतः वह रूपक ऐसा नहीं रहता कि उससे ग्रन्थके समस्त अंगोंका संकेत हो जाय। गोस्वामीजी ऐसे रूपककार नहीं थे। उन्होंने अपनी अनोखी प्रतिभाके बलपर जो 'मानस-रूपक' रचा है उसका जोड़ अन्यत्र कहाँ ? यदि उनके इस रूपकके विविध अवयवों[1]की ओर दृष्टि रखकर विचार किया जाय तो प्रकट होगा कि समस्त 'रामचरितमानस'-के स्वरूपका आभास मानसरके रूपकमें मार्मिकतासे दिया गया है। कवि अपनी आस्तिक बुद्धि और श्रद्धालु हृदयकी प्रेरणासे, सच्छास्त्रोंके विशिष्ट स्वाध्यायसे रामभक्तिकी ओर अनन्य भावसे प्रवृत्त हुआ। इसी प्रवृत्तिके कारण उसने 'मानस'का प्रणयन किया। उसमें उसने काव्यके जिन उपादानोंका प्रयोग किया, मानसके रूपकमें उनका स्पष्ट रूपसे संकेत मिल जाता है। यही नहीं, ग्रन्थमें जिन आध्यात्मिक, तात्त्विक एवं साधनामूलक विषयोंका निरूपण हुआ है उनकी चर्चा भी इसी रूपकमें है। कविको

१. दे० 'मानस' बा० दो० ३५ से ३७ तक

इतनेसे ही सन्तोष नहीं हुआ। मानसरोवरकी स्थितिकी भौगोलिक जानकारी रखनेके कारण, वहाँ जानेके मार्गकी दुरूहताका परिचय देना भी उसने आवश्यक समझा, प्रकारान्तरसे राम-चरित-मानसका स्वरूप यथातथ्य रूपमें न जाननेके जो कारण उपस्थित होते हैं उनका प्रत्यक्षीकरण करानेके लिए मानसके रूपकको और बढ़ाया—

'गृह कारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥
बन बहु बिषम मोह मद नाना। नदी कुतर्क भयंकर नाना[1]॥'

राम-चरित-रूप मानसके मार्गमें पड़नेवाले विघ्नोंको दिखाकर ही रूपककी इति नहीं की गयी, अपितु मानसमें अवगाहन और उसका फल आदि भी इस रूपकमें सन्निहित है। इसी मानस-रूपकके प्रवाहमें कविने सरिता-रूपकको भी संग्रथित कर उसके भीतर 'रामचरितमानस'के कथांशोंका माहात्म्ययुक्त निर्देश करते हुए कथा-प्रवाहको उत्तम ढंगसे और बढ़ाया है। मानस-सर-सरि-रूपकमें उसकी श्रेष्ठ सन्दर्भणकला है। क्या मानसरोवर, क्या 'मानस' इन दोनोंके सामान्य तथा अधिकसे अधिक हृदय-स्पर्शी अंगोंको कविने अपनी अलौकिक प्रतिभाके प्रसादसे एक ही रूपकमें लाकर अधिष्ठित किया है।

मानसरोवरके रूपकके अतिरिक्त 'मानस'का एक दूसरा अर्थ होता है—अर्थात् मानस=हृदय = सार = रहस्य। इस अर्थमें भी तुलसीने मानसके रहस्यका आद्योपान्त निर्वाह किया है। उन्होंने आरम्भमें राम-चरित्रकी अनन्तता स्वीकार की है[2]। फलतः हमें यह माननेमें तनिक भी आपत्ति न होनी चाहिये कि उन्होंने रामके अनन्त चरित्रका रहस्य ही गाया है। 'मानस'के उपसंहारसे भी मानसका रहस्य अर्थ प्रकट है। शिव पार्वतीसे 'राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी[3]॥'का संकेत

---

१. 'मानस' बा० ३७. ८, ९

२. 'मानस' बा० ३२. ५, ३३

३. वही, उ० ५१. ३

करते हुए अन्तमें यही स्वीकार करते हैं—'कछुक राम गुन कहेउँ बखानी[1]।' और तदुपरांत उसी गुणको सुनकर पार्वती कहती हैं—

'हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा[2]॥'

इस प्रकार 'हरि चरित्र मानस'से रामके चरित्रका रहस्य ही उद्घाटित हुआ है। इस अर्थमें भी 'राम-चरित-मानस मानस ही कहलायेगा। गोस्वामीजीने दोनों अर्थोंका ग्रन्थ भरमें सांगोपांग निर्वाह किया है।

षड्विध संगति-योजना

'मानस'में षड्विध संगति-योजना भी उसकी अपूर्व सन्दर्भण-कला-की परिचायिका है। संगति-योजनाके प्रत्यक्ष उदाहरण देनेके पूर्व उसके लक्षण और भेदपर किञ्चित प्रकाश डालना उपेक्षणीय न होगा।

'अनन्तर कथनको प्रेरित करनेवाला जिज्ञासाके जनक ज्ञानका जो पदार्थ विषय हो वह संगति है[3]।' जैसे किसी पदार्थके ज्ञानको जब हम अपना इष्ट साधन समझते हैं तो पहले हमें उसकी जिज्ञासा होती है। तदुपरांत ज्ञानके साधनीभूत वाक्यकी इच्छा होती है। तब वाक्यके साधनी-भूत शब्दोच्चारणकी इच्छासे शब्दोच्चारणकी प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्तिके कारण शब्दोच्चारण करनेपर निरूपणीय विषयका अनन्तर कथन होता है। इस संगतिके छः भेद हैं—प्रसंग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकत्व और एककार्यत्व। इनके लक्षण ये हैं—'किसी वस्तुके स्मृति-कालमें उपस्थित उपेक्षणीयताकी परिधिमें न आ सकना **प्रसंग** है[4]।' 'प्रस्तुत-की सिद्धिके लिए उपयोगी विचारके समय जो प्रस्तुतके अनुकूल होनेकी भावना है वह **उपोद्घात** कहलाता है[5]।' '**हेतुता** कार्य-कारण-संबंध है[6]।'

१. वही, उ० ५१. ७   २. वही, उ० ५१. ८

३. 'वैयाकरणभूषणसार-दर्पण' धात्वर्थ निर्णय, पृ० २१

४. वही, ,, ,, ,,

५. वही, ,, ,, २२

६. वही, ,, ,, २२

किसी विषयके ज्ञानमें जिज्ञासुकी जो जिज्ञासा प्रतिबन्ध डाल रही हो उसकी निवृत्ति करनेके समय जो अवश्य वक्तव्यताकी कोटिमें आये उसे **अवसर** कहते हैं[1]।' 'कारणके एक-कार्य-जनकत्वकी दशाको **निर्वाहकत्व** कहते हैं[2]।' 'कार्यके एक-कारण-जन्यत्वकी दशाको **एककार्यत्व** कहते हैं[3]।'

किसी विवेकी और किसी वातुलके भाषणकी ओर ध्यान देनेपर यह स्वयमेव प्रकट होगा कि पागलके प्रलापमें किसी प्रकारकी संगति नहीं होती, उसकी बातें परस्पर सम्बद्ध नहीं रहतीं। इसके विपरीत विदग्धके अभिलापमें प्रायः सभी बातें अपने अर्थ और सम्बन्धको अन्ततः वहन करनेवाली होती हैं। प्रबन्धको हम एक प्रकारका लिखित सुष्ठु अभिलाप भी कह सकते हैं। अतः उसमें सम्बन्ध एवं अर्थ-निर्वाह आद्योपान्त होना चाहिये। इसके अभावमें वह असंगत कहलायेगा, दोषपूर्ण माना जायगा।

'मानस'से संगति-योजनाके कुछ उदाहरण लीजिये। नारद-मोहके प्रसंगमें ऋषि विष्णुसे सौन्दर्य माँगने जाते हैं और भगवान्‌ने उन्हें व्यंग्यके द्वारा बता दिया कि हम तुम्हारा हित करेंगे। ऐसी चेतावनी देनेके बाद उन्होंने वैसा ही किया भी—

'मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना[4]॥'

स्वयंवरमें मुनि इसी रूपपर फूले हुए राजकुमारीको प्राप्त करनेके लिए गये। अन्तमें जब सब भण्डाफोड़ हो गया तो नारदके क्रोधका ठिकाना न रहा और उन्होंने भगवान्‌को शाप दिया—

'कपि आकृति तुम्ह कीन्ह हमारी।
करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥

---

१. 'वैयाकरणभूषणसार-दर्पण' धात्वर्थ निर्णय, पृ० २२

२. वही, ,, ,, ,,

३. वही, ,, ,, ,,

४. 'मानस' बा० १३२. ७

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी[१]॥'

यह सब हो चुकनेपर भी नारदके साथ पाठक भी 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना'का रहस्य समझनेके लिए उत्सुक रहता है। मुनिको कुरूप देनेका कार्य किस कारणसे हुआ, इस जिज्ञासाका परितोष अरण्यकाण्डमें कराया गया है। गोस्वामीजी वहाँ रामके सम्मुख नारदको उपस्थित कर उन्हींके मुखसे कहलाते हैं—

'राम जबहिं प्रेरेउ निज माया। मोहेउ मोहिं सुनहु रघुराया॥
तब बिबाह मैं चाहेउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा[२]॥'

रामने माया-रूपी नारीका प्राबल्य समझाकर ऋषिकी जिज्ञासाकी पूर्ण निवृत्ति की। मुनि रमणीरूपी रत्नसे क्यों वञ्चित किये गये इसका कारण जानकर पाठक भी तुष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह समाधान अवसर-संगतिके भीतर आता है। निर्वाहकत्व संगति-योजनाका भी यह उदाहरण है; क्योंकि मुनि-रक्षा-रूप एक कार्यका जनक कुरूप-दान-रूप कारण है।

प्रसंग-संगतिका यह दृश्य देखिये—

'कपि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ[३]॥'

पाठक या पात्र किसीकी दृष्टिसे देखिये। जिस अवसरपर मुद्रिका गिरायी जाती है वह सर्वप्रकार अपेक्षणीय है। सीताकी वेदना पराकाष्ठापर पहुँच चुकी थी, अतः वे उन्मादवश तारोंको अंगार समझकर उन्हें पानेके लिए उन्मुख थीं, उधर हनुमान् भी उनकी दशा देखकर कातर हो रहे थे, पाठकका हृदय भी दबा जा रहा था। ऐसी स्थितिमें मुद्रिका गिरानेका प्रसंग उपस्थित किया गया है। इस नये-नये प्रसंगसे पूर्व वस्तुकी स्मृतिपर

---

१. 'मानस' बा० १३६. ७, ८

२. 'मानस' अरण्य० ४२. २, ३ ३. 'मानस' सुन्दर० १२

रञ्चमात्र भी धक्का नहीं लगता और यह पूर्वका सहकारी होनेके कारण किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं होता।

अन्य प्रकारकी संगतिके उदाहरण और उनके लक्षण-समन्वयके द्वारा लेखका कलेवर बढ़ाना हमें अभीष्ट नहीं। अतएव इस सम्बन्धमें हम यही कहना चाहते हैं कि 'मानस'में संगतिके सभी प्रकारोंकी उत्तमोत्तम योजनाका पूरा ध्यान रखा गया है। कविने संगति-निर्वाह अधिकांश रूपमें वर्णनके साथ ही रखा है, पर ऐसे प्रसंगोंकी भी कमी नहीं है जहाँ संगति-योजनाका रहस्य बहुत दूर आगे चलकर खुलता है, उपक्रममें जगी जिज्ञासाका परितोष उपसंहारमें होता है।

तुलसीकी माधुकरी वृत्ति और उनके सञ्चित मधुकोशसे भी सन्दर्भण कलापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसे समझनेके लिए पहले सामान्य मधुकरके मधुकोशकी एक झाँकी कर लेनेकी आवश्यकता है। मधुव्रतका मण्डलाकार मधुकोश उसकी विवेकशीलता, न्यायप्रियता और कला-कुशलताका परिचायक है। निस्सन्देह मधुप नाना प्रकारकी कलियों और पुष्पोंपर अपनी आसक्ति होनेके कारण उनके सम्पर्कमें कुछ लेने ही जाता है। पर उसके ग्रहण करनेकी प्रक्रिया इतनी संयत है कि वह किसी कोमल कलिका या किसी सुकुमार सुमनके सौन्दर्य, सौरभ अथवा रसमें रञ्चमात्र क्षति पहुँचाये बिना ही मकरन्द ग्रहण करता है। अकौवा जैसे निर्गन्ध और रूक्ष फूलसे लेकर चमेली जैसी सुरभित मृदु कोरकतकसे वह पूर्ण विदग्धतापूर्वक मकरन्द संग्रह करता है। उसके मधुकोशमें विविध कुसुमोंके रसका संग्रहमात्र नहीं रहता, प्रत्युत उनका ऐसा अपूर्व संयोग किया रहता है कि उनसे मधु संज्ञाकी वह नवीन वस्तु बन जाती है जिसमें पुष्पोंके मूल मकरन्दकी तनिक भी गन्ध नहीं रहती। इस सुधामय मधुको चखनेके लिए सभी लालायित रहते हैं। यह नाना प्रकारके रोगोंकी औषध भी होती है।

यह तो हुई साधारण मधुकरकी बात। अब हमारे प्रौढ़ विवेकी तुलसी-मधुकरकी ओर आइये। इस विलक्षण मधुकरके समक्ष विविध

शास्त्र-रूप पुष्पोंका नन्दनवन अपना अलौकिक सौरभ बिखेर रहा था और इस चञ्चरीकने वहाँसे सार मकरन्द ला-लाकर अपने 'मानस'-मधुकोशमें बड़े ही विवेकके साथ सन्निविष्ट करके अपनी सन्दर्भण-कलाका अनूठा उदाहरण छोड़ा है। सामान्य मधुकोशसे प्राप्त मधुकी जो उपादेयता और उपयोगिता होती है उससे कहीं अधिक 'मानस'-मधुकोशसे प्राप्त भक्ति और काव्यरूप मधुकी ग्राह्यता और उपकारकता ठहरती है।

माधुकरी वृत्ति और मानस-मधुकोश

'मानस'-मधुकोशमें अनेकानेक शास्त्र-सुमनोंके विविध भाव-मकरन्द किस वैदग्ध्यके साथ संगृहीत हुए हैं, यह समझनेके लिए हमें अपने भ्रमरकी इस गुञ्जारको ध्यानमें रखना चाहिये—'नानापुराणनिगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।' यह गूँज प्रकट करती है कि हमारा मधुकर किन पुष्पोंके सम्पर्कमें रहा और उसकी माधुकरी वृत्तिका निर्देश करनेके लिए हम किस ओर दृष्टिपात करें।

पुराणोंमें सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमान्य पुराण है—'भागवत।' तुलसी जैसे भक्त-भ्रमर 'भागवत'का अमृतमय रस कैसे छोड़ते। उन्होंने 'मानस'-को भक्ति-सुधासे परिपूर्ण करनेके लिए 'भागवत'की अगाध पीयूष-धारा-से पर्याप्त पीयूष ग्रहण किया है। 'भागवत'के जो-जो भाव और सिद्धान्त प्रचुर परिमाणमें गृहीत हुए हैं, उन सबका निदर्शन करनेके लिए बड़े विस्तारकी अपेक्षा है। प्रस्तुत प्रसंगमें इतना अवकाश नहीं। अतः बहुत संक्षेपमें विचार किया जाता है।

भगवान्की उपलब्धिका सुगम उपाय बताना 'भागवत'की विशेषता है। उसकी रचनाका प्रयोजन भी भक्ति-तत्त्वका निरूपण है। वेदार्थो-पबृंहित विपुलकाय 'महाभारत'की रचना करनेपर भी अतृप्त रहनेवाले वेदव्यासका हृदय भक्ति-प्रधान 'भागवत'की रचनासे ही तृप्त हुआ। 'भागवत'के श्रवण करनेसे भक्तिके निष्प्राण पुत्र ज्ञान-वैराग्यमें प्राण-सञ्चार ही नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवनको प्राप्त हो गये। अतः भगवान्की प्राप्तिका एकमात्र उपाय भक्ति ही है—

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता[1] ॥'

साधन-रूप भक्ति एवं साध्य-रूप भक्तिका सांगोपांग मनोरम विवरण, सत्संग-महिमा, ज्ञान-भक्ति-समन्वय आदिके सिद्धान्त 'भागवत'में भरे हैं। जब 'भागवत'की सार-स्वरूप उक्त किञ्चित् विशेषताओंको ध्यानमें रखकर हम'मानस'में प्रवेश करते हैं तो इसमें 'भागवत'की जगमगाती अन्तरात्मा ही दृष्टिगत होती है। स्थूल उदाहरणके लिए कुछ प्रसंगोंकी ओर आइये—

'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना।
स्रवन-रंध्र अहि भवन समाना॥
... ...
जो नहिं करइ राम-गुन-गाना। जीह सो दादुरजीह समाना[2] ॥'

उधर 'भागवत'की इस उक्तिको देखिये—

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः[3] ॥'

दोनों उक्तियोंके मिलानसे इतना तो स्पष्ट ही है कि गोस्वामीजीने 'भागवत'के श्लोकका अनुवाद कर लिया है। इसमें अनुवादककी कुशलताके अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं है। 'मानस'की जो अर्द्धाली ऊपर उद्धृत की गयी है उसीकी मालावाली अन्य चौपाइयों[4]में भगवद्भक्तिमें न लगनेवाले अंगोंकी असारताके जो भाव दिखाये गये हैं वे भी 'भागवत'के उद्धृत श्लोकके आगेवाले कई श्लोकों[5]के आधारपर हैं।

---

१. 'भागवत' ११:१४:२०   २. 'मानस' बा० ११२. २, ६
३. 'भागवत' २:३:२०
४. दे० 'मानस' बा० ११२. ३, ४, ५, ७
५. दे० 'भागवत' २:३:२१, २२,२४

दूसरा प्रसंग लीजिये। रंगभूमिमें विराजमान राम-लक्ष्मणको लोग किस रूपमें देख रहे हैं—

'देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहु बीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेखा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन-सुखदाई॥

नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सृंगार धरि मूरति परम अनूप॥

बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा। बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत-सुद्ध-सम-सहज प्रकासा॥
हरि भगतन्ह देखेउ दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥

रामहिं चितव भाव जेहि सीया।
सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।
कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ[१]॥'

उधर कृष्ण-बलरामके पदार्पण करनेपर कंसकी रंगभूमिमें कैसा प्रभाव पड़ा यह देखिये—

'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतांक्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रज[२]ः॥'

दोनों उल्लेखोंपर दृष्टि डालते ही यह स्पष्टतया लक्षित होता है कि गोस्वामीजीने 'भागवत'का भाव ग्रहण किया है। ऐसा होनेपर भी

१. 'मानस' बा० २४०. ५–८, २४१.१–७ २. 'भागवत' १०:४३:१७

उनका वर्णन 'भागवत'के वर्णनसे कहीं व्यापक और रमणीय है। 'मानस'के अवतरणकी प्रथम तीन पंक्तियोंमें वीरत्व और भयानकत्वकी जैसी साकार व्यञ्जना होती है वैसी 'मल्लोंने वज्रके समान देखा'के कथनसे नहीं होती। श्लोकके अनुसार श्रीहरि लोगोंको 'नरवरः'के रूपमें दिखाई पड़े, पर चौपाईमें 'नर-भूषन'के साथ 'लोचन-सुखदाई' जोड़कर भावमें और उत्कर्ष दिखाया गया है। दोहेमें सौन्दर्यकी गूढ़ व्यञ्जना और तज्जन्य प्रभावका जो संकेत है वह 'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'से नहीं हो पाता। श्लोक विराट्का संकेतमात्र करता है, पर अर्द्धाली इसके स्वरूपको भी व्यक्त करती है। इसी प्रकार अर्द्धाली परम तत्त्वके स्वरूपका भी आभास देती है और श्लोक 'तत्त्वं परं योगिनां' कहकर रह जाता है। उधर श्रीकृष्ण वृष्णिवंशी यादवोंको ही इष्टदेवके रूपमें दिखाई पड़े, इधर राम सभी हरिभक्तोंको।

'मानस'में वर्षा और शरत् ऋतुका जो वर्णन[१] मिलता है वह 'भागवत'के वर्षा और शरद्-वर्णन[२]की प्रतिच्छायामात्र है। भगवान्के विराट् स्वरूप-व्यञ्जक 'भागवत'के कुछ श्लोकों[३]का प्रतिबिम्ब भी 'मानस'में झलकता[४] है। 'मानस'के कलियुग-वर्णनकी कितनी ही चौपाइयों[५]के भाव ही नहीं, अपितु पदावली भी 'भागवत'के कलियुग-वर्णनसे गृहीत हैं[६]। उक्त प्रतिरूप प्रसंगोंके निर्माणमें भी तुलसीकी प्रतिभा सजग थी, हमें यह नहीं भूलना चाहिये।

१. दे० 'मानस' किष्कि० १२. १३. १–८; १४. १–१२; १५. १–१०; १६. १–८; १७.

२. दे० 'भागवत' १० : २० : ८, ९, १५, १७, २०, २३, ३८, ३९, ४९

३. दे० वही, २ : १ : २६, २८–३४

४. दे० 'मानस' लं० १४. १–८; १५.

५. दे० 'मानस' उ० ९७. ४–८; ९९. १०; १००. १–३

६. दे० 'भागवत' १२ : १ : ४५; १२ : ३ : ३२, ३३, ४३, ३७–४१

मानसमें वर्णित चार प्रकारकी पतिव्रताओंके लक्षण देखिये—

'उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धरम विचारि समुझि कुल रहई ।
सो निकृष्ट तिय स्रुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई[1] ॥'

ये लक्षण 'शिवपुराण'के निम्नांकित श्लोकोंसे प्राप्त हुए हैं—

'स्वप्नेपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम् ।
नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्त्तिता ॥
या पितृ-भ्रातृ सुतवत् परम्पश्यति सद्धिया ।
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ॥
बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न ।
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति ॥
पत्युः कुलस्य च भयाद् व्यभिचारं करोति न ।
पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वसूरिभिः[2] ॥'

यद्यपि चौपाइयाँ श्लोकोंकी रूपान्तरमात्र हैं, तथापि इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि अन्तिम चौपाईका 'बिनु अवसर भय ते रह जोई' चरण अन्तिम श्लोकके 'पत्युः कुलस्य भयाद् व्यभिचारं करोति न'की अपेक्षा अधिक व्यञ्जक और रमणीय है ।

विष्णुपुराण, पद्मपुराण, नृसिंहपुराण प्रभृति पुराणोंकी जो उक्तियाँ 'मानस'-कोशमें सन्निविष्ट हैं, स्थानाभावके कारण उन्हें छोड़ हम 'गीता'-से गृहीत एकाध उक्ति उद्धृत करते हैं—

'संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू[3] ॥'

---

१. 'मानस' अरण्य० ४. १२-१५

२. 'शिवपुराण' पार्वतीखण्ड ५४:७४—७७ ३. 'मानस' अयो० ९७.७

'गीता'के जिस श्लोकार्द्धका यह रूपान्तर है, उसे भी देखिये—

'संभावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते[1]।'

कहना नहीं होगा कि अर्द्धाली श्लोकार्द्धकी रूपान्तर होकर भी उससे अधिक प्रभावक और मार्मिक है।

'मानस'में कुछ ऐसी उक्तियाँ[2] और भी हैं जो 'गीता'से गृहीत हैं[3] अवश्य, पर उन सबमें भी तुलसीने अपनी प्रतिभाके कारण कुछ न कुछ भावोत्कर्ष ही दिखाया है।

औपनिषदिक उक्तियोंका सन्निवेश भी 'मानस'-कोशमें है—

'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेखा[4]॥'

ये अर्द्धालियाँ 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'की निम्नांकित उक्तिका प्रतिबिम्ब-भाव प्रकट करती हैं—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्[5]॥'

'मानस'की 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा[6]।', 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखण्डा[7]।', 'जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई[8]।' जैसी उक्तियाँ भी श्रुतिके

---

१. 'गीता' २:३४

२. दे० 'मानस' बा० १२०.६–८; अयो० ९२.३; किष्कि० १०.७; उ० ३८; ५३.१–५

३. दे० 'गीता' ४:७,८ २:६९, १८:६१, १२:९; ७:३

४. 'मानस' बा० ११७. ५,६,७ ५. 'श्वेता०' ३:१९

६. 'मानस' उ० ११०.६ ७. 'मानस' उ० ११७. १

८. वही, अयो० १२५.३

'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' आदि महावाक्योंके रूपान्तर मात्र हैं।

पञ्चतन्त्र, चाणक्यनीति, भर्तृहरिशतक, हितोपदेश आदि उत्तम कोटिके प्रचलित नीति-ग्रन्थोंके नीतिमय वचनोंके रुचिर सञ्चयसे भी 'मानस'-कोशकी शोभा बढ़ती है। पहले 'हितोपदेश'के कुछ नमूने लीजिये—

'वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा।
शरीर-धर्म-कोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते[1]॥'

इस नीतिको गोस्वामीजीने यों ग्रहण किया है—

'सचिव वैद गुरु तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरम तन तीनि कर होइ बेगिही नास॥'

'मानस' सुन्दर ३७

श्लोकमें वर्णित नीति ग्रहण अवश्य की गयी है, परन्तु उसमें मूलकी अपेक्षा अधिक व्यापकता और रमणीयता लायी गयी है। 'भय आस' जोड़कर कविने अर्थमें कितनी तीव्रता ला दी है। श्लोक केवल इतना ही संकेत करता है कि ये तीनों जिस राजाकी हाँमें हाँ मिलानेवाले होते हैं वह शीघ्रातिशीघ्र शरीर, धर्म और कोशरहित हो जाता है। गोस्वामीजीके दोहेसे यह बात तो निकलती ही है, साथ ही सर्वसाधारणके लिए भी सिद्धान्त निरूपित है।

एक दूसरा उदाहरण देखिये—

'सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं जनकं सुतम्।
योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद[2]॥'

इसके भावको बाबाजीने कैसे दर्शाया है, यह नीचेकी पंक्तियाँ प्रकट करती हैं—

---

१. 'हितोपदेश' विग्रह कथा ८, श्लोक १०४

२. 'हितोपदेश' मित्रलाभ कथा ५, श्लोक १६५.

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ विकल सक मनहिं न रोकी।
जिमि रबि मनि द्रव रबिहिं बिलोकी[1]॥'

इसे कौन नहीं मानेगा कि श्लोकका भाव ग्रहण करके भी तुलसीने उसके अश्लील ढंगको तिरस्कृत कर दिया है।

'चाणक्यनीति'की भवितव्यताकी विशेषता प्रकट करनेवाली निम्नांकित एक उक्ति देखिये—

'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता[2]॥'

इस भावको गोस्वामीजीने यों लिया है—

'तुलसी जस भवितव्यता तैसइ मिलइ सहाय।
आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लेइ जाइ[3]॥'

दोहेमें श्लोककी केवल दूसरी पंक्तिका भाव गृहीत है, पर उसमें उत्कर्ष लानेके लिए कुछ और बढ़ा दिया गया है। 'आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लेइ जाइ' जोड़कर कविने भवितव्यताका अमित प्रभाव भी दिखा दिया है। 'जस भवितव्यता तैसइ मिलइ सहाय' कह देनेसे तो कोरा सिद्धान्त-वाक्य ही रह जाता।

अन्तमें, देखना चाहिये कि तुलसीने भर्तृहरिके नीतिमय वचनोंको किस रूपमें अपनाया है। भर्तृहरिका कथन है—

'पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः[4]॥'

---

१. 'मानस' अरण्य० १६. ५, ६.
२. 'चाणक्यनीति' ६:६
३. 'मानस' बा० १५९
४. 'नीतिशतक' श्लोक ७३

इधर गोस्वामीजी कहते हैं—

'कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥
विपति काल कर सत गुन नेहा।
स्रुति कह संत मित्र गुन एहा[२] ॥'

कहना नहीं होगा कि गोस्वामीजीकी उक्तिमें अधिक मार्मिकता है। श्लोकमें 'आपद्गतं न जहाति'की कोई मार्मिक व्यञ्जना नहीं, पर 'बिपति काल कर सतगुन नेहा' में गम्भीर व्यञ्जना है। इसी प्रकार 'देत लेत मन संक न धरई' जिस गूढ़ भावका द्योतक है उसका 'ददाति काले' कदापि नहीं। अस्तु, हम देखते हैं कि तुलसीने भर्तृहरिका भाव लिया है अवश्य, पर उसे अधिक रमणीय बना लिया है।

भर्तृहरिका एक उदाहरण और देखिये—

'कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशै
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः[३] ॥'

यह भाव 'मानस'में इस रूपमें गृहीत हुआ है—

'नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥
लोभपास जेहि गर न बधाया।
सो नर तुम्ह समान रघुराया[४] ॥'

दोनों अवतरणोंको जाँचते हुए यह बात फिर दुहरानी पड़ती है कि हमारे कविने भर्तृहरिका भाव तो अवश्य ग्रहण किया, पर उसे अपनी कलासे औरका और मनोज्ञ रूप दे दिया है। भर्तृहरिके 'यस्य चित्तं न

२. 'मानस' किष्कि० ६. ३, ४, ५

३. 'नीतिशतक' श्लोक १०८ ४. 'मानस' किष्कि० २०. ४, ५

निर्दहति कोपकृशानुतापः'से केवल यही भाव निकलता है कि जिसका हृदय क्रोध-रूप-अग्निकी ज्वालासे दग्ध नहीं होता, किन्तु तुलसीके 'घोर क्रोध तम निसि जो जागा'से और गूढ़ व्यञ्जना होती है, अर्थात् क्रोध आनेपर भी जिसका विवेक कुण्ठित नहीं होता। 'लोकत्रयं जयति कृत्स्नं स धीरः'से 'सो नर तुम्ह समान रघुराया' न जाने कितनी गम्भीर शक्ति, पराक्रम आदिका व्यञ्जक है।

पाणिनिके सूत्रकी एक शुष्क कणिका भी देख लीजिये—

'श्वयुवमघोनामतद्धिते[1]।'

इसीके आधारपर गोस्वामीजीने इन्द्रकी खबर ली है—

'सरिस स्वान मघवान जुवानू[2]।'

विविध प्राचीन आर्ष-ग्रन्थ-पुष्पोंसे हमारे तुलसी मिलिन्दने विशिष्ट भव्य भावोंके मकरन्द ग्रहण कर उसे अपनी नवनवोन्मेषकारिणी प्रज्ञाके सहारे भव्यतर भावोंमें परिणतकर अपने 'मानस'-मधुकोशमें जिस प्रकार सन्निहित किया है, उसकी अनेकानेक झलक दिखानेके लिए लेखको अब अधिक बढ़ानेका अवकाश नहीं, तुलसी-जैसा सर्वग्राही मधुप ही उनके मधुकोशके संचित मधुकणोंका समस्त उद्गम दिखा सकता है।

भावानुरूप शैली

'मानस'में प्रयुक्त भावानुरूप शैलीके अन्तर्गत आनेवाली **रसानुरूप, पात्रानुरूप, स्थिति, स्थान** और **अवसरानुरूप** विविध शैलियों अथवा **स्तुतिशैली, दार्शनिक शैली** एवं **उपदेशात्मक** शैलीके जो नमूने मिलते हैं उनसे भी तुलसीकी अनोखी सन्दर्भण-कला प्रकट होती है। सारे ग्रन्थमें इन्हीं मनोहर शैलियोंके स्वरूप स्पष्टतया लक्षित होते हैं और उनमें

---

१. 'सिद्धान्तकौमुदी' ६:४:१३३

२. 'मानस' अयो० ३००.८

प्रसंगानुकूल तदाकारता दृष्टिगत होती है। अवकाश नहीं कि हम इन सभी प्रकारकी शैलियोंके मार्मिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन सबकी विशेषताओंको उद्घाटित करें, तो भी चलते ढंगसे इनके स्वरूपका संकेत तो करना ही होगा।

पहले अन्तिम तीनों प्रकारोंकी शैलियोंका वैशिष्ट सूत्ररूपमें समझ लीजिये। स्तुतिशैलीके तत्सम संस्कृत शब्दोंके प्रचुर प्रयोग और सामासिक पदलालित्यके मञ्जु प्रवाहमें प्रेमोद्रेकके कारण प्रेम-लक्षणा भक्तिका रसास्वादन होता है। विचार-प्रधान या दार्शनिक शैलीमें ब्रह्मपरक तार्किक शब्दोंकी योजनाके बाहुल्यके साथ नीरसताका संयोग है। उसमें हृदयके रमनेका स्थान संकुचित है। उपदेशात्मक शैलीमें, यद्यपि नीतिमय वचनोंका ही आधिक्य है, तथापि उपदेशकके कोमल भावोंसे आवृत रहनेके कारण सामान्यतः उनकी रमणीयता बनी हुई है।

अवसर और हृदयका घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यापक रूपसे अवसर दो प्रकारका होता है—सुखात्मक और दुःखात्मक। इन्हीं दोनोंसे प्रभावित होकर हृदय नाच उठता है या बैठ जाता है। यद्यपि सभी अवसरोंकी संख्या बताना कठिन है, तथापि एक मोटे हिसाबसे कहा जा सकता है कि प्रिय-मिलन, प्रिय-सान्निध्य, इष्ट-सिद्धि, सन्तान-प्राप्ति, विवाहोत्सव, पुत्राभ्युदय, यश-प्राप्ति आदि सुअवसर हैं। इनके विपरीत प्रसंग कुअवसर कहे जा सकते हैं। 'मानस'में दोनों प्रकारके अवसरोंके प्रसंगपर मानव-हृदयकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशाका अंकन है। ग्रन्थमें राम-जन्मोत्सव, उनका विवाहोत्सव तथा उनका वनसे प्रत्यागमन आदिसे बढ़कर सुअवसर क्या होंगे? अतः इन्हीं प्रसंगोंको सुअवसर परिचायक शैलीके उदाहरणके रूपमें देखा जा सकता है। उक्त प्रसंगोंकी शैलीका मर्म समझनेके उपरान्त हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि इन सबमें एकरूपता है। इनकी पदयोजना चहल-पहलका दृश्य उपस्थित करनेमें समर्थ होते हुए हमारी सुखात्मक वृत्तिको सजग करती है। फलतः हमारा मन सुअवसरकी आनन्दानुभूतिमें रम कर उसका मानसिक चित्र देखने लगता है। सुअवसरके सभी प्रसंगोंमें

कविने ऐसे ही कोमल, आकर्षक और सरस पदोंकी योजना की है जिससे उत्फुल्ल वातावरणकी सृष्टि हो उठे।

कुअवसरोंके प्रसंगोंकी शैलीका भी अपना एक विशेष रूप है जो दुःखात्मक वृत्तियोंके प्रकाशनमें अद्वितीय है। राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, सीता-हरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदिसे बढ़कर कुअवसर क्या होंगे? इन सभी प्रसंगोंकी शैलीका परस्पर मिलान किया जाय तो इन सबमें साम्य मिलेगा। उनमें ऐसे अप्रस्तुतों और पदोंकी योजना है कि वे सब हृदयमें दुःखानुभूति कराकर एक उत्साहहीन वातावरणका दुर्मनस्क मानसिक दृश्य भी उपस्थित करते हैं।

स्थिति और स्थानका महत्त्व सामान्य नहीं। इनके समक्ष छोटे-बड़े सभी किसी न किसी अंशतक नत-मस्तक होते हैं। इनके अनुसार मानव-हृदयके भाव-चित्र चित्रित होते हैं। अतः इनके अनुरूप भी शैलीमें अनेक-रूपता आती है। फलतः कुशल कलाकारकी शैली स्थिति एवं स्थानके अनुकूल होकर मार्मिकतापूर्वक उनका प्रभाव व्यञ्जित करती चलती है। तुलसी इस विशेषतामें भी अन्यतम हैं।

सामान्यतः जीवनमें सम और विषम स्थितियोंका चक्र घूमता रहता है। सम स्थितिमें हम अपने दैनिक कार्योंमें बिना किसी उत्कर्षापकर्ष-चिन्तनके लगे रहते हैं। पर, जब स्थितिमें कोई व्यतिक्रम होता है तो हम स्वभावतः क्षुब्ध हो उठते हैं। नाना प्रकारसे हानि-लाभका चिन्तन करने लगते हैं, हृदय द्वन्द्वोंका नीड़ बन जाता है। अन्तमें अपने व्यक्तित्वके अनुरूप विवश होकर हमें कोई पक्ष ग्रहण करना पड़ता है। 'मानस'में जहाँ-कहीं भी स्थिति-विशेषकी विलक्षणता उपस्थित हुई है वहीं उसका प्रभाव प्रकट करनेके लिए जैसी शैलीका अनुसरण किया गया है उसमें स्थितिके गहरे प्रभावको शीघ्रातिशीघ्र व्यक्त करनेकी बड़ी क्षमता है। इस शैलीकी पद-योजनामें वाग्वैदग्ध्यकी न्यूनता भले ही रहती है, पर अभिप्राय-की स्पष्टता थोड़े-से बिखरे सरल शब्दोंमें ऐसी होती है जो सर्वसामान्यके हृदयमें तुरन्त घर कर लेती है। असामासिक पदोंकी योजना द्वारा स्थितिके

अनुकूल अनोखी शैली दृष्टिगत होती है जिसमें हृदयके भावोंका संघर्ष देखते ही बनता है। ऐसे स्थलोंपर प्रयुक्त पदोंकी व्यञ्जनामें मार्मिकता भरी पड़ी है। उसकी प्रभविष्णुता भी असामान्य है।

शुचि और रमणीय स्थानकी रमणीयतासे प्रभावित होना सामान्यतः किसी भी प्रकृतिस्थ व्यक्तिका स्वभाव है। ऐसा प्रभाव व्यञ्जित करनेवाली शैली कोमलता और सरसताके साथ सुन्दरताका चित्रांकन भी करती चलती है। 'मानस'में जनकपुरी, जनक-वाटिका, वाल्मीकि-आश्रम, चित्रकूट प्रभृति स्थानोंके वर्णनमें स्थानगत रमणीयता झलकती है। इन सभी स्थलोंकी शैली एक-सी कोमल, कान्तपदवाली तो है ही, साथ ही कुछ कवि-परम्परागत उपमानों, प्रतीकों एवं आलंकारिक योजनाओंसे मण्डित भी।

पात्रानुरूप शैलीसे सामान्यतः यह प्रमाणित होता है कि वाणी व्यक्तित्वका दर्पण है। जिस शैलीसे कलाकार स्वाभाविकताका अतिक्रमण किये बिना किसी पात्रका अन्तर्जगत् प्रत्यक्ष करते हुए उसकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म भावनाकी अभिव्यक्तिके साथ उसके व्यक्तित्वको मूर्तिमान कर देता है वही शैली पात्रानुरूप कहलानेकी अधिकारिणी है। अँगरेजी साहित्यमें शेक्सपियर मात्रानुरूप शैलीका चूड़ान्त पण्डित माना जाता है। शेक्सपियरके समान ही तुलसी हमारे हिन्दी साहित्यमें पात्रानुरूप शैलीकी योजनामें बेजोड़ हैं। मानसमें जहाँ कहीं पात्रोंके उत्तमोत्तम कथोपकथन हुए हैं वहीं पात्रानुरूप शैलीकी कला देखी जा सकती है। यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

'माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहु सबु कहई।
मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन ते न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परे मोरि नाव उड़ाई॥
एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू॥

जौं प्रभु अवसि पार गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू[1] ॥'

निषादके हृदयमें रामके प्रति अनन्य प्रेम होनेके कारण उसे उनकी चरण-रज पानेकी उत्कट अभिलाषा है। इसकी व्यञ्जना तो उसके कथनसे अनायास ही हो जाती है, उसके अन्तःकरणकी सरलता और निर्मलता भी प्रकट हो जाती है। वह सामान्य वर्गका पात्र है, अतएव उसकी वाणीसे 'काठ', 'बाट परे', 'कबारू' आदि शब्दोंका निकलना उसके कथनको और भी स्वाभाविक बना देता है। कथनमें उसके हृदय और व्यक्तित्वकी नैसर्गिक अभिव्यञ्जना है।

रसोंके स्वरूपपर ध्यान देनेसे इसकी स्वयंसिद्ध-सी प्रतीति होती है कि सभी रसोंकी अभिव्यञ्जना एक ही शैलीमें नहीं हो सकती। कवीश्वरोंको भी अपनी कविता रसानुरूप बनानेके लिए शैलीके त्रिविध गुणोंकी मर्यादाका अतिक्रमण करनेपर कटाक्षका लक्ष्य होना पड़ा है। कालिदासका युद्ध-वर्णन सफल नहीं माना जाता, क्योंकि उसमें ओजकी जगह माधुर्य गुण ही व्यक्त होता है। भवभूतिकी (जिनकी शैली, संस्कृत-साहित्यमें, भावानुरूप होनेके कारण उत्तम मानी गयी है) सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने रसानुरूप ही माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणोंका प्रयोग किया है। हिन्दी-साहित्यमें भवभूतिके समान ही रसानुरूप शैलीका व्यवहार करनेवाला यदि कोई महाकवि है तो वे हैं—गोस्वामी तुलसीदास। समस्त 'मानस'के किसी स्थलमें किसी रस विशेषके सभी उपकरणोंके साथ तद्रसानुरूप गुण भी उस रसके प्रमुख उपस्कारककी भाँति वर्तमान है और वह रसके उत्कर्षको और भी श्रीसम्पन्न करता है। यदि रस कोमल भावपर टिकनेवाला है तो उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण सोनेमें सुगन्धकी कहावतको चरितार्थ करते दिखाई पड़ते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥

---

१. 'मानस' अयो० ९९.३-८

मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ दीन्हीं॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय-मुख-ससि भए नयन चकोरा॥
भए बिलोचन चारु अचंचल।
मनहु सकुचि निमि तजे दृगंचल॥

…ब सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥
…विरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
…रता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई'॥'

…कहना न होगा कि शृंगार रस कोमल भावोंसे ही परिपुष्ट होता … ऐसे भावोंकी व्यञ्जनाके हेतु कविने जिस शैलीको चुना है उसमें माधुर्य … तो ओतप्रोत है ही, साथ ही नाद-सौष्ठवका गुञ्जार भी कितनी मधुर …ता है। यहाँ चाहे किसी अभिव्यञ्जनावादीकी रंगत देखिये, चाहे पोपके …उण्ड मस्ट इको दी सेन्स'की बहार। अवतरणमें एक भी पंक्ति ऐसी … है जिसमें माधुर्य गुण न हो। प्रसाद गुणका तो कुछ कहना ही नहीं, … तो स्वच्छ दर्पणकी भाँति झलक ही रहा है।

रसानुरूप शैलीके अन्यान्य उदाहरण न देकर उसके सम्बन्धमें हम …ना ही कहना चाहते हैं कि सारे ग्रन्थमें जहाँ कहीं रसका पूर्ण परिपाक …ाया गया है वहींकी शैली उस रस विशेषके भावोंको व्यञ्जित करती … उपर्युक्त प्रसाद, माधुर्य अथवा ओज गुणका पल्ला पकड़े चलती है।

प्रबन्धानुरूप छन्द-योजना

'मानस'की प्रबन्धानुरूप छन्द-योजनासे भी अपूर्व सन्दर्भण-कलाका …िचय मिलता है। गोस्वामीजीने अपने प्रबन्धका प्रणयन करनेके पूर्व …ी भाँति विचार कर लिया था कि उनके पूर्ववर्ती कवियोंके द्वारा प्रबन्ध-

---

'मानस' बा० २२९.१–७

रचनाके लिए अवधीमें दोहा-चौपाईका जो प्रयोग हुआ वह बहुत ही उपयुक्त था। उनका दृढ़ विश्वास था कि दोहा-चौपाईके लिए अवधीसे बढ़कर ढली भाषा और प्रबन्ध कथा प्रवाहित करनेके लिए दोहा-चौपाईसे बढ़कर दूसरा छन्द न होगा। उन्हें यह भी मालूम था कि हिन्दीके दोहा-चौपाई छन्द अपभ्रंशके 'चुप्पई, 'दुबई' और 'दूहा' छन्दोंके विकसित रूप हैं, न कि फारसी मसनवियोमें प्रयुक्त तत्सदृश छन्दोंके।

यद्यपि गोस्वामीजीने दोहा-चौपाईको प्रबन्ध-रचनाका मेरुदण्ड समझा, तथापि उन्होंने यह नहीं माना कि प्रबन्धका कलेवर केवल इन्हीं दो छन्दोंसे पूर्णतया सुगठित और आकर्षक होगा। फलतः उन्होंने प्रबन्ध-सौष्ठवके लिए दोहा-चौपाईके अतिरिक्त कुछ चुने हुए अन्य प्रकारके छन्दोंका उचित प्रयोग भी किया है। उनके ऐसे प्रयोगका परिणाम ऐसा नहीं हुआ है कि 'मानस' भी केशवकी 'रामचन्द्रचन्द्रिका'की भाँति छन्दोंका 'अजायबघर' हो गया हो, प्रत्युत उससे उनके प्रबन्धकी एक-रूपता, सुषमता और आदर्श छन्दःप्रयोगकी प्रतिष्ठा होती है।

प्रबन्ध-द्वारपर सर्वप्रथम जिन छन्दोंके दर्शन होते हैं वे हैं—संस्कृतके श्लोक। प्रत्येक काण्डका मंगलाचरण संस्कृत छन्दोंसे प्रारम्भ होता है। मानों कवि प्रबन्ध-कथाके छन्दःप्रवाहका उद्भव इन्हींसे सूचित करना चाहता है। उद्भव-स्थानके इन छन्दोंका देववाणीमें होनेका उद्देश्य क्या हो सकता है? प्राचीन संस्कृतके प्रबन्ध-काव्योंकी सरणिसे 'मानस' भी सम्बद्ध रहे, सम्भवतः इसी लक्ष्यकी पूर्तिके लिए ऐसा किया गया है। गोस्वामीजी यह भली भाँति जानते थे कि जिस भाषामें मैं अपना प्रबन्ध लिख रहा हूँ वह संस्कृत-परिवारकी है। संस्कृतके विद्वज्जनोंमें यह भाव न आने पाये कि संस्कृतकी उपेक्षा करके प्रबन्ध 'भाखा'में लिखा गया है। संस्कृतके प्रति अपनी आस्था प्रकट करनेके लिए भी आरम्भ संस्कृत-श्लोकोंसे किया गया है। प्रबन्धकी समाप्तिपर संस्कृतके दो छन्द लिखकर मानों ग्रन्थकी इति भी संस्कृतमें की गयी है[1]।

---

१. दे० 'मानस' उत्तरकाण्डकी समाप्तिपर दिये हुए दो श्लोक।

प्रबन्धमें प्रयुक्त संस्कृतके छन्द हैं—अनुष्टुप[१], शार्दूलविक्रीड़ित,[२] वसन्त-तिलका,[३] इन्द्रवज्रा,[४] मालिनी,[५] वंशस्थविल[६], रथोद्धता,[७] नगस्वरूपिणी[८] एवं स्रग्धरा[९]। ये महाकाव्यके प्रत्येक सर्गके आरम्भमें छन्द-परिवर्तनका नियम भी पूरा करते गये हैं। क्षेमेन्द्र-कृत 'सुवृत्त-तिलक'में संस्कृतके उद्भट कवियोंकी छन्द-रचनापर विचार रखकर दिखाया गया है कि अमुक वर्ण्य विषय अमुक छन्दमें होनेपर अधिक फबता है। उक्त ग्रन्थके अनुसार अनुष्टुपका प्रयोग ग्रन्थारम्भ, कथाविस्तार, शान्ति-उपदेश, सर्वसाधारण वृत्तान्त आदिके कथनमें अत्युत्तम माना गया है[१०]। हमारे कविने विचार कर ही अनुष्टुपका प्रयोग कथारम्भमें किया है। 'मानस'में प्रयुक्त सभी शार्दूलविक्रीड़ित छन्दोंके भीतर झाँकनेसे पता चलता है कि इनमें राम और शिवके शौर्य, तेज, कान्ति, कीर्तिकी दीप्ति दीपित है। शौर्यादिके वर्णनके लिए यह छन्द बहुत ही उपयुक्त माना भी गया है[११]।

संस्कृत वृत्तोंकी इस संक्षिप्त चर्चाके उपरान्त अब 'मानस'के दोहा, सोरठा, चौपाई, हरिगीतिका, चौपय्या, त्रिभंगी, प्रमाणिका, तोमर, तोटक और भुजंगप्रयातकी कुछ विशेषताओंको भी समझ लेना चाहिये।

प्रबन्ध-प्रवाहमें दोहा और सोरठाका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये छन्द प्रबन्धका धारा-प्रवाह संयत रखनेके लिए कहीं विश्रामदायकका

१. दे० 'मानस' बा० मं० श्लोक १, ५; लं० मं० श्लोक ३
२. दे० वही, ,, ,, ६; अयो० ,, ,, १; अरण्य० मं० १, २; किष्कि० मं० १, २; सुन्दर० मं० १; लं० मं० २
३. दे० वही, बा० मं० श्लोक ७; सुन्दर० मं० श्लोक २
४. दे० वही, अयो० मं० श्लोक ३
५. दे० वही, सुन्दर० मं० श्लोक ३ ६. दे० 'मानस' अयो० मं० श्लोक २
७. दे० वही, उ० मं० श्लोक २, ३ ८. दे० वही, उ० दो० १२२ के बाद
९. दे० वही, लं० मं० श्लोक १
१०. दे० 'सुवृत्ततिलक' ३:१६.
११. दे० वही, ३:२२

कार्य करते हैं तो कहीं प्रबन्ध-कथा प्रवाहित रखनेके हेतु नूतन वस्तु उपस्थित करनेका अवसर प्रदान करते हैं, कहीं विस्तृत कथाका सार एकत्र कर उसकी झलक देते हैं तो कहीं अद्भुत सांसारिक व्यवहार-पटुता-का नियम अथवा आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं तात्त्विक सिद्धान्त फैलाते हैं; यही नहीं, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आभ्यन्तरिक एवं बाह्य दृश्योंका चित्र भी इन्हीं छोटेसे छन्दोंमें यत्र-तत्र नर्तन करता हुआ दृष्टिगत होता है। सारांश यह कि बाबाजी इन छोटे छन्दोंमें भी विविध विषय जड़ना जानते थे। सारे प्रबन्धमें ऐसा एक भी दोहा या सोरठा न मिलेगा जो अपने घेरेमें रखी हुई वस्तुकी उत्तम व्यञ्जना न करता हो। यों तो महाकवि वर्ण्य विषयको किसी छन्दमें ढाल सकता है, पर दोहा और सोरठाको प्रबन्धा-नुरूप माननेका कारण है उनकी विश्रामदायिनी प्रकृति।

चौपाइयों तथा कुछ अन्य छन्दोंके प्रवाहमें कथानकके साथ बहते हुए पाठकको कुछ विश्रामकी अपेक्षा होती है। इसकी पूर्ति दोहा या सोरठासे की गयी है। विश्रामके बाद कथाप्रवाह फिर नवीन गतिसे उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है और उसमें विरस एकाकारता नहीं आने पाती। मंगलाचरणके संस्कृत छन्दोंके पश्चात् विश्रामके लिए दोहा या सोरठा आता है[1]। तदनन्तर चौपाइयोंकी धारा बहती है, और आठ अर्द्धालियोंकी लड़ी बन जानेपर एक दोहा या सोरठा आ जाता है। यद्यपि इसी क्रमका विशेष रूपसे निर्वाह हुआ है, फिर भी कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ सात, नौ, दस या इनसे भी अधिक अर्द्धालियोंके बाद विश्राम आया है। उत्तरकाण्डमें तो प्रायः सोलह अर्द्धालियोंके उपरान्त दो या तीन दोहे अथवा दो दोहे और एक सोरठेका विश्राम पड़ता है। गरुड़के सप्त प्रश्नके प्रसंगमें तो लगभग चालीस अर्द्धालियोंके अनन्तर ही विश्राम है। जिन

1. केवल सुन्दरकाण्डके मंगलाचरणके श्लोकोंके बाद दोहा या सोरठाका विश्राम नहीं आया है। मालूम पड़ता है कि गोस्वामीजी हनुमान्-की 'रामकाज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ बिस्राम' की पक्की धुन दिखा-कर ही विश्राम लाना चाहते थे।

प्रसंगोंमें चौपाइयोंकी अधिक संख्याके बाद विश्राम है उन्हें विचारपूर्वक देखनेसे पता चलता है कि यदि उतना अधिक विस्तार न करके बीचमें ही विश्राम कर दिया जाता तो वर्णन अपूर्णताके कारण खटकने लगता। ऐसी ही उपयुक्तताके लिए कहीं-कहीं चौपाइयोंमें कथाप्रवाहकी गति तब-तक बढ़ायी ही गयी जबतक वह पूर्णताको नहीं पहुँची। प्रवाहकी पूर्णताके लिए ही आठ अर्द्धालियोंके बाद विश्राम उपस्थित करनेका सामान्य नियम कई प्रसंगोंमें छोड़ दिया गया है।

गोस्वामीजीने अपनी चौपाइयोंकी मालाके द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि इसमें प्रबन्धके अंग-प्रत्यंगकी जितनी सजीव और स्वच्छ मूर्ति दृष्टिगोचर हो सकती है उतनी अन्य किसी छन्दमें नहीं। प्रबन्धान्तर्गत ऐसी कोई वस्तु या व्यापार नहीं है जो चौपाइयोंकी मालामें संग्रथित न हो। यह दूसरी बात है कि इस मालाको विशेष मनोज्ञ बनानेके लिए अन्यान्य छन्द-रत्न भी पिरोये हों। चौपाइयोंकी सभी मालाएँ एक-सी नहीं हैं। विषयके स्वरूप, उसकी गम्भीरता, विशेषता और प्रभविष्णुताके अनुसार ये मालाएँ भी तदाकार दिखाई पड़ती हैं। एक ही छन्द चौपाईमें श्रुति-नाद और शैलीकी विशेषताओंके आश्रयण द्वारा कविने नाना प्रकारके वातावरणका सफल अंकन किया है। अनेकानेक मालाओंकी चौपाइयोंमें प्रयुक्त स्वरों और व्यञ्जनोंकी नाद-श्रुतिमें ऐसा उत्तम आरोह या अवरोह है कि वे गायकोंके लिए भी उपकारक सिद्ध होती हैं। फलतः हारमोनियम, सितार, ढोल, झाँझ आदि वाद्योंके साथ प्रायः लोग इन्हें उल्लासपूर्वक गाते भी हैं। इनका संगीतत्व स्वीकार करनेमें हमें कोई आपत्ति न करनी चाहिये, क्योंकि गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंपर अपनेको रामचरितका गायक ही कहा है।

हरिगीतिकाका प्रयोग भी प्रबन्धके सभी काण्डोंमें किया गया है। संख्याकी दृष्टिसे यदि सर्वप्रथम स्थान है—चौपाईका तो द्वितीय स्थान है—दोहा-सोरठाका, और इसके बाद तृतीय स्थान है—हरिगीतिकाका। गोस्वामीजीकी चौपाइयोंकी मुख्य विशेषताके सम्बन्धमें ऊपर संकेत किया

जा चुका है कि वे श्रुति-नाद और शैलीके सहारे नाना प्रकारके वातावरणकी सफल सृष्टि करती हैं, यही बात उनके हरिगीतिका छन्दोंके विषयमें भी कही जा सकती है। उनके हरिगीतिका छन्दःप्रयोगकी एक विलक्षणता यह भी है कि जहाँ वे किसी भाव, व्यापार, दृश्य या परिस्थितिका चित्र पूर्णतया साकार और प्रभावोत्पादक बनाना चाहते हैं वहीं चौपाइयोंकी धारा उमंगित कर उसे प्रत्यक्ष करानेके लिए झट हरिगीतिका छन्द उपस्थित कर देते हैं। प्रसंगकी शृंखला अभंग रखनेके हेतु हरिगीतिकाके प्रथम चरणमें उसके ऊपरकी अन्तिम अर्द्धालीका जो अन्तिम अंश गृहीत रहता है वह छन्द द्वारा प्रस्तुत किये गये चित्रको पूर्व प्रवाहके साथ दृढ़ता किन्तु रोचकताके साथ मिलाये रहता है। एक उदाहरण देखिये—

‘हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरे आगे॥
बिकल देखि सुर अंगद धाये। कूदि चरन गहि भूमि गिराये॥
गहि भूमि पारेउ लात मारेउ बालिसुत प्रभु पहँ गयेउ।
संभारि उठि दस कंठ घोर कठोर रव गरजत भयेउ॥
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधान सर बहु बरषई।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई॥’

छन्दके पूर्वकी अन्तिम चौपाईका अन्तिम अंश है ‘गहिभूमि गिराये’; इसी पदावलीसे आरम्भ होकर छन्द प्रवाहित होता और कविका अभीष्ट चित्र उपस्थित करता है। छन्दके इस ढंगसे प्रयोग करनेका परिणाम यह नहीं हुआ कि छन्द बीचकी जोड़ी चकती-सा लगता हो, प्रत्युत वह ऊपरकी चौपाइयोंके प्रवाहका ही अविच्छिन्न रूप-सा प्रतीत होता है। वह भावावेशके प्रवाहकी तीव्रताके कारण जल-वीचियोंकी भाँति धाराके ऊपर उठकर विचित्र चित्रकी झलक देता है। प्रत्येक काण्डकी समाप्तिके उपरान्त जब कि विशेष विश्रामकी अपेक्षा होती है तो हरिगीतिका और दोहाका मनोहर जोड़ा देखते ही बनता है।

यद्यपि यह बताना कठिन है कि अमुक वर्ण्य विषयके प्रकाशनार्थ हरिगीतिका विशेष उपयुक्त है, तथापि बालकाण्डमें पार्वती एवं जानकीके विवाहके प्रसंगोंमें इस छन्दकी मालाओंकी छटा निराली ही दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार स्तुतियोंके प्रसंगोंमें भी। इस आधारपर कहा जा सकता है कि विशेष उल्लासमय वातावरणके प्रसंगमें गोस्वामीजीको इस छन्दका प्रयोग विशेष प्रिय था।

चौपय्या, त्रिभंगी और प्रमाणिका छन्दोंका प्रयोग अनेक स्थलोंमें नहीं है। इनके प्रयुक्त स्थलोंके[1] आधारपर यही कहा जा सकता है कि अपने प्रयोग-स्थलपर ये वैसे ही रमणीय लगते हैं जैसे गगन-पटलपर आखण्डल-चाप। इन त्रिविध छन्दोंके प्रत्येक चरणमें जो कई विराम-पर्व पड़ते हैं उनके कारण इनमें प्रकृतितः भावावेश द्योतनकी असीम क्षमता है। इसीसे इन छन्दोंका प्रयोग कविने ऐसे ही प्रसंगोंमें किया है जहाँ बिना किसी अपवादके हमारी वाणी आनन्दातिरेकमें प्रेमविभोर होकर विलमती हुई ही निकलेगी। इन छन्दोंमें आनन्दोल्लासकी साकार प्रतिमा दिखाई पड़ती है। जैसे आनन्दातिरेकसे हृदय उछलने लगता है वैसे ही ये छन्द भी अपने वातावरणके अपार आनन्द अथवा भावाधिक्यके भारसे मचलते और अठखेलियाँ करते चलते हैं। उनकी गतिके साथ हमारे हृदयका तादात्म्य हो जाता है और भावावेशमें हमें आत्म-विस्मृति-सी हो जाती है।

तोटक और भुजंगप्रयातकी उपयुक्तता, उनकी सजीवता और सौन्दर्य उनमें की गयी स्तुतियोंमें देखते ही बनता है। ग्रन्थभरमें पहलेका प्रयोग

१. दे० 'मानस' बा० दो० १९१ के आगे 'भये प्रकट कृपाला-दीनदयाला ··· ते न परहिं भव कूपा'।
वही, बा० दो० २१० के आगे 'परसत पद पावन, सोक नसावन, ·· गइ पति लोक अनंदभरी।'
वही, अरण्य० दो० ३ के आगे 'नमामि भक्त वत्सलं ··· त्वदीयभक्ति संयुता।'

केवल तीन[1] स्थलोंपर किया गया है और दूसरेका सिर्फ एक[2] स्थानपर। तोमर छन्दका प्रयोग युद्ध-वर्णनमें प्रायः बहुत उपयुक्त माना गया है। जहाँ युद्धका संकुल वातावरण, उसकी भयोत्पादकता, विह्वलता, वीभत्सता और इसी प्रकारके अन्यान्य व्यापारोंसे हृदयकी धुकधुकी बढ़ानेवाला, आँखोंको झँपानेवाला युद्ध-वर्णन नितान्त आवश्यक था वहीं हमारे कविने तोमर छन्दका प्रयोग किया है। नीचे, दो प्रसंगोंसे तोमर छन्दके केवल दो-दो चरण उद्धृत किये जाते हैं—

'तब चले बान कराल, फुंकरत जनु ब्याल।
कोपेउ समर श्रीराम, चल बिसिख निसित निकाम।
... ...कटकटहिं कठिन कराल[3]।'

... ...

'जब कीन्ह तेहि पाखंड, भये प्रगट जंतु प्रचंड।
बैताल भूत पिसाच, कर धरे धनु नाराच।
... ...तेहि मध्य कोसल राज[4]।'

छन्दके ये अर्द्धचरण ही फूत्कारकी दबी ध्वनि उत्पन्न करते हुए कविके अभिप्रेत वातावरणकी जैसी अभिव्यक्ति कर रहे हैं उसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। जिन दो प्रसंगोंसे ऊपरके अवतरण दिये गये हैं, ग्रन्थभरमें वे ही दो प्रसंग हैं जहाँ गोस्वामीजीने इस छन्दका प्रयोग युद्ध-वर्णनमें किया है। एक तीसरा प्रसंग भी है[5] जहाँ उन्होंने तोमरमें ही स्तुतिकी मधुर श्रुति भरकर यह भी दिखा दिया है कि कुशल कलाकार विपरीत छन्दको भी अपने विषयानुरूप बना सकता है।

---

१. दे० **'मानस'** लं० दो० ११० और ११४ के आगेका छन्द तथा उ० दो० १३ के आगेका छन्द।

२. दे० **'मानस'** उ० दो० १०७ के आगेका छन्द।

३. **'मानस'** अरण्य० १९. १–१३ ४. वही, लं० १००. १–१६

५. वही, लं० ११२. १–१६

'मानस' की प्रबन्धानुरूप छन्द-योजनाके सम्बन्धमें एक वाक्य और कहकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है। गोस्वामीजीकी प्रबन्ध-धारा मानों उनके संस्कृत वर्णिकोंके शुभ्र हिम-शिला-खण्डसे प्रसूत होकर चौपाइयोंकी सम भूमिमें सहज स्वाभाविक गतिसे चलती है, मार्गमें दोहों-सोरठोंके मोड़पर विश्राम करती हुई, समय-समयपर प्रसंग एवं भावावेश-रूप वायुके झकोरोंसे विलोड़ित होकर अपनी मनमोहक लहरोंमें सजीव चित्र दिखानेके लिए हरिगीतिका, चौपय्या, त्रिभंगी, प्रमाणिका, तोटक, तोमर आदिके क्षेत्रमें अपनी इठलाहट दिखाती कल-कल नाद करती हुई उत्तरोत्तर राम-सागरमें लीन हो जाती है।

ग्रन्थका उपसंहार

'मानस'के उपसंहारमें सन्दर्भण-कलाकी प्रतिष्ठा भी विचारणीय है। उपसंहारके सम्बन्धमें कृतिकारकी सम्प्रसिद्धि इसीमें है कि वह अपने प्रबन्ध विस्तारको ऐसे कलात्मक ढंगसे केन्द्रित करे कि उसकी एक ही झाँकीमें यथासम्भव ग्रन्थका सांगोपांग स्वरूप नहीं तो उसका समस्त सार अध्येताके हृदय-पटलपर प्रतिबिम्बित हो जाय और वह उसमें संवाहित सन्देश भी प्रकृतितः स्पष्ट समझ ले। सफल उपसंहारकी यह विशेषता 'मानस'के उप-संहारमें सर्वांशमें सत्य उतरती है। पहले देखिये कि इतना बड़ा ग्रन्थ कैसे केन्द्रित किया गया है। स्मरण रहे, यदि पाठक केन्द्रित करनेकी प्रक्रियाको पढ़ते समय पिष्टपेषणकी अनुभूति करने लगे तो उसमें कलाकारकी अस-फलता सिद्ध होगी। एतदर्थ कलाकारको ऐसी युक्तिसे काम लेना चाहिये कि पाठकके समक्ष समस्त कथाका स्मृति-चिह्न चित्रित हो उठे, पर उसे वह पिष्टपेषण न कह सके। जिस अनन्त रामकथाका पूर्ण गान करना शेष और शारदाकी शक्तिसे भी परे है उस कथाका जो अंश गोस्वामीजी वर्णन करना चाहते थे उसे पूरा कर उन्होंने प्रबन्धकी समाप्तिकी सूचना देना आवश्यक समझा—

'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥

राम चरित सतकोटि अपारा । स्रुति सारदा न बरनइ पारा ॥
राम अनंत अनंत गुनानी । जनम करम अनंत नामानी ॥
बिमल कथा हरिपददायिनी । भगति होइ सुनि अनपायिनी ।
उमा कहेउँ सब कथा सुहाई । जो भुशुंडि खग पतिहिं सुनाई ॥
कछुक रामगुन कहेउँ बखानी । अब का कहउँ सो कहहु भवानी[1]॥'

भगवान्‌की विमल कथाका श्रवण करनेके उपरांत उमाको जैसा संतोष[2] मिला उसे व्यक्त करते हुए वे अमित सुखप्राप्ति स्वीकार करती हैं—

'हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा, सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा।'

अब ऊपर उद्धृत अर्द्धालियोंपर ध्यान दीजिये। अन्तिम अर्द्धालीसे स्पष्ट है कि शिवने आज्ञा दे दी है कि समस्त कथा सुन चुकनेपर भी यदि तुम्हें कोई अन्य जिज्ञासा हो तो उसका भी समाधान कर लो। जिज्ञासु श्रोता ऐसी मनोनुकूल आज्ञा पाकर कब चुप रहता। गिरिजाने अपनी जिज्ञासा प्रकट की—

'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई[3] ॥'
'बिरति ग्यान बिज्ञान दृढ़ रामचरित अति नेह।
बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह[4] ॥'

भुशुण्डिके काक-कलेवरकी प्राप्तिका हेतु ही नहीं, अपितु इस देहमें उसे राम-चरित क्योंकर सुलभ हुआ, कैसे स्वयं शंकरने उससे कथा सुनी, कैसे गरुड़ भी उसके पास कथा-श्रवण करनेके लिए गये—इन सभी जिज्ञासाओंका परितोष करनेके लिए उमाने शंकरसे प्रार्थना की। फलतः उपसंहार एक नये रूपमें विकसित होने लगा और बड़े ही स्वाभाविक ढंगसे उसमें काक भुशुण्डि और गरुड़का प्रकरण प्रतिष्ठित हो गया।

शिवने गरुड़का वह महामोह जिसके निवारणार्थ वे चारों ओर फटफटाकर अन्तमें उनकी (शिवकी) सम्मतिसे काकके पास गये इसका

---

१. 'मानस' उ० ५१. १—६ २. दे० वही, उ० ५२., ५२.१—८
३. दे० 'मानस' उ० ५२. ८ ४. दे० वही, उ० ५३.

वृत्तान्त बताया[१]। भुशुण्डिके रुचिराश्रममें जाते ही गरुड़का चित्त शान्त हो गया और परमान्द-प्राप्तिके लिए उन्हें काकके मुखसे रामचरित सुननेकी प्रबल लालसा हुई—

'सुनहु तात जेहि कारन आयउँ।
सो सब भयउ दरस तव पायउँ॥
देखि परम पावन तव आस्रम।
गयउ मोह संसय नाना भ्रम॥
अब श्रीराम कथा अति पावनि।
सदा सुखद दुख पुंज नसावनि॥
सादर तात सुनावहु मोहीं।
बार बार बिनवउँ प्रभु तोहीं[२]॥'

उत्तम अधिकारी देख भुशुण्डिने बड़े ही उत्साहपूर्वक रामचरितका कथन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम, उन्होंने राम-चरित-सरका बखान किया, तदुपरान्त नारद-मोह और रावणावतारकी कथाका वर्णन किया, फिर रामावतार, शिशु-लीला, ऋषि-आगमन तथा विवाह आदिके प्रसंगोंको कहा, इसी प्रसंग प्रवाहकी थोड़ी-सी चौपाइयोंमें अन्यान्य सभी कथाओं और घटनाओंको भी यहीं समाविष्ट कर दिया गया है और इसी प्रसंगकी झाँकीसे सारे ग्रन्थका स्मृति-चिह्न हमारे मानसमें तुरन्त दीप्त हो उठता है[३]। एक या डेढ़ पृष्ठमें 'मानस'के समस्त कथा-विस्तारको प्रसंगकी मनोहर युक्तिसे केन्द्रित कर देना सामान्य सन्दर्भण-कला नहीं।

ऊपर कहा गया है कि उमाके संशयोच्छेदके बहाने काक-भुशुण्डि और गरुड़का प्रसंग बढ़ता है। मोह-ग्रस्त गरुड़ने काकके पास जाकर कथा सुनी। इस प्रसंगसे गोस्वामीजीने उभय कार्यकी सिद्धि की है। एक तो उमाके इस सन्देहका कि किस प्रकार गरुड़ने काकसे कथा सुनी,

१. दे॰ 'मानस' उ॰ दो॰ ५८—६१ २. दे॰ वही, उ॰ ६३, १—४
३. दे॰ वही, उ॰ ६३. ७—९—६७. ७

निराकरण किया है दूसरे 'मानस'के समस्त कथा-विस्तारको युक्तिसे केन्द्रित कर मूल रामायण प्रस्तुत किया है।

इतनेपर भी बाबाजीने कथा-प्रवाह बढ़ानेके लिए अभी महत्त्वपूर्ण युक्ति तो रख छोड़ी ही है। तभी तो उमाके मुख्य प्रश्न 'केहि कारन पायउ काग सरीर'का समाधान यहाँतक नहीं किया। आगे उसी समाधानके लिए गरुड़-भुशुण्डि-संवादकी सरिताका प्रवाहित होना भी बिलकुल स्वाभाविक है। उक्त सन्देह मिटानेके लिए गोस्वामीजीने कथानकका जो स्वरूप खड़ा किया है वह प्रमुख रूपसे उनके आध्यात्मिक संदेशकी अन्तिम निर्णयात्मक पृष्ठ-भूमि है। इसमें प्रविष्ट होकर अध्येता यही अनुभूति करने लगता है कि मलागार कलिकालमें भक्तिसे बढ़कर श्रेयस्कर और कुछ नहीं है। एकमात्र परम विश्रामदायक, जीवनका परम लक्ष्य भक्ति ही है। गोस्वामीजी यही सन्देश देना चाहते थे। अस्तु, सफल उपसंहारका जो वैशिष्ट्य संकेत किया गया था उसकी कसौटीपर 'मानस'का उपसंहार पूर्ण सफल है।

दशम परिच्छेद

'तुलसीका साहित्यिक उपहार'

विस्तृत नवीन क्षेत्रकी स्थापना

तुलसीने हिन्दी-साहित्यको जो अनर्घ उपहार प्रदान किया उसकी विशालता और नूतनताका निर्देश करनेके लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनके इर्द-गिर्दके सम-सामयिक संस्कृत-साहित्यकी विभिन्न दिशाओंकी क्षीण प्रगतिका संकेत भी कर दिया जाय। इससे स्पष्ट हो जायगा कि उनकी साहित्यिक देन उनके सामयिक संस्कृत-साहित्यकी प्रेरणाका परिणाम नहीं है, प्रत्युत वह उनकी नवीनताका ही परिचायक है। उनके युगका संस्कृत-साहित्य संकुचित हो गया था और वह जीवनोन्नायक व्यापक प्रवृत्तियोंसे अनुप्राणित न था। उसमें रीति-ग्रन्थोंके निर्माणकी विशेष चेतना थी। इस युगमें अप्पय दीक्षित(सं० १५७०–१६५०)-कृत 'वृत्तिवार्तिक', 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द', कवि कर्णपूर-विरचित 'अलंकारकौस्तुभ' रूप गोस्वामीका 'उज्ज्वल नीलमणि' प्रभृति अलंकार-ग्रन्थोंका सर्जन हुआ। कुछ नाटक और नाट्यग्रन्थ भी निर्मित होते रहे। कवि कर्णपूरका 'चैतन्यचन्द्रोदय', रूप गोस्वामीकी 'नाटक-चन्द्रिका', शेषकृष्ण(सं० १६४७)का 'कंसवध' नाटक तथा कुछ और छोटे-मोटे नाटक एवं नाट्यग्रन्थ बने। जिन महाकाव्योंकी रचनाएँ हुईं उनमें सभी प्रायः रचयिताके आश्रयदाता राजाओंसे सम्बद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। उदाहरणके लिए रुद्र कविका(सं० १६५३) जो राष्ट्रौढ़वंशके मयूरगिरिके राजा नारायणशाह और उसके पुत्र प्रतापशाहका आश्रित था, 'राष्ट्रौढ़वंशमहाकाव्य' प्रसिद्ध है। इसी प्रकार श्रीराजनाथ(सं० १५९७) विरचित 'अच्युतरायाभ्युदय'महाकाव्य भी विजयनगरके राजाओं-

के प्रशस्तिगानके रूपमें ही है। स्तोत्र-काव्य और सुभाषित काव्यकी प्राचीन परम्परा भी लुप्तप्राय नहीं हो गयी थी। इसीलिए चैतन्य महाप्रभुके अनुयायी रूप गोस्वामी-कृत 'पद्यावलि' जैसे स्तोत्र काव्य भी दृष्टिगत होते हैं। संस्कृत-साहित्यकी उक्त विविध रचनाओंके परिशीलनसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उनमें संस्कृत-समन्वयकी भावनाका अभाव, एकदेशीयता और साम्प्रदायिकताकी प्रस्थापनाका प्रयास है, उनमें न तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतिका संघर्ष मिटानेवाली युक्ति ही अवगत होती है और न काव्य, धर्म अथवा भक्तिकी अनुपम संसृष्टि ही।

उपर्युक्त विवरणको दृष्टिमें रखकर हमें यही स्वीकार करना होगा कि तुलसीका साहित्यिक उपहार उनके सामयिक संस्कृत-साहित्यसे पूर्णतया नवीन और सर्वांगीण है।

गोस्वामीजीका साहित्यिक उपहार ऐसा भी नहीं है कि हम उसे उनकी पूर्ववर्ती या सामयिक विभिन्न प्रचलित काव्य-पद्धतियोंका अनुकरण मात्र कह दें। हिन्दी-साहित्यका आदिकाल जो लगभग चार-पाँच सौ वर्षोंके लम्बे अन्तरालके भीतर विविध सम-विषम परिस्थितियोंमें फूला-फला पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। यह क्षेत्र अव्यवस्थित और दो रंगी था। उसका परिचय इसीसे होता है कि इस कालकी रचनाएँ अपभ्रंश तथा देशभाषा दोनोंमें उपलब्ध होती हैं। अपभ्रंश कालकी कृतियोंके नमूनेवाली हिन्दी बौद्धोंकी वज्रयान शाखाके सिद्धोंके गीतों, वाममार्गोपदेशों, अन्तर्मुख साधनों तथा घटके भीतर विहार-निरूपिणी अटपटी बानियोंमें देखी जा सकती है। (ये रचनाएँ पुरानी हिन्दीके सप्तम शतकसे नवम शतक तकके स्वरूपकी ज्ञापक हैं) देवसेन नामक जैन ग्रन्थकार (सं० ९९०) कृत 'श्रावकाचार, 'दब्व सहाव पयास' आदि ग्रन्थ दोहेमें इसी कालमें बने। इनके अतिरिक्त जैन कवियोंकी अन्यान्य कृतियाँ, यथा, 'सुयपंचमी कहा', 'योगसार', 'जसहर चरिउ', 'णाय कुमार चरिउ' आदि भी पायी जाती हैं। इनमें चरित-काव्य या आख्यान-काव्यके लिए चौपाई-दोहेकी पद्धति ग्रहण की गयी है। गोरख-पन्थके योगियोंने

भी आदि कालके हिन्दी-साहित्यमें अपनी अनेकानेक कृतियाँ छोड़ी हैं[1]। पर सिद्धों और योगियोंकी रचनाओंके विषयमें यह न भूलना चाहिये कि वे तान्त्रिक विधान, योग-साधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियोंकी स्थिति, अन्तर्मुख-साधनाके महत्त्व आदिकी साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवनकी स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्यके अन्तर्गत नहीं आतीं[2]। फलतः इनकी चर्चा यहीं छोड़ हम सामान्य साहित्यके अन्तर्गत रचनाओंमें हेमचन्द्र-कृत उनके अपभ्रंशके उदाहरणोंको कह सकते हैं। साथ ही सोमप्रभ सूरिके 'कुमारपालप्रतिबोध'में व्यवहृत अपभ्रंशके पद्योंको भी। जैनाचार्य मेरुतुंगके 'प्रबन्धचिंतामणि'में मुञ्जके कहे हुए दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दीके बहुत पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। शार्ङ्गधर-कृत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' सुभाषित-संग्रहके बीच-बीचमें भी देश-भाषाके वाक्य आये हैं। परम्परासे प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधरने 'हम्मीररासो' नामक वीरगाथा-काव्यकी भी रचना भाषामें की थी।

अब दूसरे रंग अर्थात् देश-भाषावाले आदि कालके काव्यको लीजिये। सामान्यतः यह चारणों या भाटोंका गान था, जिसे वे अपने आश्रयदाताके पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदिके समय अलापते थे या रण-क्षेत्रोंमें जाकर वीरोंके हृदयमें उत्साहकी उमंगे जगानेके लिए रचते थे। इस दशामें काव्य या साहित्यके भिन्न-भिन्न अंगोंकी पूर्ति और समृद्धिका सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। अतः वीर-गाथाओंकी ही उन्नति हुई। ऐसी रचनाओंमें 'बीसलदेवरासो' और 'पृथ्वीराजरासो' प्रभृति ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। भले ही ये सन्दिग्ध हैं, पर प्राकृतकी रूढ़ियोंसे मुक्त भाषाके पुराने काव्यकी परम्पराका हम जो संक्षिप्त विवेचन करते हैं वह इन्हींके आधारपर करनेके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं। वीरगाथा-काव्य यद्यपि मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपोंमें उपलब्ध होता है, पर

१. दे० राम० शु० 'हि० सा० इ०' नवीन संस्क०, पृ० २२
२. ,, ,, ,, वही, ,, पृ० २२:२३

विशेष महत्त्वपूर्ण प्रबन्धात्मक स्वरूप ही है। साहित्यिक प्रबन्धके रूपमें जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त है वह है—'पृथ्वीराजरासो'। यद्यपि यह हमारे साहित्यमें आजतकके जितने ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें सबसे बृहत्काय है तथापि यह आमूलचूल उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्यकी कसौटीपर नहीं कसा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इसके इतने विस्तृत उनहत्तर समयों-(सर्गों या अध्यायों) में अनेकानेक सुन्दर काव्य-सौष्ठव-पूर्ण प्रसंगोंका सन्निवेश भी है, प्राचीन समयमें प्रचलित प्रायः सभी छन्दों, विशेषतया कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या आदिका व्यवहार हुआ है, किन्तु छन्दोंकी विविधता, अध्यायोंकी विपुलता और रमणीय काव्यात्मक वर्णनोंका होना ही तो उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्यकी आधारशिला नहीं है। वस्तुतः प्रबन्धका मेरुदण्ड है—उसके कथानककी धारावाहिकता, उसमें प्रतिष्ठित राष्ट्रीयता, उसमें संयुक्त सार्वदेशीय मानवता और इन सबके मूलमें प्रबन्धकारकी सर्वभूत-व्यापिनी दृष्टिका गम्भीर प्रकाश। 'रासो'में ये बातें कहाँ? वह तो कविके आश्रयदाताका प्रशस्ति-गान मात्र है जिसमें जीवनके एकांगी स्वरूपका कृत्रिम प्रदर्शन है। अशान्तिकालका साहित्य होनेके कारण यह सांस्कृतिक दृष्टिसे भी अधूरा है, केवल क्षत्रिय जातिके वीरोत्साहका वर्णन करता है। हम इसे अव्यवस्थित प्रबन्ध-काव्यके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? ऐसे अव्यवस्थित प्रबन्धमें हमें सुव्यवस्थित परिधानकी आशा भी नहीं करनी चाहिये, अर्थात् 'रासो'की भाषा भी अव्यवस्थित है। व्याकरणच्युत इसकी तिरंगी भाषा(अर्थात् कहीं अनुस्वारान्त संस्कृत और प्राकृतकी अन्धी नकल, कहीं अपभ्रंश या पुरानी हिन्दीके प्रयोग तो कहीं अर्वाचीन हिन्दीके स्वरूप)की लपेटमें पड़कर हम प्राचीन हिन्दी भाषा या साहित्यकी इतिहास-शृंखला नहीं बाँध सकते और न आगे कोई विशेष लाभ ही उठा सकते हैं।

वीरगाथा कालके अन्य छोटे-मोटे काव्य-ग्रन्थोंके विषयमें और कुछ न कहकर जब हम इस कालके अनन्तर प्रवाहित होनेवाले निर्गुण-मत-प्रचारक सन्त-साहित्यकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि

इसमें भी काव्यके अविकसित स्वरूपका ही समावेश हुआ है। इसकी रचनाएँ केवल मुक्तकोंके रूपमें पायी जाती हैं। नामदेव, कबीर तथा अन्यान्य निर्गुणियोंके दोहे या पद मुक्तकके ही रूपमें हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर ऊटपटाँग है। उनमें उपदेशात्मक और प्रचारार्थक वचनोंका प्राधान्य है। वे साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावात्मक रहस्य-वाद पूर्ण भी हैं। उनमें सच्छास्त्रोंके प्रति अनास्था और प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म एवं उसके विधानोंकी निन्दा भी है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पद्धतिकी रचनाएँ साम्प्रदायिकतासे शून्य थीं या मतवादका विषम विष नहीं वमन करती थीं। उनमें जीवनके प्रति उपेक्षा थी, वे वैराग्य-प्रधान थीं। वैयक्तिक साधनाको प्रश्रय देनेवाली थीं।

इस सिलसिलेमें सूफी साहित्य-पद्धति भी अवलोकनीय है। इस पद्धतिके शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियोंकी प्रेम-गाथाएँ वास्तवमें साहित्य-कोटिके भीतर आती हैं। इनमें प्रायः सभी कवियोंने कहानियोंके द्वारा प्रेम-मार्गका महत्त्व दिखाया है। मार्मिक ढंगसे लौकिक प्रेमके बहाने उस प्रेम-तत्त्वका आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वरकी प्राप्ति करानेवाला है। इनकी सभी कहानियोंमें सामान्यतः यही वर्णित है कि कोई राजकुमार किसी राजकुमारीके अप्रतिम सौन्दर्यकी चर्चा सुनकर प्रेमोन्मत्त हो गया, उसकी प्राप्तिके लिए अपना सर्वस्व त्यागकर भारीसे भारी संकटों और आपत्तियोंको झेला और अन्तमें उसे प्राप्त किया। पर प्रेमकी पीरकी जो व्यञ्जना होती है वह ऐसे विश्व-व्यापक रूपमें होती है कि वह प्रेम इस लोकसे परेका दिखाई पड़ता है। प्रेम-कल्पना, उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्यञ्जना, बीच-बीचमें रहस्यमय परोक्षकी ओर हृदय-ग्राही मधुर संकेत आदि भी सूफी कवियोंकी निजी विशेषताएँ हैं। कुछकी रचनाओंमें साधनात्मक रहस्यवाद, हठयोग आदिकी जो झलक मिलती है वह भारतीय योगियों, रसायनियों और तान्त्रिकोंका प्रभाव है। अपनी प्रेम-कल्पनाकी अभिव्यक्तिके लिए सूफी कवियोंने जिन प्रतीकात्मक कथाओंको चुना वे हिन्दुओंके घरमें प्राचीन कालसे प्रचलित कहानियाँ हैं। 'कहानियोंका

मार्मिक आधार हिन्दू हैं[१]।' सूफियोंके प्रबन्ध काव्योंकी रचना संस्कृत महाकाव्यकी सर्गबद्ध-पद्धतिपर नहीं है, फारसीकी मसनवी शैलीपर है, पर शृंगार, वीर आदिके वर्णन कुछ अंशोंमें चली आती हुई भारतीय काव्य-परम्पराके अनुसार है। इस पद्धतिके सभी प्रबन्ध-काव्योंके छन्द एवं भाषामें एकरूपता है, अर्थात् भाषा ठेठ अवधी है और प्रयुक्त छन्द हैं—चौपाई-दोहा। आख्यान-काव्योंके लिए चौपाई दोहेकी परम्परा बहुत पुराने (विक्रमके ग्यारहवें शतकके) जैन चरित-काव्योंमें मिलती है, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। सूफी साहित्य-पद्धतिमें यों तो अनेक कवि आते हैं, पर उन सबमें जायसी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी 'पद्मावत' हिन्दी-काव्य-क्षेत्रमें एक अद्भुत रत्न है।

अब हमें साहित्यकी उस पद-पद्धतिकी ओर देखना है जिसके द्वारा कृष्णोपासनाका मंजु स्वरूप द्युतिमान् हुआ। इस पद्धतिके विपुल भण्डार-को सम्पन्न करनेवाले अगणित पदोंके सम्बन्धमें कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये व्रजभाषामें मुक्तक प्रगीतोंके रूपमें हैं। जिज्ञास्य है कि हिन्दी-साहित्यमें ऐसे मुक्तक पदोंका चलन कबसे आया। अमीर खुसरोंके गीतों, विद्यापतिकी पदावली तथा कबीरकी पदावलीको ध्यानमें रखते हुए यह कथन समीचीन होगा कि मुक्तक पदोंकी रचनाएँ भी हिन्दी-साहित्यके आदि कालसे ही होती रहीं। पर उनका चरमोत्कर्ष सोलहवें शतकमें प्रस्फुटित हुआ, जैसा कि कृष्णोपासक अष्टछाप तथा अन्यान्य कृष्णभक्त कवियोंकी रचनाओंसे अवगत होता है। सूरदासके अत्यन्त मधुर और मनोहर पदोंको हम पद-पद्धति-साहित्यका सर्वोत्कृष्ट आदर्श कह सकते हैं। इनमें जो रचना-प्रगल्भता और काव्यांगोंकी परि-पूर्णता है उसके आधारपर 'सूरसागर' किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्पराका चाहे वह मौखिक ही रही हो पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है[२]। इस पद्धतिके वर्ण्य विषयकी ओर देखनेसे प्रकट होता है कि इसमें कृष्णकी

१. 'हि० सा० इ०' नवीन संस्क०, पृ० ८२
२. वही, ,, ,, पृ० १८५

बाल-लीला तथा विशेष रूपसे राधा-कृष्णकी प्रेम-लीला ही सबने गायी है, किसीने उनका सर्वांगीण चरित्र नहीं ग्रहण किया है। फलतः पद-रचनाओंमें न तो जीवनके अनेक गम्भीर पक्षोंका मार्मिक पोषण हुआ और न अनेकरूपता ही आयी है। हाँ, इस पद्धतिने वात्सल्य और शृंगार रसका अपार सागर भर दिया, इसमें सन्देह नहीं।

गोस्वामीजीके पूर्वकी पद्धतियोंके संक्षिप्त परिचयके साथ उनकी एकांगिकता और अपूर्णताका आभास दिया जा चुका। अब, जब हम तुलसीकी रचनाओंकी ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें उनके साहित्यिक उपहारकी नवीनता और व्यापकता ही चतुर्दिक् दृष्टिगत होती है। उन्होंने चन्दबरदाईकी भाँति ऐसा प्रबन्ध-महाकाव्य नहीं लिखा जो किसी प्रकार एकदेशीय, अव्यवस्थित, अविकसित हो, या उत्कृष्ट प्रबन्धगत विभूतियोंसे शून्य हो, प्रत्युत उन्होंने ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत किया जिसमें प्रबन्ध-पटुताकी सर्वांगीण कलाका पूर्ण परिपाक हुआ और जो हिन्दीके प्रबन्धः काव्योंका आदर्श तथा शिरोमणि बना। आश्रयदाता राजाकी प्रशस्ति गानेके लिए चारणों या भाटोंकी जो कवित्त, छप्पय सवैया आदिकी मुक्तक पद्धति आदि कालमें चली थी उसमें भी तुलसीने क्या भाषा, क्या भाव, सभी दृष्टिसे पूर्णता ला दी। उन्होंने 'कवितावली'के मुक्तक छन्दोंमें अपने उपास्यका ऐसा मार्मिक प्रशस्ति-गान किया कि उसकी समता कोई प्राकृत-जन-गुण-गायक कवि क्या करेगा। जिन कवित्त, सवैया आदिको चारणोंकी संकुचित दृष्टिने वीर या शृंगारकी अभिव्यक्तिका एकमात्र छन्द समझा था उन्हींको बाबाजीने ऐसे सुडौल रूपसे ढाला कि उनमें सभी रसोंकी सुषमा देखते ही बनती है। कबीर और जायसीके मन्तव्योंका यथोचित सामञ्जस्य और परिष्कार तथा शैलीका संस्कार करके अपना लिया। इस्लामी प्रभावके कारण इन दोनोंमें भारतीयता और सांस्कृतिक चेतनाका अभाव तो था ही, साथ ही वे हिन्दुओंके धार्मिक और सामाजिक ऐतिह्य तथ्योंसे पराङ्मुख भी थे। रहस्यवादी तो थे ही। गोस्वामीजीने इनकी उक्त त्रुटियोंको त्यागकर उनकी बातोंमें पूर्ण भारतीयता और

संस्कृतिका योग करके उन्हें सांगोपांग काव्यके रूपमें प्रकट किया। उन्होंने पदपद्धतिको भी अपनाया। एक ओर उपासना और साधना-प्रधान एकसे एक बढ़कर 'विनयपत्रिका'के पद रचे और दूसरी ओर लीला-प्रधान 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली'के पद। उपासना-प्रधान पदोंकी जैसी व्यापक रचना तुलसीने की है वैसी इस पद्धतिके अद्वितीय कवि सूरदासने भी नहीं की। पदोंकी भाषामें प्रान्तीयता और तोड़-मरोड़की जो भद्दी गाँठें थीं उन्हें घुलाकर सार्वदेशीय सुसंस्कृत व्रजभाषाका बेजोड़ प्रयोग करना भी तुलसीने सिखाया। उन्होंने कुछ लोकगीतोंको साहित्यिक रूप देनेका कार्य भी किया जैसा कि 'नहछू', दोनों 'मंगल' और 'बरवै'की रचनाओंसे प्रकट होता है।

गोस्वामीजीने कवि-कर्मकी महिमा तथा उसकी दुरूहताके व्यञ्जनार्थ अपनी प्रभूत विनम्रतावश अपने विषयमें कहा है—

'कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे'॥'

... ...

'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप रामगुन गावउँ'॥'

काव्यके विविध रूपोंपर अधिकार

इस कथनको देख उनकी अलौकिक कवित्व-शक्तिपर किसी प्रकारका आवरण नहीं डाला जा सकता। यह बात अवश्य है कि मुख्य रूपसे वे भक्त थे, पर आनुषंगिक रूपसे कवि भी। उनकी कृतियाँ प्रमाणित करती हैं कि काव्यके विविध रूपोंपर उनका अनन्य अधिकार था। कविताके मुख्य दो विभाग किये जा सकते हैं, प्रथम भावात्मक, व्यक्तित्व-प्रधान अथवा आत्माभिव्यञ्जक कविता तथा द्वितीय विषय-प्रधान अथवा लोकाभिव्यञ्जक कविता। इन दोनों विभागोंके लिए कर्तृ-प्रधान कविता (सबजेक्टिव पोएट्री) तथा कर्मप्रधान कविता (आबजेक्टिव

१. 'मानस' बाल० ८. ८, ११ २. वही, ,, ११. ९

पोएट्री) का प्रयोग भी अनुपयुक्त न होगा । कर्तृप्रधान कवितामें कविका हृदय उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जैसे एक उत्तम, सुप्रभ दर्पणमें किसी व्यक्तिका प्रतिबिम्ब । यद्यपि इस प्रकारकी कविता कविके वैयक्तिक विचारों और भावोंकी व्यञ्जक होती है पर इसके साथ ही यह भी स्मरण रहे कि ये व्यञ्जित भाव मानव-जातिके भावोंके प्रतिनिधि होते हैं। तभी तो वे पाठकोंको भी आत्मीय उद्‌गार-से प्रतीत होते हैं। शृंगार, नीति, स्तुति, निन्दा आदिकी मुक्तक रचनाओंका अन्तर्भाव इसी कोटिमें किया जाता है। कर्मप्रधान कविताका कविके विचारों और मनोभावोंसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता । उसके विषय सांसारिक भाव और कार्य होते हैं । कवि बाह्य जगत्‌में जा मिलता है और उसीसे प्रेरित होकर अपनी कविताका विषय ढूँढ़ता है, फिर उसे अपनी कलाका उपादान बनाता है और अपनी अन्तरात्माको जहाँतक हो सकता है, प्रच्छन्न रखता है । उसकी दृष्टि जगत्‌के वास्तविक दृश्यों और जीवनकी वास्तविक दशाओंके निरूपणकी ओर रहती है न कि आत्माभिव्यञ्जनकी ओर। कर्म-प्रधान कविताके मुख्य भेद खण्डकाव्य और महाकाव्य हैं। कर्तृ-प्रधान और कर्म-प्रधान दोनोंमें उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, तथापि कर्म-प्रधान कविता यथातथ्यपर विशेषतया आधारित होनेसे विषयके यथार्थ निरूपणके कारण श्रेष्ठ समझी जाती है ।

विचारणीय है कि काव्यके उक्त स्वरूपों अर्थात् मुक्तक, खण्डकाव्य तथा महाकाव्यपर गोस्वामीजीने अपना कैसा अधिकार दिखाया है। मुक्तक काव्यके स्वरूपकी ओर ध्यान आकृष्ट होते ही, सर्वप्रथम, हम देखते हैं कि उसमें प्रत्येक पद्य अपनी अलग सत्ता बनाये रहता है। ऐसा नहीं होता कि एक पद्य अपना अस्तित्व रखनेके लिए दूसरे पद्योंपर किसी प्रकार अवलम्बित रहता हो। यद्यपि अभिनवगुप्ताचार्यने कहा है—'पूर्वापर-निरपेक्षापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्' अर्थात् जिसका रसास्वाद पूर्वापर प्रसंगोंकी अपेक्षा नहीं रखता उसे मुक्तक कहते हैं, ऐसा होनेपर यह आवश्यक नहीं है कि मुक्तक पद्यमें किसी रसकी ही निष्पत्ति हो।

उसमें वाग्वैदग्ध्य और सुभाषित अर्थात् नीति-धर्म-उपदेश-समन्वित सूक्ति भी हो सकती है। मुक्तकका उपयोग वस्तुतः नीति-सुभाषितमें ही अधिक फबता है, क्योंकि इसमें पूर्वापर प्रसंगकी इतनी आवश्यकता नहीं रहती। मुक्तककी परिधिमें रसके विविध अवयवोंको जुटाकर रसकी निष्पत्तिका सांगोपांग निर्वाह करना बड़े ही कुशल कविका कर्म है, फलतः ऐसे प्रसंगोंमें मुक्तककारको अधिकांशमें व्यञ्जनाशक्तिका प्रयोग करना पड़ता है। इसमें बहुधा पूर्वापर प्रसंगकी कल्पनाका कार्य सहृदय पाठक या श्रोतापर छोड़ दिया जाता है। वे मुक्तकका आनन्द उठानेके लिए एक पूरे प्रसंगका स्वतः मानसिक अध्याहार कर लेते हैं। मुक्तकका प्रभावाभिव्यञ्जन इस बातका द्योतक है कि जहाँ खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि प्रबन्धोंमें भावकी पुनः-पुनः दीप्ति होनेके कारण कुछ कालतक प्रसरणशीलता देखी जाती है, वहाँ मुक्तक रचनाओंमें यह भावदशा कुछ क्षणोंतक ही टिकती है, पर वह इतनी तीव्र और मार्मिक होती है कि उसका प्रभाव भी किसी प्रकार हीन नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रबन्धमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवनका दर्शन करते हुए कथाप्रसंगकी परिस्थितिमें अपनेको भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदयमें एक स्थायी भाव ग्रहण करता है, किन्तु मुक्तकमें रसके ऐसे स्निग्ध छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देरके लिए खिल उठती है। उसमें अधिकसे अधिक एक मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्यके सहसा सामने लाये जानेके कारण पाठक या श्रोता मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है अवश्य, किन्तु कुछ क्षणोंके लिए ही। यह भी स्मरण रहे कि मुक्तककी इस कुछ क्षणोंकी ही मुग्धकारिणी प्रकृतिमें भी कभी-कभी जीवनपर्यन्त टिकी रहनेवाली विशेष मनःस्थितिकी अनूठी व्यञ्जना भी रहती है। प्रबन्धकार प्रबन्धको काल-व्यतिक्रम दोषसे बचाने, चरित्रांकन और वर्णनकी दृष्टिसे पूर्णता लाने तथा उसके अन्यान्य नियमोंका निर्वाह करनेके नियन्त्रणमें पड़कर स्वच्छन्दतासे अपना हृदय खोलकर नहीं दिखा पाता; इसके विपरीत मुक्तककार पूर्ण स्वातन्त्र्यके साथ अपने हृदयका अणु-अणु

बिना किसी प्रतिरोधके दिखा सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्तककी संक्षिप्तताकी उपयोगिता भी निर्विवाद है। जीवनके झमेलोंमें व्यस्त प्राणियोंको प्रबन्धका आनन्द उठानेके लिए इतना अनिर्बन्ध अवकाश कहाँ है। जहाँ उनका समय परस्पर आनन्द-विनोदमें व्यय हो रहा है वहाँ प्रबन्धके लिए स्थान नहीं है। सभा-समाजोंके लिए मुक्तककी संक्षिप्त रचना ही उपयुक्त है। मुक्तककी इन विशेषताओंको अनावृत करनेका अभिप्राय प्रबन्धकी गरिमापर आक्षेप करना नहीं है। प्रबन्ध-काव्य तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु मुक्तक भी आरोचनयुक्त होनेसे निन्द्य नहीं कहा जा सकता।

मुक्तककी इस सामान्य चर्चाके अनन्तर हम 'दोहावली', 'बरवै रामायण', 'कवितावली', 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'विनय-पत्रिका'का नामोल्लेख इसलिए करते हैं कि ये गोस्वामीजीकी उत्कृष्ट मुक्तक रचनाएँ है। इन्हें मुक्तककी किसी तुलापर तौलिये, इनके सभी पद्य सन्तुलित मिलेंगे। ऐसे सन्तुलनके समय हमें यह भी स्मरण रहे कि पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं। अर्थात् तुलसीके सभी मुक्तक पद्य उत्तम कोटिके व्यंग्य-प्रधान काव्य ही नहीं हैं, उनमें मध्यम कोटिके गुणीभूत काव्यके नमूने भी हैं और अधम कोटिके अव्यंग्य-काव्यके भी। अन्तिम श्रेणीके काव्यमें बाबाजीके उन सभी पद्योंकी परिगणना करनी चाहिये जिनमें शब्दचित्र और वाच्यचित्रकी रमणीयताके साथ उन्होंने सामान्य अनुभूतिके क्षेत्रके सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और पारमार्थिक तथ्योंको ही ऐसे नये और विशेष ढंगसे कहा है कि वे भी अपनी प्रभविष्णुता और प्रसाद गुणके कारण जन-साधारणके हृदयमें घर कर लेते हैं। 'दोहावली'में ऐसे कथनोंका आधिक्य है।

गोस्वामीजीकी मुक्तक श्रेणीमें आनेवाली रचनाओंके विषयमें यह भी ध्यान देनेकी बात है कि मुक्तक होनेपर भी उनमें सभी कर्तृ-प्रधान नहीं हैं, प्रत्युत अधिकांश कर्म-प्रधान ही हैं। 'गीतावली' यद्यपि गीतकाव्य है, फिर भी यह आद्योपान्त कथाको लेकर चली है। इसी प्रकार 'कवितावली'के लंकाकाण्डपर्यन्त जिन पद्योंका निर्माण हुआ है वे सब भी कथाप्रसंग

लेकर चले हैं। केवल उसके उत्तरकाण्डमें कविका आत्माभिव्यञ्जन परिलक्षित होता है। इसी प्रकार 'विनयपत्रिका'के पदोंमें भी उन्होंने अपना वैयक्तिक हृदय खोल-खोलकर दिखाया है। अस्तु, 'विनयपत्रिका'-के अधिकांश पदों और 'कवितावली'के उत्तरकाण्डकी रचनाओंको कर्तृ-प्रधान काव्य कहा जा सकता है, अन्यथा उनकी अन्य मुक्तक रचनाएँ भी कर्म-प्रधान काव्य हैं।

विचारणीय है कि गोस्वामीजीकी अक्षय कीर्तिके मूल आधार'मानस'के प्रणयनमें शास्त्रीय महाकाव्योचित लक्षणोंका अनुधावन कैसे किया गया है। संस्कृतके प्राचीन आलंकारिकोंमें भामह और दण्डी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मध्यकालीन आलंकारिकोंमें विश्वनाथ कविराज भी। इन्हीं तीनोंके ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट[1] महाकाव्यके लक्षणोंको ध्यानमें रखकर उनके प्रकाशमें 'मानस'का महाकाव्यत्व दिखानेका प्रयास किया जाता है।

'मानस'में सर्गबन्धके स्थानपर जो आख्यान-योजनाकी रीति अवगत होती है वह ऋषि-प्रणीत महाकाव्यके अनुसार है। ग्रन्थारम्भमें देवोंका अभिवादन भी महाकाव्यकी रीतिका पालन है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम इस महाकाव्यके धीरोदात्त नायक हैं ही। उसमें चतुर्वर्गकी सिद्धिका उदात्त लक्ष्य भी है, उपक्रममें गोस्वामीजीने स्वयं कहा है—'अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी'। नगर-वर्णन महाकाव्य-का अंग है, इसे देखना हो तो जनकपुरी, लंका तथा अयोध्याकी रम्यता एवं वैभवके द्योतक वर्णनोंका अवलोकन कीजिये। ग्रन्थमें समुद्र और

१. महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणोंका निर्देश भामहने 'काव्यालंकार'के प्रथम परिच्छेदके श्लोक १९ से लेकर आगेके कई श्लोकोंमें किया है।
महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणोंका निर्देश दण्डीने 'काव्यादर्श'के प्रथम परिच्छेदके श्लोक १५ से लेकर आगेके कई श्लोकोंमें किया है।
महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणोंका निर्देश विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'के श्लोक ३१५–२७ में किया है।

सामुद्रिक जलचरोंका दृश्य भी अंकित है। पर्वतीय प्रान्तों और वनखण्डोंकी सुषमा चित्रकूट-वर्णनमें देखी जा सकती है। ऋतुओंका वर्णन ढूँढ़ना हो तो सीता-हरणके पश्चात् रामके प्रवर्षण-वासके प्रसंगमें वर्षा और शरद् ऋतुके रुचिर चित्रणको देखिये। ऋतुराज वसन्त तो अनेकानेक प्रसंगोंमें चित्रित है, विशेषतः जनककी वाटिकामें तो उसका अवतार ही बताया गया है। चन्द्रोदय और सूर्योदयके मनोहर वर्णनका अभाव भी नहीं है। उद्दीपनके रूपमें वर्णित जनकके उद्यानमें सीता-रामके पूर्वानुरागका चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन भी अप्रतिम है। महाकाव्यके अन्यान्य लक्षण, यथा—संयत संयोग-शृंगार, विप्रलम्भ-शृंगार, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मन्त्र, दूत-कर्म, अभियान, युद्ध और नायकके अभ्युदय आदिके उत्तमोत्तम वर्णनोंकी छटा भी 'मानस'में है। इसके यथोचित विस्तृत, अलंकृत और सरस एवं भाव परिपूर्ण होनेमें कोई सन्देह नहीं है। इसकी प्रत्येक कथा अपने उचित परिधिमें वर्तमान है। इसमें श्रुतिमधुर प्रसंगानुकूल छन्दों और उपयुक्त नाट्य-सन्धियोंका भी पूर्ण समावेश है। यह महाकाव्योपयोगी तीनों प्रधान रसों(शृंगार, वीर, शान्त)से पूर्णतया अभिषिक्त है, पर यह अवश्य है कि इसमें शान्त (भक्ति) रस ही सर्वोपरि विराजमान है, अन्य सभी रस इसीके (भक्ति रसके) अंगभूत हैं। इसमें आरम्भमें खलोंकी निन्दा और सज्जनोंकी प्रशंसाका प्रसंग भी सन्निविष्ट है। महाकाव्यके अन्य छोटे-मोटे लक्षण भी इसी भाँति 'मानस'पर घटित हो सकते हैं।

इस प्रकार 'मानस' महाकाव्यके प्रायः सभी लक्षणोंसे सम्पन्न है। गोस्वामीजीने इस महाकाव्यमें ऐसी विशेषताएँ भी सन्निविष्ट की हैं जो उनके जीवनोन्नायक व्यक्तित्व, अलौकिक प्रतिभा एवं मानवीय उच्च आदर्शोंमें अखण्ड आस्थाके रुचिर परिणामस्वरूप हैं। अधिकांश संस्कृत-महाकाव्य-प्रणेताओंकी रुचि जहाँ पाण्डित्य-प्रदर्शनोन्मुख होनेके कारण शब्दाडम्बर-स्फीत अलोकसामान्य वाक्यसरणि ग्रहण करने और जन-सामान्यके जीवन-यात्रा-चित्रणसे दूर रही वहाँ लोकोपकारक तुलसीकी रुचि सर्वसाधारणके जीवनकी व्यापक भूमिपर स्थिर होकर सामान्य वाक्य-

शैलीके द्वारा भी उत्कृष्ट चरित अथवा भावकी अभिव्यक्तिमें रमी। अपने उद्रेक-जनक युगको प्रतिबिम्बित करते हुए तत्कालीन संघर्षोंके प्रशमनकी युक्ति निकालने तथा साम्प्रदायिक समन्वय करनेका जैसा कुशल प्रयत्न तुलसीने अपने महाकाव्यमें किया है वैसा केवल आकार-प्रकार और वर्ण्य-वर्णन आदिका अनुपालन करनेवाले संस्कृतके अधिकांश महाकाव्य-रचयिताओंसे नहीं हो पाया। पात्रोंके चरित्रांकनमें भी गोस्वामीजीने अपनी मौलिक दृष्टि रखी है। यह नहीं किया है कि लक्षण-ग्रन्थोंमें गिनाये हुए गुणों का रंग भरकर नायकका ढाँचा खड़ा कर दिया हो या किसी प्रमुख पात्रका चरित्र अविकसित, कृत्रिम अथवा असुन्दर बना दिया हो। मनोवैज्ञानिक रीतिसे चरित्रगत विशेषताओंका उद्घाटन करते हुए पात्रोंका जैसा सहज स्वभाव तुलसीने दर्शाया है वैसा संस्कृतके कुछ ही महाकाव्योंमें मिल सकता है। रामके चरित्रमें नरत्व और नारायणत्वके अपूर्व सामञ्जस्यकी प्रतिष्ठाके द्वारा तुलसीने भक्तिका जो अनन्य आलम्बन खड़ा किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति और भ्रातृत्वका जैसा मणि-काञ्चन-संयोग भरतके चरित्रसे प्रतिष्ठित किया गया है वैसा सर्वत्र सुलभ नहीं। वर्णनों, घटनाओं और भावोंका जब सुषम अनुपातमें समन्वय रहता है तो महाकाव्यकी श्री और ही प्रकारकी होती है। आदिकाव्योंको छोड़कर जब हम संस्कृतके अन्य महाकाव्योंकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे एक प्रकार विकलांग-से प्रतीत होते हैं। उनमें घटनात्मकताका ह्रास और वर्णनात्मकताका प्राधान्य स्पष्टतः प्रकट होता है। बृहत्त्रयीमें प्रधान 'नैषधीय-चरित'में वर्णनोंका बाहुल्य ही तो है। घटनाएँ तो नाममात्रकी ही हैं। तुलसीने संस्कृत-महाकाव्योंकी रूढ़िगत परिपाटीकी नकल नहीं की, प्रत्युत उन्होंने अपने महाकाव्यमें घटनाओं, वर्णनों और भावोंकी बड़ी ही अनुगुण योजना की है।

गोस्वामीजीके महाकाव्यको पाश्चात्य 'एपिक'के चश्मेसे देखकर भी श्लाघ्य ही कहना होगा। 'एपिक'के दोनों भेदों[1]—अर्थात् 'आथेण्टिक

---

१. 'आथेण्टिक एपिक'में संगीततत्त्वका प्रधान्य होता है, उसकी रचना

एपिक' तथा 'लिटरेरी एपिक'की विशेषताएँ 'मानस'में वर्तमान हैं। तभी तो इसमें श्रोताओंको संगीत-लहरीका अमित आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही सहृदयोंको साहित्यका। 'एपिक'की आधारशिला कोई आख्यान होता है जिसका कथन तो अपूर्व और उदात्त रूपमें रहता ही है, साथ ही स्वयं उस आख्यान अथवा उसकी कथन-प्रणालीमें विलक्षण सारगर्भितता भी अवश्य रहती है[१]। इस दृष्टिसे भी 'मानस' पूर्ण है, क्योंकि भक्त कविकी यह अपूर्व कला है जो उसने इस चरित्र-काव्यमें भी अपने प्रधान प्रतिपाद्य भक्तिको इस प्रकार सन्निविष्ट किया है कि वह चरित-प्रवाहके साथ-साथ सरस्वतीकी लुप्त धाराके समान अप्रतिहतगति चलती है और अन्तमें वह पीयूष-निष्यन्द प्रसूत करती है जो सहसा सतृष्ण भक्त-हृदयको परम आप्यायित तथा तृप्त कर देता है। 'एपिक'की अंगभूत और छोटी-मोटी बातोंके अतिरिक्त उसमें निरययातना और कुछ अतिप्राकृत उपादानोंका सन्निवेश भी रहता है, क्योंकि ये दोनों तत्त्व महाकाव्यकी कार्यगतिमें व्यापकता लाते हैं[२]। 'एपिक'में अमर्त्योंकी अवतारणा भी होती है। वे अपनी वाणी और कार्यसे प्रबन्धमें वर्णित कार्यधाराका महत्त्व संसारको दिखाते रहते हैं[३]। वस्तुतः महाकवि मनुष्य और मनुष्यके सांसारिक प्रयोजन अथवा लक्ष्यका गान करता है, देवोंके लक्ष्यका नहीं। देवगण मनुष्यके नियति-पथको प्रकाशित करते हैं अवश्य, पर उनके इस सुन्दर प्रकाशनको परिधिके भीतर ही रखना चाहिये[४]। प्रबन्ध-काव्य किसी विशेष प्रकारकी जीवन-धाराकी अभिव्यक्ति भी प्रतीकात्मक ढंगसे करता है[५]। इन विशेषताओंको भी यदि हम 'मानस'में देखना चाहें तो हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। यही नहीं, हम सिर उठाकर यह भी कह सकते

श्रोताओंके समक्ष गानेके लिए होती है, इसके विपरीत 'लिटरेरी एपिक'का निर्माण अध्ययनार्थ होता है। दे० अबरक्राम्बी: 'दी एपिक' पृ० ३१

१. 'दी एपिक' पृ० ४२
२. वही, पृ० ५२
३. वही, ,, ५३
४. वही, ,, ५५
५. वही, ,, ६९

हैं कि तुलसीके महाकाव्यमें जैसी आदर्श और उन्नायक चरित-कल्पना है वैसी न मिल्टनके 'पैराडाइज़ लास्ट'में है, न स्पेन्सरकी 'फेयरी क्वीन'में और न दान्तेकी 'डिवाइना कमेडिया' में। साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक समन्वयकी जो जटिल समस्या तुलसीके सामने थी वह इन पाश्चात्य "सैक्रेड एपिक्स"के रचयिताओंके समक्ष नहीं थी। लोक-संग्रहकी तीव्र भावनासे ओत-प्रोत होनेके कारण तुलसीका महाकाव्य लोक-जीवनको पूर्णतया ग्रहण किये हुए है, पर दान्ते या मिल्टन आदिके महाकाव्यकी रंगस्थली तो इतर लोकमें है। 'मानस' और भी कितनी ही विशेषताओंसे युक्त है, पर उन सबको छोड़कर अब हम दो-चार शब्दोंमें यह संकेत करना चाहते हैं कि गोस्वामीजीका खण्डकाव्य-रचनापर भी विशेष अधिकार था।

खण्डकाव्य महाकाव्यकी भाँति प्रबन्ध काव्य ही है। इसीलिए खण्ड-काव्यमें महाकाव्यके वर्णनीयोंमेंसे कुछ ही सन्निविष्ट किये जाते हैं। खण्डकाव्यमें किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथानक-खण्डको वर्णनीय बना सकते हैं। खण्डकाव्यका आधार काल्पनिक घटना भी हो सकती है और उसका उद्देश्य भी साधारण हो सकता है, पर महाकाव्यमें महत् उद्देश्यका होना आवश्यक है। खण्डकाव्यान्तर्गत गोस्वामीजीकी ये कृतियाँ परि-गणनीय हैं—'रामलला नहछू', 'पार्वतीमंगल' और 'जानकीमंगल'। 'नहछू' उपवीतके अवसरपर गाया जानेवाला गार्हस्थ्य-जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी गीत है। इसमें अयोध्यामें होनेवाला रामके पैरके नखोंके कर्तनका पूर्वांग-भूत कृत्य बड़े ही रञ्जक ढंगसे वर्णित है। 'पार्वतीमंगल' में पार्वतीके विवाहका वर्णनमात्र है, जिसमें महाकवि कालिदासके "कुमार-संभव"से भी सहायता ली गयी है, कुछ छंद तो छायानुवादके रूपमें ही रखे गये हैं। 'जानकीमंगल'में सीताके विवाहका वैसा ही वर्णन है जैसे 'पार्वती-मंगल'में पार्वतीके विवाहका। इन तीनोंमें कविने तत्कालीन गार्हस्थ्य-जीवनकी बड़ी ही सटीक और सुन्दर झाँकी करा दी है। ये तीनों ही पूरबी अवधीमें लिखे गये हैं, भाषा बड़ी ही मधुर और ठेठ रूपमें प्रयुक्त है।

श्रव्यकाव्यके त्रिविध स्वरूपों अर्थात् मुक्तक, खण्डकाव्य और महाकाव्यपर विशेषाधिकार रखनेके परिणामस्वरूप गोस्वामीजीने अपने जिस साहित्यका सर्जन किया उसमें प्रयुक्त भाषापर उनका आधिपत्य भी विचारणीय है। अवधीमें निर्मित 'रामचरितमानस' तथा व्रजभाषामें रचित 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली', 'विनय पत्रिका' प्रभृति कृतियोंकी भाषाका मर्म भली भाँति समझ लेनेपर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि इनके द्वारा उन्हें मध्यकालीन भारतकी एक ऐसी भाषाका प्रस्थापन अभीष्ट था जो समस्त उत्तरापथकी राष्ट्रभाषा हो सके। यदि उनका यह व्यापक उद्देश्य न होता तो जायसीकी भाँति वे भी अपने महाग्रन्थको कोरी प्रान्तीय ठेठ अवधीके संकीर्ण कठघरेमें बन्द करके रखते, व्रजभाषावाली कृतियोंको एकमात्र ऐसी विशुद्ध, चलती और टकसाली व्रजभाषामें ढालते कि रसखान और घनानन्द भी चौंधिया जाते। वस्तुतः गोस्वामीजीने अवधी और व्रज दोनोंके बाह्य रूप और उनकी सूक्ष्म अपरिहार्य प्रवृत्तियोंकी यथासम्भव रक्षा करते हुए उन्हें राष्ट्रभाषाके उपकरणोंसे सम्पन्न करनेका सफल प्रयास किया है। उन्होंने दोनों भाषाओंको प्रशस्त करने और स्थायित्व देनेके लिए उनका सम्बन्ध मूल प्राचीन आर्य-भाषाओंसे अविच्छिन्न रखकर हिन्दी भाषाकी परम्पराका पालन एक ओर किया और दूसरी ओर अपने समकालीन समाजके अन्तर्गत विकसित और प्रचलित जन-सामान्यकी विभाषाएँ और बोलियोंतकके ही नहीं, अपितु अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओंके अनेकानेक पदजात भी ग्रहण करके दोनों भाषाओंको अधिकसे अधिक व्यापक और सर्व-जनमान्य स्वरूप देनेका प्रयत्न किया।

भाषापर आधिपत्य

प्राचीन आर्य-भाषाओंमेंसे संस्कृतको वे कैसा महत्त्व देते थे इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि 'मानस'के श्लोक, स्तुतियोंके छन्द और कहीं-कहीं चौपाइयोंकी मालाएँ भी संस्कृतके तत्सम शब्दों और विशेषतः संस्कृतमय श्रुतिसे शोभित और स्वरित होती हैं। 'विनयपत्रिका'में शिव और राम-स्तुति-सम्बन्धी अनेकानेक पदोंमें भी संस्कृत-पदावलीका

प्राचुर्य है। सामान्यतः भी उनकी ऐसी कोई कृति नहीं है जिसमें संस्कृतके तत्सम शब्दोंका अभाव कहा जा सके। गोस्वामीजीकी संस्कृत पदावली ऐसी नहीं है कि उसमें रञ्चमात्र भी कृत्रिमताकी गन्ध हो या पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिए पदजात भरती किये गये हों, प्रत्युत ऐसा प्रकट होता है कि संस्कृतके शब्द प्रकृतितः अपने उचित स्थानपर स्वयं आकर जम गये हैं, अपरिवृत्तिसह हो गये हैं। यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामीजीके समयकी हिन्दी भाषा, विभाषाएँ और बोलियोंतकमें संस्कृतके अनेकानेक शब्द प्रतिष्ठित हो गये थे, अतः यह अनिवार्य था कि वे (तुलसीदास) प्रचलित संस्कृत शब्दोंका प्रयोग बराबर करते जैसा कि उन्होंने यथेष्ट परिमाणमें किया भी है, इसके अतिरिक्त वे केवल संस्कृतमें ही चलनेवाली पदावलीसे भी अपनी दोनों भाषाओंके अंगोंको विभूषित करनेमें नहीं हिचके हैं। 'नव-रसाल-बन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला[1] ॥' सदृश तत्सम पदावली तो प्रयुक्त ही की गयी है, कितने ही सविभक्तिक पद भी गृहीत हुए हैं, यथा निम्नांकित अवतरणोंमें काले टाइपमें—'जाहु **सुखेन** बनहिं बलि जाऊँ[2]।' 'मृग लोग कुभोग **सरेन** हिये[3]।' 'मुकुट सुन्दर **सिरसि**', '**उरसि** गजमनि माल[4]' 'बिपुल भूपति **सदसि** महँ नरनारि कह्यो प्रभुपाहिं[5]।' इत्यादि शब्द। कहीं-कहीं 'मम', 'तव', 'ते', 'अहम्' आदि सर्वनाम भी अपने विशुद्ध रूपमें व्यवहृत हुए हैं, इसी प्रकार 'अस्मि', 'अस्ति', 'पश्य', 'वद' आदि क्रियाएँ भी कुछ स्थलोंपर बड़ी ही स्वाभाविकताके साथ जड़ी गयी हैं। 'इदं', 'अयं', 'किमपि', 'तेऽपि', 'अपि', 'कोऽपि', 'सोऽपि', आदिके प्रयोग भी 'मानस' और 'विनय०'में देखे जा सकते हैं। यही नहीं 'मानस'के श्लोकों और स्तुतियोंकी भाषामें यत्र-तत्र 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवान-

१. 'मानस' अयो० ६२.७
२. वही, अयो० ५६.४
३. 'मानस' उ० १३ ७
४. 'गीतावली' उ० गीत ६ की ८ वीं और १४ वीं पंक्ति
५. 'विनय०' पद २१७

खिलान्तरात्मा', 'तव नाम जपामि नमामि हरी' या 'पश्यामि राममनामयं'-के समान विशुद्ध संस्कृत-वाक्यावली भी उत्तम रीतिसे प्रयुक्त हुई है।

इस प्रकार गोस्वामीजीकी हिन्दीमें संस्कृत भाषाका समन्वय देखकर हम कह सकते हैं कि वे संस्कृत भाषा-कोविद भी थे। पर मेरा यह कथन उन व्याकरण-शास्त्रियोंको खलेगा जिन्होंने अपने इधर-उधरके लेखोंमें यह दिखानेका प्रयास किया है कि तुलसीने संस्कृत भाषाकी अल्पज्ञताके कारण ही व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध प्रयोग किये हैं, जैसा कि 'अतुलित बलधामं स्वर्णशैलाभदेहं ... नमामि'में प्रयुक्त 'धामं', 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः'में 'मम्ले' अथवा 'रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेणहरतोषये'में 'तोषये' आदिके प्रयोगोंसे प्रकट होता है। तुलसीदास-जीकी संस्कृत 'अष्टाध्यायी'की नहीं, 'सारस्वतचन्द्रिका'की अनुगामिनी है। हिन्दीमें संस्कृत-शब्दोंका प्रचुर प्रयोग उन्होंने साभिप्राय किया है। इनके द्वारा एक ओर तो उन्होंने अपनी भाषाको शिष्ट स्वरूप दिया और उसे महत्तम और उन्नततम भावोंका वाहक और प्रकाशक बनाया और दूसरी ओर उन्हें देशभाषाके संयत और मनोरम साँचेमें ढालकर चलनसार और टकसाली रूप दे दिया। उनकी यह (भाषा-निर्माणकी) कला अपूर्व है। जिस कारीगरीसे उन्होंने संस्कृत-शब्दोंको देशी रूप दिया, संस्कृतकी जमीनपर पहले प्रान्तीय भाषाका रंग चढ़ाया और फिर हिन्दी प्रत्ययों और विभक्तियोंके बूटे जड़कर हिन्दी-धातुओंकी गोट लगायी वह सारी मोहक और प्राञ्जल छटा उन्हींका निर्माण है। हमारी मातृभाषाने उनसे अर्पण किया यह परिधान बड़े गौरवके साथ धारण किया है।

संस्कृतके अनन्तर अब प्राचीन आर्य-भाषाओंमें शौरसेनी और अर्द्धमागधी प्राकृतोंके नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि प्रथमसे व्रजभाषा तथा उसकी बुन्देलखण्डी आदि विभाषाएँ और द्वितीयसे अवधी, बघेली, छत्तीस-गढ़ी आदि उद्भूत हुई हैं। गोस्वामीजी उक्त दोनों प्राकृतों और अपनी दोनों भाषाओंके सन्निकृष्ट सम्बन्धसे पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्होंने दोनों प्राकृतोंकी कुछ विशेषताओंका समावेश अपनी दोनों भाषाओंमें किया

है। उनकी अवधी और व्रजभाषा दोनोंकी रचनाओंमें क्रियाके जो कर्मणि प्रयोग मिलते हैं उनमें प्राकृतसे गृहीत रूपोंका ही विकास अवगत होता है। यथा—

'अब मुनिवर बिलंब नहि कीजइ।
महाराज कहुँ तिलक करीजइ॥'

'मानस' उ० ९ ८

'अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजइ।
मज्जन करिय समर स्रम छीजइ॥'

'मानस' लं० ११५. ५

'देसकाल उपदेस सँदेसो सादर सब सुनि लीजै।'

'कृष्णगीतावली' पद ४५

कहना नहीं होगा कि प्रथम अवतरणमें 'कीजइ' और 'करीजइ' पद प्राकृतके 'किज्जइ' और 'करिज्जइ'के ही रूपान्तरमात्र हैं, इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय अवतरणके 'छीजइ' और 'लीजै' प्राकृतके 'छिज्जइ' एवं 'लिज्जइ'से पृथक् नहीं हैं।

संस्कृतके अनुसार यदि कहना हो कि 'वह जायगा' तो इसे कर्तृवाच्य या कर्म-वाच्यके अनुरूप क्रमशः 'चलिष्यति' और 'चलितव्यम्'के द्वारा व्यक्त करेंगे। शौरसेनी प्राकृतमें प्रथमका रूप 'चलिस्सइ' हुआ और अन्तमें विकसित होकर 'चलिहै' बना। आये दिन भी शौरसेनी प्राकृतसे प्रादुर्भूत व्रजभाषा तथा उसकी अन्य विभाषाओंमें 'चलिहै'का अभिप्राय 'वह जायगा' ही प्रचलित है। इसीके आधारपर पुरुष वचन आदिके अनुसार और रूप बने। उधर मागधीके वर्गवाली विभाषाओंमें संस्कृतके कर्मवाच्यमें चलितव्यम'का विकास पूरबी हिन्दीके 'चलब'के रूपमें हुआ, पर यह लिंग, वचन आदिसे अप्रभावित होते हुए भविष्यत्का द्योतक बना रहा, जैसे 'हउँ चलब', 'तुम्ह चलब', 'सोइ चलब' आदि। 'मानस'में इन दोनों रूपोंके प्रयोग बराबर किये गये हैं। निम्नांकित दोनों अर्द्धालियोंके रेखांकित पदोंको देखिये—

'हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सनमुख फौज रेंगाई॥'
'मानस' लं० ७८.१२

'सुनि सुख लहब राम बैदेही। अनुचित कहब न पंडित तेही॥'
'मानस' अयो० १७३.५

गोस्वामीजीने पूर्वकालिक क्रियाका स्वरूप प्रकट करनेके लिए जो 'इ' जोड़ा है—जैसे 'बोलि', 'सुनि', 'देखि' आदि—वह भी प्राकृतमें पूर्वकालिक क्रिया-निर्माण करनेके नियमके अनुरूप है। अपभ्रंशमें भी यद्यपि 'इ' जोड़कर पूर्वकालिक क्रिया बनती थी, पर उसमें 'अवि' 'एप्पि' एप्पिणु' आदि प्रत्ययोंके संयोगसे भी वही कार्य होता था। शौरसेनी अपभ्रंशके अनुसार क्रियाका आज्ञासूचक स्वरूप भी इकारान्त तथा उकारान्त होता था, तुलसीने इस प्रकारके प्रयोग भी किये हैं। अपभ्रंशमें हघटित—'हे', 'हूँ', 'ह, 'हं'', 'हि', 'हिं', 'हो' आदि विभक्तियाँ बहुतसे कारकोंका काम देती थीं। तुलसीकी भाषामें इनमेंसे केवल 'हि'का प्रायः सभी कारकोंमें प्रयोग हुआ है। अपभ्रंशमें प्रयुक्त सम्बन्ध-वाचक परसर्ग 'केर' और उससे निष्पन्न 'कर', 'क', 'का', 'के', 'कै' आदिके प्रयोग भी 'मानस'में हुए हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा संहितावस्थामें थी। धीरे-धीरे व्यवहितावस्थाकी ओर बढ़ी जिसका आभास प्राकृतों और विशेषतया अपभ्रंशोंमें अवगत होता है। वर्तमान भारतीय आर्य भाषाएँ प्रकट करती हैं कि वे पूर्णतया व्यवहितावस्थामें हैं। यदि हम इनकी इस व्यवहितावस्थाका ऐतिहासिक सूत्र मिलाना चाहें तो हमें तुलसीकी भाषासे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भाषा-विज्ञानके विद्वद्वर इस विषयपर स्वतन्त्र रूपसे प्रबन्ध ही प्रस्तुत कर सकते हैं। डा० बाबूराम सक्सेनाने 'मानस' में प्रयुक्त कुछ अवधी क्रियाओंके रूप साधकर इस दिशामें कुछ कार्य किया भी है[1]।

---

१. देखिये 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज' भाग २, १९२६, लेख 'दी वर्ब इन दी रामायन आव् तुलसीदास।'

तुलसीने जैसे संस्कृतके अक्षय भण्डारसे तत्सम शब्दोंकी वृहद् विभूति ग्रहण करके अपने काव्यमें विशिष्ट चारुताकी स्थापना की वैसे ही उन्होंने प्राकृतके क्षेत्रसे होकर आनेवाले तद्भव शब्दोंके अपरिमित ऐश्वर्यके द्वारा भी अपनी रचनाओंमें अपूर्वता और स्वाभाविकताकी अनुपमेय संसृष्टि की है। उनके तद्भव शब्दोंके प्रयोगके सम्बन्धमें इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि उन्होंने संस्कृतके तत्सम शब्दोंको प्रकृतके व्याकरणके अनुसार गढ़कर उनका प्रयोग किया है, प्रत्युत उन्होंने उन्हीं तद्भव शब्दोंका प्रयोग किया है जो प्राकृतसे होकर आये और प्रकृतितः जन-सामान्यकी बोलियोंमें प्रचलित रहे। यथा, संस्कृतका 'सूपकार' प्राकृतमें 'सूअआर' हुआ। तुलसीकी कुछ कृतियोंमें प्रयुक्त 'सुआर'[1] देखकर हमें भ्रम हो सकता है कि बाबाजीने इस तद्भव शब्दको प्राकृतके अनुसार गढ़कर रख दिया है, पर नहीं, जब बघेलीमें हम आये दिन भी लोगोंके बीच 'सूआर' महाशयको देखते हैं तो हमें तुरन्त अपनी भूल मान लेनी पड़ती है। हमारे कवि द्वारा प्रयुक्त 'पनच' संस्कृत 'प्रत्यञ्चा'का तद्भव है और 'सूआर'-की भाँति यह भी प्रचलित है। इसी प्रकार 'बाति' (वर्तिका), 'अहेर' (आखेट), 'अहिवात' (अविधवात्व), 'रहट' (अरघट्ट), 'कौड़ी' (कपर्दिका), 'कनी' (कणिका), 'थूनि' (स्थूणा), 'उलीचा' (उदंचन), 'बीछी' (वृश्चिक), 'समुझइ' (सम्बुध्यते), 'बूझेउ' (बुद्ध), 'भीतर' (अभ्यन्तर), 'बाँझ' (वन्ध्या), 'साँझ' (सन्ध्या), 'माँझ' (मध्य), 'भूख' (बुभुक्षा), 'बाघ' (व्याघ्र), 'भीख' (भिक्षा), 'फुर' (स्फुट), 'डोली' (दोलिका), 'गाँठ' (ग्रन्थि), 'पठइ' (प्रस्थाप्य), 'घाम' (घर्म), 'सवति' (सपत्नी), 'करसी' (करीष), 'पयार' (पलाल), 'छरुभार' (त्सरुभार), 'आँधी' (अन्धिका), 'केवट' (कैवर्त), 'काँट' (कण्टक), 'सास' (श्वश्रू), 'ससुर' (श्वशुर), 'जनेऊ' (यज्ञोपवीत), 'सँजोइल' (संयुक्त), 'डेरा' (वैदिक स०

१. 'मानस' बा० ९८. ७, ३२८. ३
'पार्वतीमंगल' छ० ८४

दुर्वा), 'बेहू' (बेध), 'निरावहिं' (निवार), 'लीलहिं' (निगिलन्ति), 'सड़सी' (संदंश), 'लूक' (उल्का), 'सौंचाई' (सौहित्य), 'डवरुआ' (डमरुक), 'हेठ' (अधस्तात्), 'छौना' (शावक), 'दुलार' (दुर्लालयति), 'पेन्हाई' (प्रस्नव), 'पटोरे' (पत्रोर्ण), 'जैवन' (जैमन), 'उबटि' (उदवर्त्य), 'पाइक' (पदिक), 'लाधे' (लब्ब), 'ओधे' (अवरुद्ध), 'बायन' (उपायन), 'सकिलि' (संकलय्य), 'बिहान' (विभान), 'राँधा' (रन्धन), 'बरिआता', 'बरात' (वरयात्रा), 'उबरा' (उर्वर), 'कोहाब' (क्रुद्ध), 'छूछे' (तुच्छ), 'सिअरे' (शीतल), 'साउज' (साध्य), 'काढ़े' (कर्ष), 'बेहड़' (भीषण), 'रूख' (वृक्ष), 'लोयन' (लोचन), 'नाच' (नृत्य), 'नाह' (नाथ), 'लाह' (लाभ), 'कान्ह' (कृष्ण), 'गय' (गज), 'जुआ' (द्यूत), 'मीचु' (मृत्यु), 'बैन' (वचन), 'मयन' (मदन), 'काम' (कर्म), 'काज' (कार्य), 'हाथ' (हस्त) 'हाड़' (अस्थि), 'घर' (गृह), 'पनहीं' (उपानह), 'अकनि' (आकर्ण्य), 'नैहर' 'ज्ञातिगृह', 'ससुरारि' (श्वशुरालय), 'विनती' (विज्ञप्तिका), 'उखारी' (उत्खात), 'चवइ' (च्यु), 'निहोरा' (अनुरोध), 'महगो' (महार्घ), 'बिरियां' (बेला), 'पखारन' (प्रक्षालन), 'बूढ़' (वृद्ध), 'चोखा' (चोक्ष) तथा इन्हींके समान और भी अनेकानेक तद्भव शब्दोंके प्रयोग किये गये हैं जिनका प्रचलन बोलचालमें आज भी है, तुलसीके समयमें तो था ही।

प्राकृतसे होकर आनेवाले प्रचलित तद्भवोंको छोड़िये। एकाध शब्द पालीका देखिये। 'मारेसि गाइ नहारू लागी[1]' इस अवतरणमें प्रयुक्त 'नहारू' शब्दसे उसका 'ताँत' अर्थ स्पष्ट है। पालीमें यह इसी अर्थमें आता है, यथा—'पुमे नहारु च सिरा धमन्यथ रसग्गसा[2]।'

गोस्वामीजीकी भाषाके विशाल कोशमें कुछ देशज शब्दोंकी उपनिधि भी सम्मानपूर्वक रक्षित है। इसीसे उनकी रचनाओंमें 'डोंगर', 'डाँग',

---

१. 'मानस' अयो० १३१.३

२. मोग्गल्लानथेर-कृत 'अभिधानप्पदीपिका' दुतियो भूकण्डो, पृ० २७९

'गोड़', 'पेट', 'खोरी', 'टाट', 'हिसिषा', 'डँहकि', 'बिसूरना', 'लवाई', 'ढंढोरी', 'ढारइ', 'मोट', 'अवढर', 'ढाबर', 'काँकर', 'जोइहि', 'गुडी', 'डसाई', 'हेरी', 'लुकाई', 'झारि', 'ठट्टा', 'ठग', 'टहल', 'घमोई', 'झोपड़ी' आदि अनेक देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द भी बोलचालमें बराबर चलते हैं।

गोस्वामीजीने ठेठ और तद्भव शब्दोंको प्रचलनशीलताके अतिरिक्त इस कारणसे भी प्रयुक्त किया है कि उनके द्वारा कहीं-कहीं किसी वस्तु-स्थिति, अवसर या व्यक्तिकी बड़ी ही नैसर्गिक अभिव्यक्ति होती है। कथन-की सत्यता निम्नलिखित रेखांकित शब्दोंसे हो जायगी—

'पानि कठौता भरि लेइ आवा।'

... ...

'कंद मूल फल भरि भरि दोना।'

... ...

'आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी।'

निषादके पास कठौत आदिके सिवाय सोने-चाँदीके थाल तो रहे न होंगे, इसी प्रकार वनजीवी कोल-किरातोंके पास अपनी फल-फूलकी भेंट ले जानेके लिए दोनाके अतिरिक्त दूसरा क्या रहा होगा? 'कठौता' और 'दोना'के स्थानपर हैम थाल आदिके प्रयोगमें कृत्रिमता ही आती। हाँ, राजधानीमें जहाँ सभ्यता चरमोत्कर्षपर थी और जहाँ कुबेरका खजाना था वहाँ कविने रामकी आरती करनेके लिए गजगामिनियोंके करमें कञ्चन-थाल ही दिखाया है। तीसरे अवतरणमें 'बनि'का प्रयोग भी बड़ा ही उपयुक्त है। दिहातमें मजदूरे अपनी मजदूरीके बदले जो अन्न पाते हैं उसे आज भी 'बनी' कहते हैं। निषाद सदृश पात्रकेमुखसे ऐसे ही प्रान्तिक शब्दका निकलना स्वाभाविक था। इस 'बनि'के सामने पारिश्रमिक आदिके प्रयोग कृत्रिम ही तो लगते!

विभाषाएँ और बोलियोंके शब्दोंकी ओर आइये। व्रजभाषा अपनी विभाषा बुन्देलखण्डीसे पूर्णतया अछूती क्योंकर रह सकती थी। यही कारण

है कि व्रजभाषाके चूडान्त कवियोंमें भी बुन्देलखण्डीके एकाध प्रचलित शब्द मिलते ही हैं। गोस्वामीजीकी दृष्टि तो और भी व्यापक एवं सद्ग्राही थी, अतः उनकी व्रज ही नहीं अपितु अवधीमें भी बुन्देलखण्डीके कुछ प्रचलित शब्द हैं। उदाहरणके लिए उनकी व्रजभाषाकी रचनाओंमें प्रयुक्त बुन्देलखण्डीके दो-चार शब्द ये हैं—'पनवार'[1] (पत्तल), 'चारितु'[2] (चारा), 'खेरा'[3] (गाँव), 'गेडुआ'[4], 'भाँड़िगो'[5], 'कीबी'[6] (करना), 'पालबी', 'डारिबी'[7], 'रेगाए'[8] आदि। इसी प्रकार 'मानस'में भी 'सुपेती'[9] (हल्की दुलाई), 'रेगाई'[10], 'जानिबी', 'मानिबी'[11] प्रभृति शब्दोंके प्रयोग किये गये हैं।

गोस्वामीजीने अपनी रचनामें कुछ राजस्थानी शब्दोंको भी सत्कृत किया है। यथा 'नारि'[12] [नाड़] (गरदन), 'दारु'[13] (बारूद), 'म्हाको'[14], 'बारिफेरि'[15] (निछावर), 'माठ'[16] (घड़ा), 'मनुहारि'[17] (मनाना), 'सारा'[18] (लगाया) आदि। राजस्थानी शब्दोंके ही सिलसिलेमें दो-एक पञ्जाबी शब्दोंका संकेत भी समीचीन होगा। 'मानस'में प्रयुक्त 'धुवाँ'[19] पञ्जाबी शब्द है जिसका अर्थ 'लाश' होता है। दूसरा शब्द 'सिखर' लीजिये। पञ्जाबी में 'सिखरा' जूठनको कहते हैं। 'मानस'में 'सिखर' इसी अर्थमें आया भी है। देखिये—

१. 'विनय०' पद ९४
२. वही, पद २२; 'दोहावली' दो० ५१२
३. वही, पद २१०
४. 'दोहावली' दो० ४९१
५. 'कविता०' लं० छ० २६
६. 'गीतावली' अयो० गीत ७८ [१]
७. वही, उ० गीत २९
८. वही, बा० गीत २९
९. 'मानस' बा० ३५५.२
१०. वही, लं० ७८.१२
११. वही, बा० ३३६.
१२. 'दोहावली' दो० ३०५
१३. वही, दो० ५१५
१४. 'कविता०' लं० छ० २१
१५. 'गीतावली' बा० गीत १०७
१६. वही, किष्कि० गीत १
१७. वही, उ० गीत १९
१८. 'मानस' सुन्दर० ४८.१०
१९. 'मानस' अरण्य० २०.५

'खाँहि मधुर फल बिटप हलावहिं।
लंका सनमुख सिखर चलावहिं[1] ॥'

तुलसीकी रचनामें मराठीके 'फोकट[2]', गुजरातीके 'मूकिये[3]' (छोड़िये), 'मौँगी[4]' (चुप) आदिका प्रयोग देखनेसे पता चलता है कि वे मराठी और गुजरातीके प्रति भी दो-चार शब्दोंके ऋणी है।

पूरबी हिन्दीकी बघेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियोंके कुछ शब्द भी गोस्वामीजीने प्रयुक्त किये हैं। बघेलीके 'सुआर'का संकेत पहले ही आ गया है। एक दूसरा शब्द 'बागत' लीजिये। बघेलीमें इसका अर्थ होता है—'घूमते हुए'। गोस्वामीजीने इसी अर्थमें इसका प्रयोग कई प्रसंगोंमें किया है[5]। 'मानस'में प्रयुक्त 'कुराई[6]' (गड्ढा) इस समय भी मध्य प्रदेशमें प्रचलित है।

भोजपुरीके प्रति भी गोस्वामी जी तटस्थ नहीं थे, फलतः उन्होंने इसे भी सम्मानित किया। 'मानस'-ह्रदमें डुबकी लगाकर यह भी कृतकृत्य हो गयी है। देखिये—'सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पथ धायल[7]'। 'रौरे' और 'राउर'(आप, आपका)का प्रयोग तो बराबर हुआ है। रामके दरबारमें जानेवाली 'पत्रिका'में भी भोजपुरीके 'सरल' (सड़ा हुआ), तथा 'दिहल[8]'के प्रयोग हुए हैं।

बँगलाके कुछ शब्दों—यथा, 'सकाल' (सबेरा) और 'थाको' (ठहरना)का प्रयोग भी बाबाजीने किया है। देखिये—'अवधेसके द्वारे सकारे गई[9]' 'रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ[10]।'

१. वहीं, लं० ४.६
२. 'कविता०' उ० छ० ४१, विनय०' पद १७६
३. 'बाहुक' छ० ३४
४. 'गीतावली' अयो० गीत ६६ [५]
५. दे० 'कविता०' उ० छ० ७६, 'विनय०' पद ६८, 'बाहुक' छन्द १२,
६. 'मानस' अयो० ३०९.५
७. मानस' लं० ९६. ६
८. 'विनय०' पद १८९
९. 'कबिता०' अयो० छ० १,
१०. 'मानस' बा० १९५.

वर्तमान खड़ी बोलीका प्रादुर्भाव गोस्वामीजीके बहुत पहले हो चुका था, जैसा कि अमीर खुसरोकी पहेलियोंसे अनुमान किया जा सकता है। खुसरोने 'खालिकबारी'में 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' दोनों नामोंका उल्लेख किया भी है। तुलसीके समयतक इस हिन्दीका प्रचलन भी जन-सामान्य तक किसी न किसी अंशतक अवश्य पहुँच गया था, अन्यथा गोस्वामीजी अपनी रचनाओंमें खड़ी बोलीके ऐसे प्रयोग न करते—

'नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट रत, खेद गत,
दास तुलसी संभु सरन आया[१]'

... ...

'करि आई, करिहै, करती है,
तुलसिदास दासनि पर छाहैं[२]'

... ...

'कृपा सिन्धु तब मंदिर गए[३]'

... ...

'एक बार रघुनाथ बुलाये। गुरु द्विज पुरबासी सब आये[४]'॥

... ...

'जब ते रघुनायक अपनाया[५]'

... ...

'एहि तन राम भगति मैं पाई[६]'

तुलसी-युगके कई शतक पूर्वसे ही मुसलमानोंने देशपर अपना सिक्का जमा लिया था। उसके परिणाम स्वरूप विविध प्रतिक्रियाओंमेंसे एक यह भी थी कि सभी मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँतक भी अरबी, फारसीसे अछूती न रह सकीं। दरबारसे सम्पर्क रखनेवालोंका तो कहना ही क्या, जनताने भी न जाने कितने अरबी, फारसीके शब्द

१. 'विनय०' पद १० २. 'गीतावली' उ० गीत १३
३. 'मानस' उ० ९. ३ ४. वही, उ० ४२. १
५. वही, उ० ८८. ३ ६. वही, उ० ९४. ७

अपना लिये और वे सब जनसामान्यकी भाषामें घुल-मिल गये। उनका अरबीपन और फारसीपन उड़ गया। अपने युगकी सार्वजनिक भाषाके मर्मज्ञ तुलसी भला जनसामान्यमें प्रचलित अरबी, फारसीके शब्दोंकी उपेक्षा कब कर सकते थे। उन्होंने अपनी रचनाओंमें उक्त भाषाओंके प्रचलित शब्दोंका प्रचुर प्रयोग पूर्ण स्वातन्त्र्यके साथ किया। यह अवश्य है कि इनमें अधिकांश ऐसे ही पदजात हैं जिन्हें एक भाषा दूसरी भाषासे स्वभावतः ग्रहण करती है। उत्सर्ग यह है कि एक भाषा किसी अन्य भाषाके नाम तथा विशेषण आदिको ही अपनाती है, अव्यय, सर्वनाम अथवा क्रियापद तो अपवादरूपमें ही गृहीत होते हैं। गोस्वामीजीकी प्रधान कृतियोंसे कुछ अरबी शब्दोंको हम उसी रूपमें देते हैं जिस रूपमें उन्होंने उनका प्रयोग किया है। पहले 'मानस'में प्रयुक्त कुछ शब्दोंको देखिये—'साहिब' (बा० २७. ५), 'गनी' 'गरीब' (बा० २७. ६), 'जिनिस', 'जमात' (बा० छ० ९२), 'मनसा' (बा० २२९. २), 'बाग' (बा० २२८. १), 'जहाज' (बा० २६१.), 'ढोल' (बा० २६१. १), 'नेब' (अयो० १९.), 'बिदा' (अयो० ७२. १), 'लायक' (अयो० २. १), 'रजाई' (अयो० २५२. ८), 'खबरि' (अयो० २०२. ३), 'सही' (अयो० २९८. ८), 'फौज' (लं० ६६. ७), 'हाल' (लं० २६. ३), 'बजाज', 'सराफ' (उ० २८.), 'फराक' (उ० २८. १), 'हुनर' (उ० ३०. ६), 'मसखरी' (उ० ९७. ६), 'बदले' (उ० १२०. १२) आदि। 'कवितावली'में आये हुए कुछ और शब्द देखिये—'बाजे बाजे' (बा० छ० २०), 'असबाब' (सुन्दर० छ० २२) 'पाइमाल' (सुन्दर० छ० १६), 'कुलि' (लं० छ० ३), 'फहम', 'रहम' (लं० छ० ८), 'हलक' (लं० छ० २५), 'कहरी', 'बहरी' (लं० छ० २९), 'सबील' (लं० छ० ५२), 'हद' (उ० छ० १), 'गुलाम' (उ० छ० १४), 'माहली', 'काहली', 'खास' (उ० छ० २३), 'जबारू' (उ० छ० ६७), 'किसब' (उ० छ० ६७), 'हराम' (उ० छ० ७६), 'जाहिर', 'उमरि'

(उ० छ० ७९), 'बैरख' (उ० छ० ९२), 'दगाई' (उ० छ० ९३), 'खलल' (उ० छ० ९८), 'मसीत' (उ० छ० १०६), 'हबूब' (उ० छ० १०८), 'हलाकी' (उ० छ० १३४), 'कसाई' (उ० छ० १८१) आदि। 'गीतावली'से भी दो-चार शब्द लीजिये— 'अबीर' (बा० गीत १ [८]), 'सहन' (बा० २ [२१]), 'सूरति' (बा० ४२), 'खसम' (बा० ६५ [३]), 'अकस' (बा० ८२ [७]), 'सई' (सुन्दर० ३७), 'मनि', 'कसम' (सुन्दर० ३९) इत्यादि। 'दोहावली'में भी 'फजीहत' (दो० ६५), 'इताति' (दो० १४८), 'गरज', 'अरज' (दो० ३००), 'कुमाच' (दो० ५७२) आदि अरबीके शब्द आये हैं। इसी प्रकार 'विनयपत्रिका'में 'वसीले' (पद ३२), 'दिरमानी' (पद १२२), 'मुकाम' (पद १५६), 'दिवान' (पद० १९१), 'सतरंज' (पद० २४६), 'सौदा' (पद २६४) आदि। गोस्वामीजीकी छोटी कृतियोंमें भी अरबीके दो-चार शब्द आये ही हैं। अस्तु।

गोस्वामीजीके प्रमुख ग्रंथोंके फारसी शब्द-समूहको देखिये। 'मानस' में प्राप्त फारसीके कुछ शब्द ये हैं—'जहाना' (बा० २. ४), 'कागद' (बा० ८. ११), 'अदेसा' (बा० १३. ९), 'करतूति' (बा० २८. ७), 'अवरेब' (बा० ३६. ८), 'नेवाजे' (बा० २४. २), 'बरु' (बा० १९. ५), 'तीर' (बा० १५६. ३), 'सक' (बा० २४४. २), 'कूर' (बा० २६५. १), 'पिरोजा' (बा० २८७. ४), 'निसाना' (बा० २९३. ८), 'जीन' (बा० २९७. ४), 'बाजार' (बा० २९५. ८), 'बकसीस' (बा० ३०५. ३), 'साज' बा० ३००. ६, ८), 'चारा' (बा० ३०२. २), 'लगाम' (बा० ३१५.), 'सिरताज' (बा० ३२९.), 'सहनाई' (बा० ३४३. २), 'पोच' 'पोची' (बा० ५. ३), (अयो० ११. ५), 'रुख'(अयो० १. ३), 'सजाई' (अयो० १८. ५), 'दरबार' (अयो० २३.), 'कबूली' (अयो० २१. १), 'कूलह' (अयो० २७. ८), 'कमान' (अयो० ४०. २), 'कबारू'

(अयो० ९९. ५), 'मजूरी' (अयो० १०१. ६) 'पलक' (अयो० १४०. १), 'सोरू' (अयो० १५२.), 'नीके' (अयो० १८३. २), 'गरदनि' (अयो० १८३. ६), 'तरकस' (अयो० १८९.), 'गुदारा' (अयो० २००. ७), 'कोतल', 'पयादे' (अयो० २०१. ३), 'सादे' (अयो० २१९. ६), 'जोरा', 'चंग' (अयो० २३८. ४, ६), 'खुआरु' (अयो० ३०३. ६), 'बाज' (अरण्य० १०. ६), 'गुमानी' (अरण्य० १६. १६), 'ताजी' (अरण्य० ३७. ६), 'बेचारा' (सु० ५२. ७), 'पाले', 'हवाले' (लं० ८९. ८), 'चौगान' (लं० २६. ५), 'कगूरन्ह' (लं० ४०.). 'गरदा' (लं० ६६. ३), 'नफीरि' (लं० ७८. ९), 'बन्दीखाना' (लं० ८९. ४), 'बाजीगर' (लं० २८. १०), 'बराबरि' (उ० ८६. ७), 'किरिच' (उ० १२०. १२), 'गच' (उ० २६. ३), 'दुनी' (उ० १००.) इत्यादि । 'कवितावली'में प्रयुक्त अनेकानेक फारसीके शब्दोंमेंसे भी कुछको लीजिये—'परदा' (बा० छ० १६), 'नग' (बा० छ० १७), 'तहस' 'नहस' (सु० छ० २), 'करेजो' (लं० छ० १६), 'खलक' (लं० छ० २५), 'सुमार' (लं० छ० ३१), 'दिल' (लं० छ० ५२), 'सरषतु' (लं० छ० ५८), 'मालुम' (उ० छ० १०), 'पील', 'दादि' (उ० छ० १८), 'तेजी' (उ० छ० १९), 'रवा' (उ० छ० ५६), 'सुलाखि' (उ० छ० २४), 'परवाह' (उ० छ० २७), 'जञ्जीर' (उ० छ० ४४), 'दरिया' (उ० छ० ४६), 'कुन्द' (उ० छ० ६३), 'खजानो', 'दाम' (उ० छ० ७०), 'दराज' (उ० छ० ७९), 'सरकस' (उ० छ० ८२), 'जोलहा', 'सरनाम' 'साह' (उ० छ० १०६), 'खूब' (उ० छ० १०८), 'चलाकी' (उ० छ० १३४), 'चाकरी' (उ० छ० ९७), 'सहर', 'जहर' (उ० छ० १७०), 'हुसियार' ('बाहुक' छ० १६), 'पाक' ('बाहुक०' छ० ४०), 'तकिया' ('बाहुक' छ० २२) आदि । 'गीतावली'से भी कुछ उदाहरण लीजिये—'डफ', 'गुलाल' (बा० गीत २,१३), 'गंज' (बा० गीत १९ [५]), 'चैन' (बा० गीत ३५), 'निहालु' (बा० गीत ४० [३]), 'जरकसी'

(बा० गीत ४२), 'सहमी' (बा० गीत ८३ [४]), 'पेच' (बा० गीत ८४ [१]) 'सीपर' (लं० गीत ५)। इनके अतिरिक्त 'दोहावली'के भी कुछ नमूने देखिये—'तोपची', 'पलीता', 'गोला' (दो० ५१५), 'रैयत' (दो० ५२१), 'मवासे' (दो० ५५८), 'पाही' (दो० ४७८) इत्यादि। 'विनयपत्रिका'में प्रयुक्त 'निसानी' (पद ५), 'जाय' (पद ८३), 'सरम' (पद १३१), 'जेरो' (पद १४६), 'ख्याल' (पद १४५), 'खाको' (पद १५२), 'कूच' (पद १५६), 'खरगोसु' (पद १५९), 'बिलन्द' (पद १८९), 'गरम' (पद २४९), 'मिसकीनता' (पद २६२) आदि शब्द भी फारसीसे ही गृहीत हैं। तुलसीकी छोटी रचनाओंमें भी फारसीके शब्दोंका पूर्ण अभाव नहीं है।

अरबी-फारसीके उपर्युक्त शब्द-समूहको दृष्टिमें रखते हुए यदि वर्गीकरण किया जाय तो इस प्रकार हो सकता है [क] विदेशसे आयी प्रचलित वस्तुओंके नाम, [ख] सैनिक-क्षेत्रसे सम्बद्ध, [ग] न्यायालयसे सम्बद्ध, [घ] सामन्त-वर्गके व्यक्तियोंके द्योतक, [ङ] गाली या अपकृष्टता-द्योतक तथा [च] भद्र जन-समुदायके द्वारा गृहीत विविध शब्द।

गोस्वामीजीने अरबी-फारसीसे गृहीत शब्दोंमें अपनी भाषा अवधी तथा व्रजभाषाके अनुसार ध्वनि परिवर्तन आदि भी स्वच्छन्दतापूर्वक किया है, यह बात ऊपर दिये गये कतिपय विदेशी शब्दोंके स्वरूपसे स्पष्टतया प्रतीत होती है। उन्होंने 'शरीक'को प्रचलित समझकर अपनाया पर उससे भाववाचक संज्ञा बनानेमें हिन्दी व्याकरणका प्रयोग किया और 'सरीकता' लिखा न कि 'शिरकत।' इसी प्रकार 'मिस्कीन'से 'मिसकीनता' ही बनाना उचित समझा। अपनी ही भाषाकी ध्वनि और व्याकरणके आधारपर उन्होंने फारसीके 'साज़'को 'साज', 'साजा', 'साजी', 'साजू', 'साजे', 'कुसाज', 'सुसाज', 'साजक' आदि सभी रूपोंमें विकसित कर दिया है। यदि 'निवाज' जनताके बीच 'नेवाज' रूपमें रहा तो उन्होंने उसे भी अपनी आवश्यकताके अनुसार 'निवाज', 'निवाजा' 'निवाजी', निवाजू', 'निवाजे' ही नहीं, अपितु व्रजभाषाकी क्रिया 'निवाजिबो'-

(विनय० पद ४) रूपमें भी चला दिया। उन्होंने ऐसे ही और भी कितने द्विज शब्दोंका सर्जन किया है।

उन्होंने कृत् और तद्धित प्रत्ययोंके संयोगसे बने कितने ही हिन्दीके शब्दोंका प्रयोग किया है जो आज भी बोलियोंमें बराबर पाये जाते हैं। यथा, 'रोटिहा' (गीता० सुन्दर० गीत ३०), 'ररिहा' (विनय० पद २१९), 'कुंअरौटा' (गीता० गीत ६० [१]), 'बटैया', 'डटैया', 'देवैया', 'लेवैया', 'खेवैया' (कविता० उ० छ० ५१, ५२), 'मोटरी' (कविता० उ० छ० १८३), 'सहेली' (गीता० बा० गीत २ [१]) इत्यादि।

अनेकानेक प्रचलित आनुकरणिक शब्दोंके प्रयोग भी उनके भाषाधिकारके प्रमाण हैं। उनकी रचनामें प्रयुक्त कुछ आनुकरणिक शब्द ये हैं—'रुन-झुन' (गीता० बा० गीत २९ [१]), 'हिहिनाहीं' (मानस अयो० १४०. ८), 'चरफराहिं', 'हिकरि हिकरि' (अयो० १४१. ५, ७), 'चपेटा' (सुन्दर० २३. १), 'किलकिला' (सुन्दर० २७. २), 'ठुठुकि' (सुन्दर० ४४. ३), 'सुठुकि' (बा० १५६.), 'अटपटि' (बा० १३३. ६), 'फुंकरत' (अरण्य० १९. १), 'घहरात' (लं० ४९.), 'कसमसाति' (लं० ८६. १), 'घुरघुरात' (बा० १५५. ८) आदि।

नाम और विशेषण जब क्रियावाचक बना दिये जाते हैं तब उन्हें नामधातु कहते हैं। नामधातु-निर्माणकी शक्ति चलती भाषाका व्यापक जीवन है। इसकी कमीके कारण ही वर्तमान खड़ी बोली बहुतसे व्यापारोंके अभिव्यञ्जनमें ऐसा द्राविड़ प्राणायाम करती है जो बहुत ही अस्वाभाविक जान पड़ता है। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें नामधातुके प्रयोग भी मिलते हैं। विस्तार न करके हम दो ही तीन उदाहरणोंमें उसकी झलक दिखा देना पर्याप्त समझते हैं। जैसे, नीचेके अवतरणोंमें रेखांकित पद—

'हथबासहु बोरहु तरनि कीजिय घाटारोहु।'

'मानस' अयो० १८८

... ...

'कोपकृसानु गुमान अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आवै।'

'कविता०' उ० छ० ११८

... ...

'हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुम्हहू अनाथ-
पति, जौ लघुतहि न भितैहौ।'

'विनय० पद २७०

... ...

किसी कविके अपरिमित शब्द-भण्डारमें कैवल भाषा, विभाषा और बोलियोंके नाना शब्दोंको देखकर ही उसे सफल भाषा-नायक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः शब्दोंपर विशेषाधिकार तभी प्रकट होता है जब वे वाक्यमें प्रयुक्त होकर अपरिवृत्तिसह रूपसे जगमगाते हैं, कविके अभिप्रेत अर्थको यथावत् द्योतित करते हैं और स्वतः पाठकको चिर-परिचित-से जान पड़ते हैं। गोस्वामीजीकी रुचिर वाक्य-रचना ऐसी ही प्रभूत शब्दावलीसे हुई है। उदाहरणके लिए न स्थान है और न आवश्यकता। उनकी सारी कृतियाँ यही प्रमाणित करतीं हैं। उनके अद्वितीय सुव्यवस्थित वाक्य-रचना-कौशलपर मुग्ध होकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लने बहुत ही ठीक कहा है—'और कवियोंके साथ तो तुलसीका मिलान ही क्या। वाक्यदोष हिन्दीमें भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगोंको रहा। सूरदास भी इस बातमें तुलसीसे बहुत दूर हैं'[1]।'

यदि कोई किसी बोलचालकी भाषाका माधुर्य देखना चाहे तो उसे उसके मुहावरोंकी रत्नपिटारीका भी सावधानीसे निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि बोलचालकी भाषाका सम्पूर्ण माधुर्य और सजीवता मुहावरेमें ही आती है। मुहावरेका सौन्दर्य चलती और स्वाभाविक भाषामें ही खिलता है। कृत्रिम भाषाके मेलमें तो वह विरूप-सा हो जाता है। तुलसीकी भाषा और मुहावरोंमें मणि-काञ्चनका संयोग है। एक नहीं,

1. 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० १८६

सैकड़ों मुहावरोंके प्रयोग हुए हैं, पर मजाल नहीं कि कहीं वे रञ्चमात्र भी विरूप लगते हों। उनके मुहावरोंके प्रयोगसे उनके कथनमें सुषमा ही नहीं आयी है, अपितु उनका व्यवहार-कौशल, उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति एवं प्रयोग-नैपुण्य भी दीप्त हो उठा है। उनकी सभी रचनाओंमें प्रयुक्त समस्त मुहावरोंकी सूची देकर उनकी व्याख्या करते हुए प्रयोगकी मनोहरता दिखानेके लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंगमें तो निम्नांकित दो-चार मुहावरोंके उदाहरण देनेके अतिरिक्त और कुछ कहनेका अवकाश ही नहीं—

'जो पै हरि जनके अवगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों कति हठि बैर बिसहते।'

'विनय०' पद ९७

'महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे।'

'विनय०' पद १४७

'गोपद बूड़िबे जोग करम करो बातनि जलधि थहावौं।'

'विनय०' पद २३२

'रेख खँचाइ कहउँ बलु भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥'

'मानस' अयो० १८.७

'दूधकी मक्खी होना' ही नहीं, 'घी की मक्खी होना' मुहावरा भी चलता है। गोस्वामीजीने उसका भी प्रयोग किया है। देखिये—

'राखि कहि है तो ह्वै है माखी घिय की।'

'विनय०' पद २६२

समाज अपने चिरन्तन व्यवहारों और अनुभवोंमेंसे कितनोंको ही विशेष आवश्यक और मार्मिक समझकर अपनी चलती भाषामें लोकोक्तियों-के रूपमें सुरक्षित रखता है। जिस कविका सामाजिक, व्यावहारिक ज्ञान बढ़ा-चढ़ा रहता है और जो जन-सामान्यकी बोलचालकी भाषामें पारंगत रहता है वह समाजमें प्रचलित लोकोक्तियोंकी भी पूरी जानकारी रखता है। लोकोक्तिके प्रयोगमें चारुता तभी दृष्टिगत होती है जब वह स्वाभाविक

और चलती भाषामें नगोंकी भाँति जड़ी रहती है। कृत्रिम भाषामें वह भी बेमेल ही लगती है। गोस्वामीजीके द्वारा किये गये लोकोक्तियोंके प्रचुर प्रयोग उनकी भाषाकी स्वाभाविकता और मनोहरता ही बढ़ाते हैं। कुछ नमूने देखिये—

'दुइ कि होहिं एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला।'

'मानस' अयो० ३४, ५

'जस काछिय तस नाचिय नाचा।'

'मानस' अयो० १२५ ८

'मोहि तो सावनके अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो।'

'विनय०' पद २२६

'तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तो
धोबी केसो कूकर न घरको न घाट को।'

'कविता०' उ० छ० ६६

'खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप है।'

'कविता०' उ० छ० १७१

'चीरी को मरनि खेल बालकनि को सो है।'

'बाहुक' छ० २९

सच्चे महाकविकी भाँति गोस्वामीजी अपने सामयिक जन-सामान्यकी भाषासे पूर्णतया अभिज्ञ थे और उसकी प्राचीन परम्परासे सम्बद्ध भाषाओं-का भी उन्हें परिज्ञान था। उनकी भाषा व्यापक और उनका शब्द-भण्डार अपरिमेय था, इसका आभास तो अबतकके विवरणसे हो गया होगा। स्थानाभावके कारण आगे हम उनकी दोनों भाषाओंका वैशिष्ट्य आदि न दिखाकर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सांस्कृतिक समन्वयके अपने महान् उद्देश्यकी पूर्तिके लिए उन्होंने अपने युगकी दोनों प्रधान भाषाओंकी परिधिको वृहत् करके उनमें यथासम्भव निकटता और सामं-ञ्जस्य-स्थापनका कार्य भी बड़ी कुशलतासे किया। दोनों भाषाओंको अपना-अपना रूप सँवारने और संकीर्णता छोड़नेके निमित्त उनमें परस्पर

स्पृहणीय आदान-प्रदान कराया। इसीसे उनकी उत्कृष्ट ब्रजभाषाकी रचनाओंमें जैसे पूरबी प्रयोग भले प्रकार आदृत हुए हैं वैसे ही अवधीकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'मानस'में ब्रजभाषा, उसकी विभाषा और बोलियोंतकके शब्द सत्कृत किये गये हैं। ऐसा करके भी उन्होंने दोनों भाषाओंकी मौलिक सत्तापर, उनकी एकरूपतापर किसी प्रकारका कुठाराघात नहीं किया है, यह भी हमें न भूलना चाहिये।

छन्द-विधानपर पूर्ण अधिकार

छन्दोंके नियमानुसार मात्रा, गण, वर्ण अथवा गुरु-लघुकी योजनामात्र करके छन्द-विधान कर लेना कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं है। ऐसा तो रीति-ग्रन्थोंका सामान्य ज्ञाता भी कर सकता है। महान् कलाकारके छन्द-विधानमें केवल छन्द-विधानके नियमोंकी पाबन्दी ही नहीं रहती, अपितु उनमें प्रसंगानुकूल लय और ताल भी निनादित होते रहते हैं। जैसे कोयलकी काकलीमें, निर्झरके नादमें प्राकृतिक संगीत स्वयमेव कर्णगोचर होता है वैसे ही उच्च कलाकार-विरचित छन्दोंमें भावानुरूप नैसर्गिक ध्वनि होती है। गोस्वामीजी ऐसे ही उदात्त छन्द-विधायक महाकवि थे। 'मानस'में उन्होंने जिन विविध प्रकारके छन्दोंपर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अनूठा प्रयोग किया, वह दिखाया ही जा चुका है। प्रस्तुत प्रसंगमें 'मानस'के अतिरिक्त अन्यान्य कृतियोंमें प्रयुक्त छन्दोंका संकेतमात्र आवश्यक है। 'कवितावली' सबाहुकमें कई प्रकारके सवैये, मनहरण, मनहर, घनाक्षरी, छप्पय तथा झूलना छन्दोंका प्रयोग हुआ है, दोनों 'मंगलों'की रचनाएँ मात्रिक अरुण और हरिगीतिकामें हैं, 'बरवैरामायण'का छन्द उसके नामसे ही स्पष्ट है, इसी प्रकार 'दोहावली'का भी, पर 'दोहावली'में सोरठा भी है, 'रामाज्ञाप्रश्न' तो पूर्णतया दोहा छन्दमें ही है, 'रामललानहछू'की रचना सोहर छन्दमें है और 'वैराग्यसन्दीपिनी'के वैराग्यका निरूपण दोहा सोरठा तथा चौपाईमें हुआ है। 'गीतावली', 'श्रीकृष्णगीतावली' एवं 'विनयपत्रिका'के छन्द-

विधानके विषयमें कुछ कहना ही नहीं। इन ग्रन्थोंमें सन्निविष्ट पदोंका वास्तविक मर्म विविध राग-रागिनियोंका विशेषज्ञ सहृदय ही पा सकता है, पर इन तीनों कृतियोंके छन्दोंके द्वारा काव्य और संगीतका समन्वय तथा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझनेमें किसी विशेष प्रयासकी अपेक्षा नहीं। गोस्वामीजीने 'गीतावली'[1] तथा 'विनयपत्रिका'[2]में दो विभिन्न प्रकारके छन्दोंकी संसृष्टि कर एक तीसरे प्रकारका नया छन्द बनाने की स्वतन्त्र रुचि दिखायी है। 'गीतावली'में दोहाके द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें दो मात्राएँ बढ़ाकर[3] तथा 'विनयपत्रिका'में दो मात्राएँ घटाकर[4] नये ढंगके छन्द भी निर्मित किये गये हैं।

काव्य-सौष्ठवके अभिवृद्धिकारक विविध उपादानों और साहित्य-शास्त्र-सम्मत प्रतिमानोंका उपयोग तुलसीने किस अंशतक किया है, यह भी विचारणीय है। हमारे साहित्य-शास्त्रके विकासात्मक इतिहाससे अवगत होता है कि काव्यके सम्बन्धमें बड़े बड़े आलंकारिकोंने अपने-अपने भिन्न-भिन्न मतोंका समर्थन किया। फलतः अलंकार-शास्त्रके अन्तर्गत भरत मुनिका रसमत, भामह और उद्भटके अलंकारमत, वामनके रीतिमत (गुणमत), कुन्तकके वक्रोक्तिमत और आनन्दवर्धनाचार्यके ध्वनिमत प्रभृति नाना मतोंकी प्रतिष्ठा हुई। तुलसी-से चूडान्त महाकविकी मति उक्त सभी प्रधान आलंकारिकोंके मतोंका मन्थन कर चुकी थी। तभी तो उन्होंने अपने उत्कृष्ट काव्यमें यथोचित रीतिसे इन सबका समावेश किया है। अपने अपूर्व ग्रन्थ 'मानस' के उपक्रममें उन्होंने काव्यकी प्रतिष्ठा और परीक्षाके लिए ही प्रकारान्तरसे उसके हेतु, उसका लक्षण, उसके प्रयोजन और उसकी संवेदनीयता आदिका संकेत भी किया है।

१. दे० 'गीतावली' अरण्य० पद 'गीत' १७ [१—८], उत्तर० १९ [१—५]
२. दे० 'विनय०' पद १३५ [१—५], १३६ [१—१२]
३. 'गीतावली' बा० १९ [१—१६]
४. दे० 'विनय०' पद १०७—१०९

शब्द-शक्तियोंपर पूर्ण अधिकार

यह तो निर्विवाद है कि कवि-कर्म शब्दार्थमय है। अतः कविके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह शब्द और अर्थके सम्बन्धका विशिष्ट परिज्ञाता हो, अर्थात् त्रिविध शब्दशक्तियोंपर उसका पूर्ण अधिकार हो। अभिधाका महत्त्व सामान्य नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ अथवा सांकेतिक अर्थकी बोधिका शब्दकी प्रथमा शक्ति यही है। इसके द्वारा जिन वाचक शब्दोंका अर्थबोध होता है वे [क] समूह-शक्ति-बोधक, [ख] अंग-शक्ति-बोधक, [ग] समूहांग-मिलिति-शक्ति-बोधक होनेसे तीन प्रकारके होते हैं। उन्हें क्रमशः रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ भी कहते हैं। कुशल कवि इन तीनों प्रकारके वाचकोंके प्रयोगमें किसी प्रकारका प्रमाद नहीं करता। अनगढ़, अशुद्ध, असमर्थ पद ही अभिधाकी दृष्टिसे हेय माने जाते हैं और ऐसे ही प्रयोग भाषाके स्वाभाविक प्रवाहको फेरकर उसे कीचड़में फँसानेवाले होते हैं। अभिधाका यथार्थ मर्मज्ञ किसी अवाचक शब्दका विवक्षित अर्थमें प्रयोग नहीं करता और न अनुप्रास आदिकी आपातरमणीयताके मोहमें पड़कर दूषितार्थ पदोंका ही प्रयोग करता है।

अब, यदि हम गोस्वामीजीके द्वारा प्रयुक्त रूढ़, यौगिक तथा योग-रूढ़ वाचकोंकी ओर दृष्टिपात करें तो हमें उनके शत-प्रतिशत ऐसे ही प्रयोग मिलेंगे जो प्रायः अपरिवृत्तिसह होंगे और साक्षात्संकेतित अभिधेयार्थको ही प्रकाशित करते होंगे।

कवि जब अपने भावोंकी अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता और तीव्रतासे वाचक शब्दोंके द्वारा नहीं कर सकता तब वह लाक्षणिकताका आश्रय लेकर करता है। भावविशेष या वस्तुविशेषकी वक्र अथवा प्रगल्भ व्यञ्जना, उक्तिमें विचित्र चारुता तथा सादृश्य या साधर्म्यकी ओटमें वर्णनीयका मूर्त प्रत्यक्षीकरण आदिसे हमें जिस चमत्कारकी अनुभूति होती है वह बोधगम्य और उपयुक्त लाक्षणिक प्रयोगोंका ही पराक्रम है। तुलसीके काव्यमें उपलभ्यमान निर्दोष लाक्षणिक प्रयोगोंकी बृहद् राशिमें अल्पोपलब्ध उपादान-लक्षणाके कुछ उदाहरणमात्र नीचे दिये जाते हैं—

'सीदत साधु, साधुता सोचति,
खल बिलसति, हुलसति खलई है।'
'विनय०' पद १३९

यहाँ लाक्षणिक शब्द है—'साधुता' एवं 'खलई'। ये धर्म या गुण हैं। इनका सोचना और हुलसना कैसा? इस दशामें वाच्यार्थको छोड़कर हम लक्ष्यार्थकी ओर बढ़ते हैं और इनके द्वारा समस्त साधु व्यक्ति तथा खलजनका अर्थ ग्रहण करते हैं। इन लक्ष्यार्थोंसे स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध वाच्यार्थ साधुता तथा खलता गुणमे लगा हुआ है। अतः इनमें उपादान या अजहत्-स्वार्था लक्षणा हुई। इसी भेदका एक दूसरा उदाहरण देखिये—

'तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।'
'दोहावली' दो० ३२६

गोस्वामीजीके काव्यमें प्रयुक्त रमणीय मुहावरों और लोकोक्तियोंमें व्यापक रूपसे सर्वत्र जो रूढ़ि-लक्षणा और यत्र-तत्र प्रयोजन-लक्षणाएँ दृष्टिगत होती हैं उनके सन्बन्धमें तो कुछ कहना हो नहीं। इनकी संख्या तो अत्यधिक है। सूक्ष्म भावोंकी अनुभूतिको विशेष गम्भीर बनानेके लिए लाक्षणिकताके बलपर उन्हें मूर्त दृष्टिगोचर स्वरूप देनेका भी उदाहरण लीजिये—

'सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा।'
'मानस' अयो० १५१. ८

साम्प्रतिक हिन्दी कवियोंकी रचनाओंमें 'सोनेका दिन' देखकर हम व्यर्थ ही उन्हें अंग्रेजीका ऋणी ठहराते हैं। वस्तुतः गोस्वामीजीने स्वयं अपनी भाषाको सोनेका दिन बहुत पहले ही दिखा दिया है। देखिये—

'सो दिन सोनेको कहु कब ऐहै।
जा दिन बँध्यो सिंधु त्रिजटा सुनु तू संभ्रम आनि मोहिं सुनैहै॥'
'गीतावली' सुन्दर० गीत ५०

गोस्वामीजीके लाक्षणिक प्रयोग काव्य-भाषाकी व्यञ्जकता, व्यापकता और चारुता बढ़ानेवाले हैं। इनके सम्बन्धमें यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि ये जन-समाजकी अनुभूति और विचार-परम्परासे पराङ्मुख एवं अस्वाभाविक होनेके कारण भाषा और भावमें दुरूहता बढ़ानेके अतिरिक्त और किसी कामके नहीं, जैसा कि आजके छायावादी कहलाने वाले कुछ कोरे कवियोंके बे-सिर-पैरके उपहसनीय लाक्षणिक प्रयोग होते हैं।

केवल अभिधा और लक्षणासे सर्वत्र ही कविका अभिप्रेत अर्थ अभिव्यक्त हो जाता ही हो, ऐसी बात नहीं। श्रेष्ठ रचनाओंके अनेकानेक प्रसंगोंमें उक्त दोनों शक्तियोंके विफल होनेपर तीसरी शक्ति व्यञ्जना और ही करामात दिखाती है। इनके द्वारा प्राप्त व्यंग्यार्थ न तो कथित या अभिहित होता है और न लक्षित। वह व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित, अवगत या प्रतीत होता है। नीचे तुलसीकी रचनाओंसे कुछ उदाहरण देकर उनके व्यंग्यार्थ-प्रकाशनका प्रयास किया जाता है—

'तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुना निधि, जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।'

'गीतावली' सुन्दर० गीत २०

अवतरणमें 'सकौं कहि हौं न'के वाच्यार्थसे हमें सीधे ही व्यंग्यार्थ दुःखाधिक्यकी अवर्णनीयताका बोध हो जाता है। अतः यहाँ अभिधामूला व्यञ्जना हुई।

वाच्य वैशिष्ट्यके कारण व्यंग्यार्थ किस प्रकार व्यञ्जना वैचित्र्य दिखाता है, इसका एक उदाहरण यह लीजिये—

'पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष॥'

'मानस' बा० २३५

यह सीताकी उक्ति है पार्वतीकी प्रतिमाके प्रति। प्रथम पंक्तिका वाच्यार्थ है—तुम्हारी पतिव्रता स्त्रियोंमें प्रथम गणना है। इससे व्यंग्यार्थ

यह निकलता है कि जब तुम ऐसी पतिव्रता हो तो मेरे पातिव्रत धर्मकी अवश्य रक्षा करोगी, क्योंकि मैं रामको अपना मानस पति बना चुकी हूँ। ऐसा न हो कि कोई अन्य नृप-कुमार धनुर्भंग करके मेरा वरण कर ले। अवतरणसे स्पष्ट है कि सीताके वाक्यकी विशेषताके कारण वाच्यार्थ-से उसके व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है। अतः यहाँ वाच्य वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सम्भवार्थी व्यञ्जना हुई। इसी प्रकारकी आर्थी व्यञ्जनाका और भी रमणीय दृश्य सीताके उसी स्तुतिप्रवाहमें दिखाई पड़ता है जो उन्होंने 'पतिदेवता सुतीय...सेख' के उपरान्त की। देखिये—

'सेवत तोहि सुलभ फलचारी। बरदायिनि त्रिपुरारि पियारी॥
देबि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर-नर-मुनि सब होहिं सुखारे॥
मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सब ही के॥
कीन्हेउँ प्रकट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही॥'
'मानस' बा० २३५. १—४

प्रथम दो पंक्तियोंके वाच्यार्थसे कृपाकी प्रेरणा और अभीष्ट-लाभ तो व्यंग्य ही है, पर अन्तिम दोनों पंक्तियोंमें लज्जाशीलताकी भी बड़ी मार्मिक व्यञ्जना है।

वाक्य-वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जनाका उदाहरण यह बरवै लीजिये—

'गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह।
देखउ आपनि मूरति सिय कइ छाँह[1]॥'

उदाहृतमें दूसरी पंक्तिके वाक्य-वैशिष्ट्यसे सीताका अतिशय सौन्दर्य-रूप व्यंग्य प्रकट होता है। छाँहके उभय अर्थ हैं। एक सौन्दर्य और दूसरा छाया। छाँहमें, सौन्दर्यमें, रूप देखनेका तात्पर्य यह है कि सीतामें इतनी आभा है कि राम उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। छायाके

१. 'बरवे रामा०' बा० बरवै १७

अर्थमें देखनेका भाव यह है कि रामका श्यामल रूप सीताकी छाया है, क्योंकि वह काली ही होती है।

चित्रकूटमें भरतको ससैन्य आते देख लक्ष्मणके मनमें उनके प्रति आशंका हुई, तत्परिणाम-स्वरूप वे क्षुब्ध हो उठे और अपने आप ही झुँझलाकर उन्हें 'कुटिल', 'कुबन्धु' आदि कहकर भी शान्त न हुए, प्रत्युत रामकी दोहाई देते हुए उबल पड़े—

'जो सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥'

रामने उनका ऐसा स्वरूप देखकर उन्हें नीतिपूर्वक समझाया और अन्तमें कहा—

'लषन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥'

इसका व्यंग्यार्थ यह हुआ कि तुम्हारा विचार अनुचित है। फिर इससे दूसरा व्यंग्य यह भी निकलता है कि तुमको अनन्य भ्रातृभक्त होनेका अहंकार न करना चाहिये। यहाँ भरत-मिलनका प्रकरण होनेके कारण ही एक व्यंग्यसे दूसरे व्यंग्यका बोध होता है। उक्तिमें प्रस्ताव-वैशिष्ट्योत्पन्न-व्यंग्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना हुई।

वन-गमनके प्रसंगमें राम और सीताका परस्पर जो संवाद दिखाया गया है उसमें बड़ी ही मार्मिक व्यञ्जनाएँ हैं। इसी प्रकार चित्रकूटकी सभामें, भरतने अपने ऊपर समस्तत्तरुभार देखते हुए 'अरथ अमित अति आखर थोरे' में जो-जो उत्तर दिये वे अथवा उसी प्रसंगमें वशिष्ठ, राम, जनकके जो-जो कथन हुए हैं वे सब गूढ़ातिगूढ़ व्यंग्यार्थोंसे संपृक्त हैं। अवकाश नहीं कि हम उक्त प्रसंगोंके भी कुछ उदाहरण दे सकें। अंगद-रावण-संवाद या परशुराम-संवाद आदिके प्रसंगोंमें भी यद्यपि व्यञ्जनाका अच्छा चमत्कार है, पर इनमें उतनी गम्भीरता नहीं है।

त्रिविध शब्द-शक्तियोंके इन कुछ उदाहरणोंको देखते हुए अब अन्तमें निष्कर्षके रूपमें हमें कहना यह है कि गोस्वामीजीका शब्द-

शक्तियोंपर पूर्ण अधिकार था, इसीलिए यथोचित प्रसंगमें इनके सुप्रयोगों-की कमी नहीं है।

काव्यके स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायकोंका विधान

शब्द शक्तियोंपर गोस्वामीजीका अधिकार देख चुकनेके अनन्तर अब देखना चाहिये कि उन्होंने काव्यके स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायक उपकरणोंकी योजना तथा स्वरूपच्युतिकारक अपकर्षाधायकोंका परिहार कहाँतक किया है। आलंकारिकोंके विविध मतोंका पारस्परिक सम्बन्ध मनोयोगपूर्वक समझ लेनेपर अन्तमें हम यही कह सकते हैं कि वस्तुतः ध्वनि, रस आदि काव्यके स्वरूपाधायक हैं और अलंकार, गुण, वक्रोक्ति आदि उत्कर्षाधायक। अपकर्षाधायकोंके अन्तर्गत काव्यके विविध दोष परिगणनीय हैं। तुलसीकी दृष्टिमें ध्वनि आदिका क्या स्थान था, इसका किञ्चित् अनुमान इस अर्द्धालीसे किया जा सकता है—

'धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती[1]॥'

अवरेबके अर्थ वक्रपनपर दृष्टि रखते हुए यदि विचार किया जाय तो अवतरणसे स्पष्ट है कि कविने ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलंकार आदिको क्योंकर प्रश्रय दिया है। ठीक ही है, जैसे सरोवरके जलमें नाना प्रकारके मीनोंके ऊपर-नीचे थिरकते रहनेका दृश्य नयनाभिराम होता है वैसे ही रामचरित-रूपी जलके शोभा-वर्द्धनके लिए ही कविने ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलंकारादिको अपनाया है। एतदर्थ उनके काव्यमें उक्त मीनोंकी जल-क्रीड़ाएँ भी अवलोकनीय हैं।

ध्वनिके स्वरूपके सम्बन्धमें यहाँ इतना ही संकेत करना अलं होगा कि वाच्यसे अधिक उत्कर्षक चारुता प्रतिपादक व्यंग्यको ध्वनि कहते हैं[१]। दूसरे शब्दोंमें यों भी कह सकते हैं कि जिस काव्यमें व्यंग्यार्थ ही मुख्य अर्थात् विशेष चमत्कृति-जनक रहता है वही उत्तम काव्य या ध्वनि-काव्य कहा जाता है। तुलसी ध्वनिके मर्मसे पूर्णतया अभिज्ञ थे, अतः

१. 'मानस' बा० ३६. ८

उन्होंने अपने काव्यमें ध्वनिके भी यथोचित प्रयोग किये हैं। ध्वनिके प्रधान भेदोंमेंसे कुछके उदाहरण उनकी कृतियोंसे दिये जाते हैं।

अविवक्षित वाच्य-ध्वनिके द्वितीय भेद अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनिका यह उदाहरण देखिये—

'बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला[2]॥'

यह परशुरामके प्रति लक्ष्मणकी उक्ति है। यहाँ 'कृपा', 'अनुकूल मूर्ति' और 'फूल' अपने-अपने वाच्यार्थको छोड़ तद्विपरीत अर्थका बोध कराते हैं, अर्थात् लक्ष्मणके कोपको व्यञ्जित करते हैं।

विवक्षितवाच्यध्वनिके दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। इनमें प्रथमकी महत्ता इसीसे समझी जा सकती है कि इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावसबलता सभी आते हैं। अलंकारशास्त्रने रसोंको कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और किस प्रकार ये काव्यके प्राण स्वीकृत किये गये हैं, इन प्रसंगोंको यहाँ छेड़नेका अवकाश नहीं। यहाँ तो हम कुछ उदाहरणमात्र देना चाहते हैं जिनसे प्रकट हो जाय कि तुलसीकी दृष्टि रस, भाव, रसाभास आदिके सुप्रयोगकी ओर भी थी।

संयोग शृंगारका स्थायी भाव रति किस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन तथा व्यभिचारी भाव आदि उपकरणोंसे परिपुष्ट होकर रस रूपमें परिणत हो रही है, यह देखिये—

'दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावहिं गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं[3]॥'

१. 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' ध्वन्यालोक

२. 'मानस' बा० २७९. ४

३. 'कविता०' बा० छ० १७।

विप्रलम्भ श्रृंगार रसका पूर्ण परिपाक इन पंक्तियोंमें लीजिये—

'लछिमनु देखु बिपिन कइ सोभा।
देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥
नारि सहित सब खग-मृग-बृंदा।
मानहु मोरि करत हहिं निंदा॥
हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं।
मृगी कहहिं तुम्ह कहुँ भय नाहीं॥

तुम्ह आनन्द करहु मृगजाये। कंचन मृग खोजन ये आये॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं॥
देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा[1]॥'

यदि भविष्यत् विप्रयोगका उदाहरण देखना चाहें तो यह देखिये—

'समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु-पद-कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ[2]॥'

... ...

'सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के।
लोचन ललित भरे जल सिय के॥

सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥
उतर न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरजु उर अवनि-कुमारी।

लागि सासु पग कह कर जोरी।
छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई।
जेहि बिधि मोर परम हित होई॥

---

१. 'मानस' अरण्य० ३६. ३-७, १०

२. 'मानस' अयो० ५७।

मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं।
पिय बियोग सम दुख जग नाहीं[1] ॥'

'प्रान नाथ करुना यतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद-विधु सुरपुर नरक समान[2] ॥'

गोस्वामीजीके संयोग तथा वियोग दोनों शृंगारके वर्णन पूर्णतया परिष्कृत होनेके कारण ऐसे नहीं हैं कि कोई उन्हें असंयत अथवा अस्वाभाविक कह सके। उनके संयोग वर्णनमें न अन्याान्य कवियों की-सी नग्नता और अभव्यता आयी है और न उनका विरह-वर्णन जायसीके विरह-वर्णनकी भाँति इस प्रकारकी वीभत्सतासे दूषित है—

'बिरहके दगध कीन्ह तन माठी। हाड़ जराइ कीन्ह जस काठी॥
नैन नीर सो पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया॥
बिरह सरागन्हि भूंजै मांसू। गिरि गिरि परै रकतकै आँसू[3] ॥'

ऐसे विरह-वर्णनसे सहानुभूति न उत्पन्न होकर जुगुप्सा उत्पन्न होती है। हमारे भारतीय दृष्टिकोणसे यह विरह शृंगार रसका अंग नहीं हो सकता।

हास्य रसका आस्वादन इस छन्दमें कीजिये—

'बिंध्यके बासी उदासी तपोव्रतधारी महा, बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि काननको पगु धारे[4] ॥'

तुलसीने अपने आराध्य रामको भी आलम्बन विभाव बनाकर उनके साथ जैसा परिहास किया है वह बहुत ही उच्च कोटिका परिहास है। इसके

१. 'मानस' अयो० ६३. १—७

२. 'मानस' अयो० ६४.

३. 'पद्मावत' पृ० ७४

४. 'कविता०' अयो० छ० २८

आलम्बन स्वयं राम भी तुलसीकी इस ठठोलीको सुनकर अवश्य हँस पड़े होंगे। भक्त-जनके मनमें वर्तमान भगवान्की उद्धारिणी शक्तिपर अटल श्रद्धा ही इस हासकी आधारशिला है। अतः यह भक्तिभाव हास्यका ऐसा अनुपम मेल है जो अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। पत्नीहीन ऋषियोंको चन्द्र-मुखियोंकी प्राप्तिके विचित्र स्रोतकी उद्भावना कितनी आह्लादकारिणी है।

गोस्वामीजीने हासका जहाँ कहीं भी वर्णन किया है वह अवहसित, अपहसित तथा अतिहसितकी कोटिमें नहीं गिनाया जा सकता, प्रत्युत शत-प्रतिशत शिष्टहास स्मित, हसित अथवा विहसितके अन्तर्गत ही आयेगा।

शोक स्थायी भाव आलम्बन और उद्दीपन विभाग तथा संचारियोंसे पोषित होकर अपनी पूर्णावस्थाकी प्राप्तिसे करुण रसकी निष्पत्ति किस प्रकार कर रहा है यह देखिये—

'पति सिर देखत मंदोदरी। मुरछित बिकल धरनि खसि परी॥
जुवति बृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥
पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥

... ...

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई।
सुत परिजन बल बरनि न जाई'॥'

'मानस'में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण एवं लक्ष्मण-मूर्च्छाके प्रसंगोंमें तुलसीने करुण रसको मूर्तिमान् किया है। 'गीतावली'के उत्तरकाण्डके सीतात्याग-सम्बन्धी कुछ गीतोंमें भी उक्त रसकी हृदय-विदारक व्यञ्जना हुई है।

शास्त्रीय सभी अवयवोंके सहित अद्भुत रसकी निष्पति बालकाण्डके 'एक बार जननी अन्हवाये। करि सिंगार पलना पौढ़ाये॥' आदि अर्द्धा-

२. 'मानस' लं० १०३.१–९,

लियोंकी मालामें देखिये[1]। इसके अतिरिक्त सती जब रामकी परीक्षा करने गयीं, उस प्रसंगमें भी अद्‌भुत रसकी परिपूर्णता दिखायी गयी है[2]।

वीर रसके चार भेदोंमेंसे प्रमुख युद्धवीरके वर्णन गोस्वामीजीने अनेक प्रसंगोंमें किये हैं। यथा, लंकाकाण्डमें वीर रसकी योजना कितने ही प्रसंगोंमें हुई है। बालकाण्डमें जनककी 'बीर बिहीन मही मैं जानी' सदृश उक्तिसे उद्दीप्त होकर लक्ष्मणने जो बातें कहीं—

'तोरउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जो न करउँ प्रभुपद सपथ पुनि न धरउँ धनु हाथ॥'

उनमें भी वीर रसकी व्यञ्जना है। यहाँ धनुष आलम्बन विभाव है, जनकका व्यंग्य उद्दीपन विभाव है। आवेशमें आकर लक्ष्मणने जो बातें कही हैं वे अनुभाव हैं। आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति, गर्व आदि सञ्चारी भाव हैं और जब इनसे स्थायी भाव उत्साह परिपुष्ट होता है तब यहाँ वीर रस व्यञ्जित होता है। यहाँ 'तव प्रताप बल' उत्साहका बाधक न होकर साधक हो गया है। 'कवितावली'के लंकाकाण्डमें भी घनाक्षरी, झूलना और छप्पयकी पिटारीमें वीर रसके अच्छे-अच्छे उदाहरण भरे हैं।

युद्धवीरके अतिरिक्त यदि हम अन्य तीनों भेद अर्थात् दानवीर, दयावीर और धर्मवीर दिखाना चाहें तो इन्हें भी सुगमतासे दिखा सकते हैं, क्योंकि तुलसीने राममें वीर रसके चारों भेदोंके लक्षण घटित किये हैं। रामकी दानवीरता और दयावीरताके क्रमशः एक-एक उदाहरण लीजिये—

'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ[3]॥'

... ...

---

१. 'मानस' बा० २००.१–८, २०१. ६,७.

२. दे० वही, बा० ५३.४–८, ५४.१–८.

३. 'मानस' सुन्दर० ४९

'रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई।
तुलसी रामहिं प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई॥
... ...

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों॥
सुनहुँ लषन! खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो।
सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो[१]॥'

धर्मके व्यापक स्वरूपको दृष्टिमें रखकर ही तुलसीने यत्र-तत्र धर्म-वीरताकी दिव्य किरणें प्रस्फुटित होती दिखायी हैं। सच्चे पुत्रके सामान्य कर्तव्यके रूपमें यह धर्म-वीरताका उद्रेक देखिये—

'मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिय तात।
आयसु देइय हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात॥
धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी[२]॥'

तुलसीके विशाल एवं उत्कृष्ट काव्य-क्षेत्रमें रौद्र, भयानक, वात्सल्य तथा शान्त रसोंके भी एकसे एक बढ़कर अनूठे उदाहरण विद्यमान् हैं, पर स्थानाभावके कारण इनके उदाहरण आदि छोड़कर हम आगे बढ़ते हैं।

रसके सभी उपकरणोंको जुटाकर किसी रस-विशेषकी योजना कर देना कोई बड़ी बात नहीं। वस्तुतः कविकी रस-मर्मज्ञताका पता तब चलता है जब वह रसौचित्यका सांगोपांग निर्वाह करता है अर्थात् वह प्रमादवश न विरोधी रसोंका संकर ही करता है और न रसदोषोंके ही

१. 'गीतावली' अरण्य० गीत, ११, १२
२. 'मानस' अयो० ४५.१—४

चक्करमें पड़ता है। तुलसीने अपनी रचनाओंमें विरोधी रसोंका संकर कहीं भी नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने परस्पर सहायक रसोंको ही मिलाया है। भयानक, अद्भुत और वीरके स्वतन्त्र-रस-संकरका एक उदाहरण देखिये—

'महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अतिघनी।
सुर डरत चौदह सहस्र प्रेत बिलोकि एक अवध धनी॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि माया नाथ अति कौतुक करेउ।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरेउ[1]॥'

एक ऐसा उदाहरण देखिये जिसमें कविने वीर और भयानक सदृश विरोधी रसोंको भिन्न देशमें वर्णित कर रसदोष नहीं आने दिया है।

'प्रभु कीन्हि धनुषटंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।
भये बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा[2]॥'

यहाँ राममें वीर और राक्षसोंमें भयानक होनेके कारण अर्थात् भिन्न देशमें वर्णित होनेसे दोनों विरोधी रसदूषित नहीं हुए हैं।

रस अनुभूत होनेवाली वस्तु है। अतः उसके निरूपणमें यह अत्यावश्यक माना जाता है कि कवि स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, शृंगार, वीर, स्मृति, शोक, चिन्ता और रस प्रभृतिका तत्तद्भेददर्शक स्वनाम द्वारा उल्लेख न करें। ऐसा करना रसदोष माना जाता है। तुलसी इससे भी मुक्त हैं। इस प्रसंगमें हमें यह न भूलना चाहिये कि जहाँ विभाव और अनुभावसे तत्तद्भावकी स्पष्टतया प्रतीति न होती हो वहाँ यदि संचारी भाव स्वनामसे निर्दिष्ट किया जाता है तो वह दोष नहीं कहा जायगा। जैसे तुलसीके इस दोहेमें देखिये—

'गुरुजन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि[3]॥'

---

१. 'मानस' अरण्य० २०

२. 'मानस' अरण्य० १९

३. 'मानस' बा० २४८

उदाहृतमें लज्जा सञ्चारी भावका जो स्वनाम द्वारा प्रयोग किया गया है वह दूषित नहीं है, क्योंकि सकुचकर दूसरी ओर देखना इस अनुभावका भीत्यादिमें होना भी सम्भव है, ऐसी दशामें 'लगी बिलोकन सखी तन' इस अनुभाव द्वारा लज्जा सञ्चारी भावका ही बोध न हो सकता, एतदर्थ यहाँ लज्जा सञ्चारी भावका जो स्वनाम द्वारा उल्लेख किया गया है वह सदोष नहीं है।

भावका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। प्रधानतासे प्रतीयमान निर्वेदादि सञ्चारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादिके अभावसे उद्बुद्ध-मात्र रसावस्थाको अप्राप्त रति आदि स्थायी भावोंको भाव कहते हैं[१]। हमारे कविने अपनी कृतियोंमें प्रायः सभी प्रकारके भावोंका निरूपण किया है। कुछके उदाहरण दिये जाते हैं।

ईश्वर-विषयक रति-भाव देखिये—

'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥
पुनि पुनि प्रभु-पद-कमल गहि जोरि पंकरुहपानि।
बोली गिरिजा बचन बर मनहु प्रेमरस सानि[२]॥'

तुलसीने देवता-विषयक रति-भावका जहाँ-जहाँ निरूपण किया है वे सभी स्थल ऐसे नहीं हैं कि केवल भक्त पुकार या स्तुति आदि करके रह जाता हो और देवता प्रत्यक्ष रूपमें कुछ न कहता-सुनता हो, प्रत्युत उन्होंने कुछ ऐसे वर्णन भी किये हैं कि आलम्बन (देवता) भी प्रत्यक्ष रूपमें

१. 'काव्यालोक' पृ० २६८.
२. 'मानस' बा० ११७. ५–८, ११९.

(आश्रय) भक्तको आश्वासन देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि जानकी अपनी परम श्रद्धासे गिरिराज-किशोरीकी प्रतिमाकी नाना प्रकारसे जय-जयकार करती हुई अपने मनोरथ-पूर्तिकी याचना करती हैं तो उससे प्रभावित होकर भवानी भी मुस्कराकर अपना प्रसाद देती हुई बोल उठती हैं—

'विनय-प्रेम-बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरषु उर भरेऊ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥
नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा[1]॥'

यद्यपि ऐसे प्रसंगोंमें आलंकारिकोंके मतके विपरीत भक्तिभावके रसत्व-प्राप्ति करनेका विचार अपेक्षित है, पर इस विषयपर अधिक विवेचना अनिवार्य होनेके कारण प्रस्तुत प्रबन्धका विस्तार अधिक हो जायगा। इसलिए इस विषयको यहीं छोड़ता हूँ।

गुरु-विषयक रति-भावका एक मनोहर उदाहरण 'मानस'के प्रारम्भमें 'बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा।' आदिमें देखिये। ऋषि-विषयक और राज-विषयक रति-भावके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'बंदउँ मुनि-पद-कंजु रामायन जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित[2]॥'

... ...

'बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ[3]॥'

उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भावका भी एक उदाहरण लीजिये—

'माखे लषन कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें[4]॥'

---

१. 'मानस'बा० २३५. ५—८
२. वही, बा० १४
३. वही, बा० १६
४. वही, बा० २५१. ८

यहाँ आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदिके होते हुए भी क्रोध स्थायी भावकी पुष्टि नहीं हो पायी है, क्योंकि इसीके साथ कविने यह भी निरूपण कर दिया है कि—

'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान[१]॥'

इससे स्पष्ट है कि रामके भयके सामने क्रोध स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता। अतः यहाँ भावध्वनि ही मानी जायगी।

अन्तमें, प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भावके कुछ नमूने लीजिये—

(क) 'तुलसी प्रभु के बिरह अधिक हठि राजहंससे जोरे।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम लषनके घोरे[२]॥'

(ख) 'पुर तें निकसीं रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥'
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक, पर्न कुटि करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै[३]॥

(ग) 'धरि धीर कहैं चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहै जग पोच न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं[४]॥'

(घ) 'कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हिहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥

१. वही, बा० २५२
२. 'गीतावली' अयो० गीत ८६ [४]
३. 'कविता०' अयो० छ० ११
४. 'कविता०' अयो० छ० २३

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु-बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजनमंजु तिरीछेनयननि। निजपतिकहेउतिन्हहिंसियसयननि[1]॥'

(ङ) 'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥
राम लषनु उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी[2]॥'

(च) 'स्रवन सुनत सागर बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥
बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कम्पति उदधि पयोधि नदीस[3]॥'

अस्तु, इन अवतरणोंके (क)में 'निर्वेद' तथा (ख), (ग), (घ), (ङ) एवं (च)में क्रमशः 'श्रम', 'औत्सुक्य', 'व्रीड़ा', 'जड़ता' और 'आवेग' सञ्चारी भाव व्यञ्जित हैं।

आगे गोस्वामीजीके द्वारा निरूपित रसाभास और भावाभासकी व्यञ्जना करनेवाले कुछ उदाहरणोंकी ओर बढ़िये। देखिये, शृंगारका यह रसाभास—

'जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भये सकल बस काम॥

सब के हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं सब साखा॥
नदी उमगि अंबुधि कहुँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई॥
जहँ असि दसा जड़न की बरनी। को कहि सकइ सचेतन्ह करनी॥
पसु पच्छी नभ जल थल चारी। भये काम बस समय बिसारी॥
मदन अंध ब्याकुल सब लोका। निसिदिन नहिं अवलोकहिं कोका॥
देव-दनुज नर-किन्नर ब्याला। प्रेत-पिसाच भूत-बेताला॥
इनकी दसा न कहउँ बखानी। सदा कामके चेरे जानी॥

१. 'मानस' अयो० ११५. १—७
२. वही, बा० २८९. ४, ५
३. वही, लं० ४. १०, ५

सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भये बियोगी[1] ॥'

यहाँ लता, वृक्ष, नदी, समुद्र, ताल, तलाई, पशु, पक्षी, मुनि, योगी प्रभृतिका अनुचित श्रृंगार वर्णित होनेसे श्रृंगाररसाभास है।

करुणरसाभासका उदाहरण यह लीजिये—

'सुनि सुतबचन सनेहमय कपट नीर भरि नयन।
भरत स्रवन मन सूलसम पापिनि बोली बयन॥
तात बात मैं सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ[2]॥'

यहाँ दशरथकी मृत्युपर कैकेयीने अपनी आँखोंमें आँसू भरकर भरतके सामने जो शोक-प्रकाशन किया है उसकी अयथार्थताके कारण करुण-रसाभास हुआ।

भावाभासका भी एक उदाहरण देखिये—

'सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहि नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव॥
नाम तुम्हार प्रताप दिनेसा। सत्यकेतु तव पिता नरेसा॥
गुरु प्रसाद सब जानिय राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा॥
देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई॥
उपज परी ममता मन मोरे। कहउँ कथा निज पूछे तोरे[3] ॥'

अवतरणसे प्रकट है कि कपटमुनिने अपनी कार्य-सिद्धिके लिए राजाके प्रति अपना कपटमय प्रेम प्रदर्शित किया है, एतदर्थ यहाँ राजा-विषयक रतिभावाभास हुआ।

भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि तथा भावशबलताके नमूने भी क्रमशः देखिये—

'मैं यहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजग्य जग कोटिक कीन्हे॥

---

१. 'मानस' बा० ८४. १—८.

२. वही, अयो० १५८. १, २ ३. वही, बा० १६३. १—४

मोर प्रभाव बिदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि बिप्र के भोरे॥
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा[1]॥'

यह गर्व-सञ्चारी आगे जब रामने रमापतिवाले धनुष्की प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तो विस्मयसे परिवर्तित हो गया—

'राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटइ मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहि चढ़ि गयेऊ। परसुराम मन बिस्मय भयेउ[2]॥'

अतः यहाँ भावोदय हुआ।

शिवके धनुर्भंगकी ध्वनि सुनते ही परशुराम कुपित हुए और जब वे जनककी सभामें आये तो उनके देखनेसे ही प्रकट होता था कि उनमें कौन-सा भाव छाया रहा—

'सीस जटा ससि बदन सुहावा।
रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥
भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते।
सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते[3]॥'

परन्तु यह क्रोधभाव विश्वामित्रके आकर मिलने और राम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंको मुनिके चरणोंमें डालनेके उपरान्त सहसा लुप्त हो गया और वे—

'रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन[4]॥'

इस प्रकार यहाँ भावशान्ति हुई।

भावसन्धि नीचेकी इन पंक्तियोंमें कितनी सुन्दरतासे व्यक्त हुई है—

'तब देखी मुद्रिका मनोहर। रामनाम अंकित अति सुंदर॥
चकित चितइ मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी[5]॥'

इसमें एक साथ ही हर्ष और विषादका सञ्चार वर्णित है।

---

१. 'मानस' बा० २८२. ४–६
२. वही, बा० २८३. ७, ८
३. वही, बा० २६७. ५, ६
४. वही, बा० २६८. ८
५. वही, सुन्दर० १२. १, २

'गीतावली'के 'सुवन समीरको धीर धुरीन बीर बड़ोइ'[1]से प्रारम्भ होनेवाले गीतमें समान चमत्कारक अनेक भावोंका सम्मेलन होनेसे अपूर्व भावशबलता दिखायी गयी है। उक्त गीत बड़ा है। उसे उद्धृत करनेका अवकाश नहीं।

केवल विवक्षित वाच्यध्वनिके प्रथम भेद-प्रभेदोंके ही कुछ उदाहरण आदि देनेमें इतना विस्तार हो गया और यदि अब लक्ष्यक्रम व्यंग्यके दोनों प्रधान भेद वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि तथा इनके उपभेद आदिका प्रसंग छेड़ा जाय तो प्रस्तुत परिच्छेद बहुत बढ़ जायेगा, अतः उसे हम यही कहकर छोड़ते हैं कि तुलसीकी रचनाओंमें वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनिके भी सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं।

यद्यपि हमें अलंकारवादियोंकी ऐसी उक्ति—

'अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥'

(अर्थात् जो विद्वान् अलंकार-रहित शब्द और अर्थको काव्य मानता है वह अग्निको उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता) से सर्वांशमें सहमत होकर अलंकारको काव्यका सारभूत अंग माननेकी आवश्यकता नहीं, तथापि उसे काव्यका एक ऐसा साधन तो मानना ही पड़ेगा जो यथार्थ और उपयुक्त रीतिसे प्रयुक्त होनेपर भावोंका उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओंके रूप, गुण, क्रियाका अधिक तीव्र अनुभव करानेमें बहुत कुछ सहायक होता है। श्रेष्ठ काव्य-प्रणेताओंको अलंकारोंका पूर्ण ज्ञान रहता है और वे उनके यथोचित प्रयोगोंसे भी अपने काव्यकी कमनीयता बढ़ाते हैं। गोस्वामीजीको अलंकारोंका सम्यक् ज्ञान था, यह इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि उनके काव्यमें अलंकारोंके तीनों प्रधान प्रकार अर्थात् शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार अपने-अपने भेद-प्रभेदोंके सहित उत्तम रीतिसे प्रयुक्त किये गये हैं।

---

१. दे० 'गीतावली' सुन्दर० गीत ५

शब्दालंकारका काव्यमें विशेष प्रयोग उसके महत्त्वको कम करनेवाला होता है। तुलसीदासजी गम्भीर प्रकृतिके थे। उन्होंने यमकादि शब्दालंकार-पर विशेष दृष्टि नहीं रखी, स्वाभाविक रीतिसे ही ये अलंकार आ गये हैं। रहे अर्थालंकार, उनमेंसे कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो हमारे कविकी रचनाओंमें न मिले। सभी प्रकारोंका एक-एक उदाहरण देनेके लिए भी प्रस्तुत प्रबन्धमें अवकाश नहीं। अतः संक्षेपमें, सुभीतेके साथ विचार करनेके लिए हम विद्याधर, विद्यानाथ प्रभृति आलंकारिकोंके द्वारा किये गये अलंकारोंके वर्गीकरणको ध्यानमें रखते हुए प्रत्येक वर्गके कुछ ही अलंकारोंके उदाहरण देंगे।

साधर्म्यमूलक अलंकारोंको देखनेसे पता चलता है कि उनमेंसे कुछ तो अभेद-प्रधान, कुछ भेद-प्रधान और कुछ भेदाभेद-प्रधान होते हैं। अभेद-प्रधानके अन्तर्गत रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति आते हैं, भेद-प्रधानमें दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, अधिक, अल्प परिगणनीय हैं और भेदाभेद-प्रधान अलंकारोंमें उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण गिनाये जा सकते हैं।

गोस्वामीजीने रूपक अलंकारपर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुए उसका प्रयोग अपनी सभी कृतियोंमें पग-पगपर किया है। छोटे-छोटे निरंग और परम्परित रूपकोंका तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े और बेजोड़ सांग रूपकके भी एकसे एक बढ़कर उदाहरण 'मानस', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' प्रभृति प्रधान कृतियोंमें जगमगाते हैं। उन्होंने अपने इन लम्बे-लम्बे सांग रूपकोंमें भी मजाल नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्यका आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उसकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखायी हो। उन्होंने ऐसे रूपकोंकी योजना सामान्यतया गम्भीर विषयोंको सरस एवं सरल रीतिसे हृदयंगम करानेके लिए ही की है और उसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके रूपक केवल परम्परागत उपमानों और अप्रस्तुतोंकी क्षुद्र परिधिमें ही नहीं बँधे रहते, अपितु वे विशेषांशमें अपनी

सूक्ष्म प्रकृति-पर्य्यवेक्षण-शक्तिके सहारे प्रकृतिके व्यापारोंसे ही ऐसे अप्रस्तुतोंका चयन करते हैं कि उनसे रूपकमें प्रभावादिके अतिरिक्त बड़ी ही स्वाभाविकता आ जाती है। अत्यन्त संक्षेपमें यही उनके रूपकोंकी विशेषताएँ हैं। अब एक उदाहरण लीजिये—

'आस्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुनासरित, लियें जात रघुनाथ॥

बोरति ग्यान बिराग करारें। बचन ससोक मिलत नद नारें॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरु-बर कर भंगा॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अबर्त अपारा॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बेचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई[1]॥'

अपह्नुतिका चमत्कार कैसी स्वाभाविक रीतिसे रामके रंगभूमिमें प्रवेश करनेके साथ सूर्योदय होनेके प्रसंगमें दिखाया गया है, यह देखिये—

'रबि निज उदय ब्याज रघुराया।
प्रभुप्रताप सब नृपन्ह दिखाया[2]॥'

उल्लेखकी योजनाके सहारे विविध गुणोंके आश्रयत्वसे एक ही रामको कविने कैसे विभिन्न रूपोंमें दर्शाया है, यह 'मानस'के बालकाण्डकी 'जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'से लेकर उसके नीचेकी चौपाइयोंकी मालामें भली भाँति देखा जा सकता है[3]। जिस पाठकको अलंकारका ज्ञान नहीं उसे भी उक्त प्रसंग स्वाभाविक ही लगता है, क्योंकि इसे वह रामकी दिव्य विभूति समझता है।

अब साधर्म्यमूलककी भेद-प्रधान श्रेणीमें आनेवाले अलंकारोंमेंसे कुछके उदाहरणोंकी ओर आइये।

---

१. 'मानस' अयो० २७५. १-६ २. वही, बा० २३८. ५
३. वही, बा० २४०. ४-८, २४१. १-८

दीपककी योजनासे विभिन्न प्रस्तुत और अप्रस्तुतोंका एक ही धर्म अर्थात् क्रियामें सम्बन्ध यहाँ किस प्रकार दिखाया गया है, यह भी देखिये—

'संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी'[1]॥'

अनेक अप्रस्तुतोंका एक धर्म कालक्षेप करनेकी असमर्थताकी यह स्वाभाविक और सच्ची उद्भावना किस प्रकार तुल्ययोगितासे अलंकृत हो जाती है, यह देखिये—

'सहबासी काचो गिलहिं, पुरजन पाक प्रवीन।
काल छेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खग मृग मीन'[2]॥'

निदर्शनाके द्वारा गोस्वामीजीने इन पंक्तियोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी उत्कृष्टता कैसे अच्छे ढंगसे व्यक्त की है—

'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी'[3]॥'

सहोक्ति द्वारा एक ही धनुर्भंगके व्यापारमें होनेवाली अनेक क्रियाओंका यह सहभाव कैसी सुन्दरतासे दिखाया गया है—

'गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाय लियो।
नृपगन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥
आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक-हियो।
भंज्यो भृगुपति-गर्व सहित, तिहुँ लोक बिमोह कियो'[4]॥'

व्यतिरेकका उदाहरण देखिये—

'सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर'[5]॥'

---

१. वही, अरण्य० २०. १०, ११   २. 'दोहावली' दो० ४०४
३. 'मानस' उ० ११४. १, २   ४. 'गीतावली' बा० गीत ८८ [६, ७]
५. 'बरवै' बा० २

इसीको हाथीपर चढ़ाकर गधेपर बैठाना कहते हैं।

अधिक अलंकारकी योजना द्वारा अत्यधिक आनन्दोल्लासकी यह कैसी व्यञ्जना की गयी है—

'बहुत उछाहु भवन अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा[1]॥'

यहाँ बहुत उछाह आधेयको भवन आधारसे बहुत बड़ा बताया गया है।

यदि अल्पका भी चमत्कार देखना चाहें तो बरवैकी यह एक पंक्ति लीजिये—

'कनगुरिया कइ मुँदरी कँगना होइ[2]।'

इसमें कनगुरियाकी मुँदरी सूक्ष्म आधेयसे हाथ आधारके अधिक या बड़ा होनेपर भी उसे सूक्ष्म बताया गया है। तभी तो मुँदरी कंकणका स्थान ले रही है।

साधर्म्यमूलकके भेदाभेद प्रधान-अलंकारोंमें सर्वोपरि **उपमा** ही है। इसका प्रयोग भी गोस्वामीजीने प्रचुर परिमाणमें किया है। उनकी उपमाओंको दृष्टिमें रखते हुए यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि ये अधिकांशमें सौन्दर्य या दृश्य-चित्रणके लिए व्यवहृत हुई हैं। इनमें उनकी नूतनातिनूतन कल्पनाशक्तिका विस्तार भी अवगत होता है। कवि-समय-सिद्ध उपमानोंके अतिरिक्त नये उपमानोंके प्रयोगकी भी न्यूनता नहीं है। यही नहीं, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपमानोंको भी कहीं-कहीं बड़ी अनूठी उद्भावनाके साथ विशेष-विशेष प्रसंगोंमें बैठाया गया है। उन्होंने ऐसी उपमाओंकी भी सृष्टि की है जो एकमात्र उनके जड़ एवं चेतन जगत्के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण तथा आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूतिपर अवलम्बित हैं। अब उपमाकी कुछ ऐसी भिन्न-भिन्न पंक्तियाँ देखिये जिनसे उक्त विशेषताएँ झलक उठें—

---

१. 'मानस' बा० २९६. ८

२. 'बरवै०' सुन्दर० ३८

'तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह-से बिकसे[1] ॥'

... ...

'दिये पीठि पाछे लगे, सनमुख होत पराय।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाय[2] ॥'

'जनक बचन हुए बिरवा लजारु के-से,
बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के[3] ।'

... ...

'लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपिन कर सोना[4] ॥'

अध्यवसायमूलक अलंकारोंके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार आते हैं। इन दोनों अलंकारोंका प्रयोग भी गोस्वामीजीने दिल खोलकर किया है। उत्प्रेक्षाओंकी भरमार भी उपमाओं और रूपकोंकी भाँति उनकी सभी कृतियोंमें देखी जा सकती है। उन्होंने जहाँ-कहीं रूप या अंग-शोभाको वर्णनीय बनाया है वहीं उत्प्रेक्षापर उत्प्रेक्षा करते हुए उसकी अनूठी माला भी प्रस्तुत कर दी है जो पाठकको सहजमें ही अप्रतिम सौन्दर्यानुभूति कराती है। इस मालामें पिरोये अप्रस्तुत कवि-परम्परानुगत और प्रकृतिसे गृहीत दोनों प्रकारके रहते हैं। दोनों ही प्रस्तुतके भावको पूर्णतया अनुरञ्जित करते हैं। देखिये—

'जानकी-बर सुंदर माई।
इंद्रनील-मनि स्याम सुभग अंग अंग मनोजनि बहु छबि छाई॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई।
कंजदलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई॥
पीत जानु उर चारु जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई।
पीतपराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई॥

---

१. 'कविता०' बा० छ० २ २. 'दोहावली' दो० २५७
३. 'गीतावली' बा० गीत ८२ [९] ४. 'मानस' बा० २५८.२

किंकिन कनककंज अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई।
गई न उपर सभीत नमित-मुख, बिकसि चहूँदिसि रही लोनाई॥
जज्ञोपवीत बिचित्र हेममय, मुक्तामाल उरसि मोहिं भाई।
कंद-तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु-रुचिर बलाकपाँति चलि आई॥
कंबुकंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसनन की रुचिराई।
पदुम कोस महँ बसे बज्र मनो निज संग तड़ित-अरुन-रुचि लाई॥
नासिक चारु,ललित लोचन,भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छबि पाई।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई[1]॥'

उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजनामें कवि अपनी कल्पनाकी जो उड़ान भरता है उसकी सफलता इसीमें है कि इसके सहारे वह ऐसे ही अप्रस्तुत-को लाये कि उससे प्रस्तुतका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव ही झलके। इसी दशामें वर्ण्यके रूपकी सौन्दर्यानुभूति होती है। यथा—

'सतानंद सिष सुनि पायँ परि पहिराई
माल सिय पिय-हिय, सोहत सो भई है।
मानस ते निकसि बिसाल सु तमाल पर
मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है[2]॥'

यहाँ प्रस्तुत 'जयमाल' और अप्रस्तुत 'मराल-पाँति' दोनोंमें वर्ण-सादृश्य ही नहीं, अपितु सौन्दर्यकी भावना भी है।

अतिशयोक्तिकी योजनामें तुलसीने भी यद्यपि अन्य कवियोंकी भाँति दूरकी उड़ान भरी है, परन्तु कहीं भी इसका फल यह नहीं हुआ है कि उनकी अतिशयोक्ति केवल कौतूहलमात्र दिखाकर या पहेली बनकर रह जाती हो और उनके अभिप्रेत वर्ण्यमें उत्कर्ष न लाती हो। अत्यन्तातिशयोक्तिका एक ऐसा उदाहरण लीजिये जो इतनी स्वाभाविकतासे प्रकट किया गया है कि सभी लोग उसे झट पहचान भी नहीं सकते—

१. 'गीतावली' बा० गीत १०६
२. वही, ९४ [४]

'राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाष तुम्हार'[1] ॥'

गोस्वामीजीने 'मानस', 'गीतावली' तथा 'कवितावली'में धनुषके टूटनेपर उसके घोर रवके भयंकरताद्योतनके लिए, अथवा युद्ध-वर्णनके कई प्रसंगोंमें ऐसी सम्बन्धातिशयोक्तिकी योजना की है जो पूर्णतया परम्परागत है। अतः वह भी अस्वाभाविक नहीं लगती, प्रत्युत अपने प्रयुक्त प्रसंगमें विचित्र प्रभविष्णुता लाती है।

विरोधमूलक अलंकारोंकी श्रेणीमें आनेवालोंमेंसे भी दो-चारकी बानगी लीजिये—

विभावनाः—

'बिनुपद चलइ सुनइ बिनुकाना। कर बिनु करम करइ विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी'[2] ॥'

यहाँ कवि निराकार ब्रह्मकी अलौकिकता हृदयंगम करानेके लिए अपनी आलंकारिक रीतिसे कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति बताकर पाठकके हृदयमें ईश्वर-विषयक भावकी विशेष पुष्टि करनेमें समर्थ हुआ है।

विषमः—

'करुना निधानको तो ज्यों-ज्यों तनु छीन भयो।
त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन'[3] ॥'

यह अलंकृत उक्ति रामके हृदयमें सीताके वियोगजनित दुःखाधिक्य और उनके प्रेमाधिक्य दोनों भावोंकी बड़ी ही गम्भीर अनुभूति करानेमें सहायक हो रही है।

असंगतिः—

'जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई'[4] ॥'

---

१. 'मानस' अयो० ३ २. वही, बा० ११७. ५, ६
३. 'गीतावली' सुन्दर० गीत ८
४. मानस' बा० २०३.८

चारों भाइयोंके मनमोहक रूपके विशेष आकर्षणकी अभिव्यञ्जनामें यह असंगति भी योग दे रही है।

विरोधकी ओटमें निष्काम कर्मका यह गूढ़ रहस्य देखिये—

'तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेए सोक समर्पई बिमुख भये अभिराम[1]॥'

यहाँ आशा देवीका विमुख होनेपर भी अभिराम होना विरुद्ध है।

अप्रस्तुतप्रशंसाके सभी भेदोंमेंसे उसके पञ्चम भेद सारूप्य निबन्धनाका, जिसे अन्योक्ति भी कहा जाता है, प्रयोग भी हमारे कविने बड़े मार्मिकतापूर्वक 'दोहावली'के कई दोहोंमें किया है। एक उदाहरण लीजिये—

'तुलसी तोरत तीर तरु, बक हित हंस बिडारि।
बिगत नलिन अलि, मलिन जल, सुरसरिहू बढ़ियारि[2]॥'

यहाँ अप्रस्तुत बाढ़की गंगाका ध्वंसकारी चित्र उपस्थित करके उसके द्वारा कवि इस प्रस्तुतका बोध कराना चाहता है कि बढ़ती होनेपर सज्जन भी इतरा जाते हैं।

वाक्यन्यायमूलक अलंकार यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प तथा समुच्चयके प्रयोग भी गोस्वामीजीने किये हैं। इनमेंसे परिसंख्या तो एक ही प्रसंगमें आया है, पर अन्य सभी सामान्य रूपसे कई प्रसंगोंमें व्यवहृत हुए हैं। इन सबके उदाहरण देखिये—

'मधुर बचन कटु बोलिबो, बिनु स्रम भाग अभाग।
कुहू कुहू कलकंठ रव, काँ काँ कररत काग[3]॥'

इस यथासंख्याके द्वारा कविने मधुर और कर्कश वाणीमेंसे प्रथमका उत्कर्ष और दूसरेका अपकर्ष बड़ी स्वाभाविकतासे हृदयंगम कराया है। अतः अलंकारका प्रयोग सार्थक है।

---

१. 'दोहावली' दो० २५८ २. वही, दो० ४९८

३. वही, दो० ४३६

'दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नरतक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिय अस रामचंद्रके राज[1]॥'

इस परिसंख्याके द्वारा रामराजका सौख्याधिक्य व्यंग्य होनेसे इसमें भी कृत्रिमता नहीं प्रकट होने पाती।

'जितेहु सुरासुर तब स्रम नाहीं।
नर बानर केहि लेखे माहीं[2]॥'

यहाँ काव्यार्थापत्तिसे भीरु और चापलूस मन्त्रियोंका कृत्रिम आश्वासन और उद्‌बोधनका भाव भी भासित होता है।

'की तनुप्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना[3]॥'

रामके वियोगकी आशंकामात्रसे सीताके दुःखाधिक्य-भावकी तीव्र व्यञ्जना भी यह विकल्प बड़ी खूबीसे कर रहा है।

'ग्रहगृहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइअ बारुनी कहहु कवन उपचार[4]॥'

यह समुच्चय कल्पनातीत वेदनाधिक्यकी अनुभूति करानेमें सहायक हो रहा है।

लोकव्यवहारमूलक अलंकार भी कई हैं। उनमेंसे प्रायः सबके सब हमारे कविकी रचनाओंमें प्रयुक्त हुए हैं। स्थानाभाववश दो ही चारके नमूने दिये जाते हैं—

प्रत्यनीकः—

'नहिं चितव जब कपि कोपि तब गहि दसन्ह लातन्ह मारहीं।
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं[5]॥'

---

१. 'मानस' उ० २२

२. वही, सुन्दर० ३६. ९

३. वही, अयो० ५७. ४

४. वही, अयो० १७९

५. वही, लं० ८१

यहाँ रावणकी उपेक्षाको अत्यधिक अपेक्षामें परिणत करनेके लिए ऐसी उत्तेजक घटनाकी अवतारणा की गयी है जो अवश्य ही अपना फल प्रस्तुत करती है।

स्वभावोक्तिः—

'भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि-ओदन लपटाइ[1]॥'

विनोक्तिः—

'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी[2]॥'

तर्कन्यायमूलक अलंकारोंमेंसे भी दो-एकके उदाहरण लीजिये—

काव्यलिंगः—

'ब्यालहु ते बिकराल बड़, ब्यालफेन जिय जानु।
वहि के खाये मरत है, वह खाये बिनु प्रानु[3]॥'

अर्थान्तरन्यासः—

'कारन ते कारज कठिन होइ दोष नहिं मोर।
कुलिस अस्थि ते उपल ते लोह कराल कठोर[4]॥'

शृंखलावैचित्र्यमूलक अलंकारोंकी श्रेणीमें आनेवाले **कारणमाला, एकावली, मालादीपक** तथा **सार**का भी क्रमशः एक-एक उदाहरण देखिये—

'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग[5]॥'

... ...

'काल बिलोकत ईस रुख, भानु काल अनुसारि।
रबिहि राउ, राजहि प्रजा, बुध ब्यवहरहिं बिचारि[6]॥'

१. 'मानस' बा० २०३.
२. वही, बा० २२८. २
३. 'दोहावली' दो० ५०२
४. 'मानस' अयो० १७८.
५. वही, उ० ६१
६. 'दोहावली' दो० ५०४

....

'जग जपु राम राम जपु जेही[1] ॥'

'आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ[2] ॥'

अपह्नवमूलक अलंकारोंमेंसे व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति और मीलित-के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

'धन्य कीस जो निज प्रभु काजा।
जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई।
पतिहित करइ धरम निपुनाई[3] ॥'

'नाँगो फिरै, कहै माँगनो देखि न खाँगो कछू, जनि माँगिए थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै, तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो[4] ॥'

'सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावउँ चंपक होत[5] ॥'

विशेषणवैचित्र्यमूलक समासोक्ति और परिकर अलंकारके सटीक और उपयुक्त प्रयोग भी देखिये—

'बरषि परुष पाहन पयद, पंख करो टुक-टूक।
तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहिं चूक[6] ॥'

'देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं[7] ॥'

अन्तमें अब दो-एक ऐसे उदाहरण लीजिये जो उभयालंकारके दोनों भेद संसृष्टि और संकरके प्रयोगमें इनकी प्रगाढ़ योग्यताके समर्थक हों।

---

१. 'मानस' अयो० २१६.८
२. 'दोहावली' दो० ३५७
३. 'मानस' लं० २३.१,२
४. 'कविता०' उ० छ० १५३
५. 'बरवै०' बा० छ० ६
६. 'दोहावली' दो० २८२
७. 'मानस' अयो० २९.४

निम्नांकित दोहेमें अनुप्रास सदृश शब्दालंकार तथा उत्प्रेक्षा एवं क्रमालंकार सदृश अर्थालंकारकी कैसी सुन्दर संसृष्टि हुई है—

'लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु[1] ॥'

यदि सन्देह संकरकी भूलभुलैयामें रमना हो तो इस अर्द्धालीमें प्रवेश कीजिये—

'सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के।
लोचन नलिन भरे जल सिय के[2] ॥'

यहाँ 'लोचन नलिन' पदमें उपमा और रूपकका सन्देह तो हो जाता ही है, साथ ही अवतरणमें विषमालंकार और अप्रस्तुतप्रशंसाका भी सन्देह हो जाता है, क्योंकि प्रियके मृदु वचनोंको सुनकर दुःख होना, अर्थात् भले उद्योगसे अनिष्ट फल मिलना, यह विषम अलंकार होता है और 'लोचन नलिन भरे जल सिय के' इस वचनसे नेत्रोंमें अश्रु आ जानेके बहाने उसके कारणरूप दुःखका कथन होना कार्यसे कारणका बोधरूप अप्रस्तुतप्रशंसा-अलंकार भी हो सकता है। यहाँ कार्य है—लोचन जल और उसका कारण है—दुःख, तात्पर्य यह कि जहाँ अप्रस्तुत कार्यसे प्रस्तुत कारणका बोध होता है वहीं कार्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।

यहाँ उक्त अलंकारोंमेंसे न तो किसीके खण्डनकी सामग्री है और न मण्डनकी, अतः निश्चयपूर्वक किसी अलंकारका निर्णय नहीं हो सकता।

गोस्वामीजीकी अलंकार-योजनाके इन विविध उदाहरणोंको देखते हुए यह सभी स्वीकार करेंगे कि उन्होंने अलंकारोंका प्रयोग कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शनके लिए नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने इन्हें कहीं भावोत्कर्षका सहयोगी बनाया है तो कहीं वस्तुओंके रूप, गुण, क्रिया आदिकी तीव्र अनुभूतिको सजग करानेका साधन। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है। तुलसीका अलंकार-विधान उनकी साधुतासे अछूता

---

१. 'मानस' अयो० २३८ २. वही, अयो० ६३.१

नहीं रह पाया है। इसीसे उनकी अलंकार-योजना प्रायः उपदेश-समन्वित ही मिलती है।

काव्यके उत्कर्षाधायकोंका प्रसंग समाप्त कर चुकनेपर अब देखना चाहिये कि क्या उसके अपकर्षाधायकोंकी मलिन छाया तुलसीके साधु काव्य-पर रञ्चमात्र भी पड़ी है। काव्यमें दोषोंका परिहार कितना आवश्यक ठहराया गया है, इसे आचार्य दण्डीकी इस उक्तिसे अनुमान कीजिये—

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्[1]॥'

(अर्थात् काव्यमें छोटेसे छोटे दोषकी भी उपेक्षा कदापि न करनी चाहिये। चाहे कितना ही सुन्दर शरीर हो, पर कोढ़के एक छींटेसे भी अभागा बन जाता है।)

काव्यकी सुन्दरता काव्यके अपने सभी गुणोंसे युक्त होनेपर ही अवलम्बित नहीं रहती है, अपितु वह काव्यगत दोषोंसे मुक्त होनेपर भी निर्भर है। विभिन्न आचार्योंने दोषोंकी संख्या भिन्न-भिन्न ठहरायी है। उसके विवेचन या विस्तारसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल उन कुछ दोषोंका संकेत करना है जो हमारे बहुत माथा मारनेपर एकाध प्रसंगोंमें हाथ आये हैं—

'खल प्रबोध, जग सोध, मनको निरोध, कुल सोध।
करहिं ते फोकट पचि मरहिं, सपनेहु सुख न सुबोध[2]॥'

यहाँ पूर्वार्द्धमें यतिभंगदोष है।

न्यूनपदत्वदोषका उदाहण यह लीजिये—

'उत्तम, मध्यम, नीच गति पाहन, सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुँन की बैर बितिक्रम जानि[3]॥'

---

१. 'काव्यादर्श' १:७

२. 'दोहावली' दो० २७४

३. 'दोहावली' दो० ३५२

क्रम-भंगदोष निम्नांकितमें देखिये—

'सास्त्र सुचिंतित पुनिपुनि देखिय। भूप सुसेवित बस नहिंलेखिय॥
राखिय नारि जदपि उरमाहीं। जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं[1]॥'

'मानस'में कहीं-कहीं एक ही अर्द्धाली ज्यौंको त्यौं दो प्रसंगोंमें व्यवहृत हो गयी है, यथा 'सिरधरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥' यह बालकाण्डमें तो आयी ही है[2], अयोध्याकाण्डमें भी है[3]। इसी प्रकार 'धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥' लंकाकाण्डके दो प्रसंगोंमें आयी है[4]। ऐसी ही दो-चार पंक्तियाँ और हैं जो दोहरायी गयी हैं। इसे हम एक प्रकारका अनवीकृतत्व दोष समझते हैं। अस्तु।

गोस्वामीजीके विस्तृत काव्य-सागरमें उक्त दोष एक विन्दुवत् ही तो ठहरते हैं। इन्हींके आधारपर उनके काव्यकी अलौकिक गरिमापर अंगुलि-निर्देश करनेका साहस कोई नहीं कर सकता। क्योंकि—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य,
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोहि दोषो गुणसन्निपाते,
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥'

बाह्य दृश्योंका सूक्ष्मनिरीक्षण और चित्रण

कुशल कलाकारके महत्तम काव्यमें उसका बाह्य जगत्का व्यापकसे व्यापक अनुशीलन सन्निहित ही नहीं रहता, अपितु उसीपर विशेषांशमें उसके अन्तर्जगत्की नींव भी अवलम्बित रहती है। उसका बहिर्जगत् जितना ही विस्तृत होता है उतना ही अन्तर्जगत् विशाल और कल्पनामय। इसीलिए बाह्य दृश्योंका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण काव्यके अपरिहार्य एवं सार्वभौतिक उपकरणोंमेंसे एक है। बाह्य दृश्योंके अन्तर्गत यों

---

१. 'मानस' अरण्य० ३६. ८, ९ २. वही, बा० ७६. २
३. वही, अयो० २११. ३ ४. वही, लं० ७०. ६, १०२. ३

तो हमारी चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रियके विषय होनेवाले विश्वके असंख्य पदार्थोंकी परिगणना की जा सकती है, पर एक स्थूल दृष्टिसे मनुष्यवर्ग, तिर्यग्वर्ग, कृमि-कीटवर्ग, अचेतनवर्ग आदिके शील, स्वभाव, चेष्टा, आकृति, क्रिया, गुण, धर्म प्रभृतिमें जो-जो वैशिष्ट्य कविकी वाणीसे प्रत्यक्ष हो उठता है उससे कविके बाह्य दृश्य-निरीक्षणकी शक्तिका पता भली भाँति चलता है। सामान्यसे सामान्य स्थावर अथवा गत्वर दृश्यका ही, जिन्हें साधारण मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता, कवि इस प्रकार साक्षात्कार किये रहता है कि आवश्यकता पड़नेपर उन्हें मूर्तिमान् ही नहीं कर देता, अपितु उनके सहारे गूढातिगूढ भावनाको भी हृदयंगम करा देता है।

पहले मनुष्यवर्गसे सम्बद्ध बाह्य दृश्यावलोकनके उदाहरण लीजिये। दोलोत्सवके अवसरपर जब सिन्धुरगामिनी सुन्दरियाँ अपने-अपने आभूषणों और कुसुम्भी साड़ियोंको धारण करके एकत्र होती, कलकण्ठसे गान करती और झूलने-झुलानेका आनन्द मनाती हैं तो उस समयका दृश्य बड़ा ही मनोज्ञ होता है। ऐसे दृश्यको कविने कितनी बारीकी और सहृदयतासे देखा था, इसका आभास निम्नांकित पंक्तियाँ देती हैं—

'बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधरब किन्नर लाजहीं।
अति मचत, छूटत कुटिल कच, छबि अधिक सुंदरि पावहीं।
पट उड़त, भूषन खसत, हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं[1]॥'

अन्तिम दोनों पंक्तियाँ किस प्रकार हमारे सामने झूला झूलनेवाली रमणियोंका साक्षात् दृश्य-सा उपस्थित कर रही हैं।

गृहीको जब अपने यहाँ किसी महान् पाहुनके आगमनकी सूचना रहती है तो उसकी अतिथिसे मिलने और उसका स्वागत करनेकी बलवती उत्कण्ठा उसे बार-बार पाहुनके मार्गकी ओर देखनेके लिए विवश करती है। हमारे कविने इस दशाका सजीव चित्र उपस्थित किया है। शबरीको विदित है कि राम-लक्ष्मण मेरे आश्रमपर पदार्पण करनेवाले हैं। अतः

१. 'गीतावली' उ० गीत १९. [४]

उनके स्वागतार्थ उत्तमोत्तम कन्द, मूल, फलका आयोजन कर चुकनेके उपरान्त मानवस्वभावानुकूल लोल होकर—

'छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै[१]।'

अवतारित पंक्ति यद्यपि कविकी अन्तर्वृत्तिकी सूक्ष्म पहचान भी प्रकट कर रही है, पर हम इसमें सूक्ष्म निरीक्षणका ही संकेत करना चाहते हैं। दूरस्थ दृश्यको प्रायः जब लोग देखना चाहते हैं तो हाथ स्वभावतः भौंहों-पर चला जाता है।

यों तो हम प्रायः सभीको हँसते या मुस्कराते देखा करते हैं, पर कभी-कभी ऐसी हँसी हँसना पड़ती है जो अर्न्तहास या गूढ़ हास कहलाती है। कविने इसका अवसर खूब पहचाना है। देखिये —

'स्त्रीपति, सुरपति, बिबुध, बात सब सुनि सुनि।
हँसहिं कमल कर जोरि, मोरि मुख पुनि पुनि[२]॥'

धनुर्धर जब किसी वेध्यपर बाण छोड़ना चाहता है तो पहले वह भौंह सिकोड़कर निशाना साधता है, तदुपरान्त विशिख-सञ्चालन करता है। ऐसी चेष्टाके निरीक्षण और अंकनका दृश्य लीजिये—

'सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।'

... ...

जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौहैं तकति सुभौंह सकोरे[३]॥

किसी अनघ और निर्दोष व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई असम्भावित प्रवाद सुनकर तत्काल ही निर्णय प्रकट कर देना और ऐसा करते समय हाथोंसे कान बन्द कर दाँतोंसे जीभ दबाना साधारण अनुभाव है जो प्रायः लोग किया करते हैं। इस नाट्यमय प्रवृत्तिको भी देखिये—

---

१. 'गीतावली' अरण्य० गीत १७. ३

२. 'पार्वतीमंगल' छ० ६८

३. 'गीतावली' अरण्य० गीत २

'कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा[१]॥'

प्रायः देखा जाता है कि जब कोई विषण्ण व्यक्ति कहीं बैठता है तो उसका उदास मुख स्वभावतः नमित ही रहता है और वह अपने पदतलकी भूमि नखसे खरोचता रहता है। विमनस्ककी ऐसी ही आकृति और क्रियाका चित्रण देखिये—

'बैठि नमित मुख सोचति सीता।
....
चारु चरन नख लेखति धरनी...[२]।'

दलदलमें फँसा हुआ व्यक्ति आगेकी ओर हुमककर कैसे जोर मारता है, इसे वही समझ सकता है जो स्वयं कभी दलदलमें फँसा हो अथवा जिसकी पैनी दृष्टिने उसमें फँसे हुए व्यक्तिको निकलनेका प्रयास करते हुए देखा हो। हमारे कविके सूक्ष्म निरीक्षणमें यह दृश्य अवश्य आ चुका था। तभी तो उसने इसके दृष्टान्त द्वारा शीलनिधि भरतके हृदयके संकोच और प्रेमके परस्पर संघर्षको दृष्टिगोचर-सा कर दिया है—

'मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम बल धीर[३]॥'

तिर्यग्वर्गके पशु-पक्षियोंमें भी सहज प्रवृत्ति होती है, उनकी भी कुछ निजी चेष्टाएँ हुआ करती हैं। अनेकदा हमारी दृष्टि इसपर पड़ती है कि पशु चौकन्ने होनेपर कनौटी बदलते हुए विस्मय-सूचक दृष्टिसे देखते हैं। उनकी इस क्रियाका कविने सूक्ष्म निरीक्षण किया था, इसीलिए घोड़ेका आरव पाकर चकित होनेवाले शूकरका यह चित्र दिखाया है—

'घुरघुरात हय आरव पाये। चकित बिलोकत कान उठाये[४]॥'

---

१. 'मानस' अयो० ४७. ७
२. वही, अयो० ५७. २, ५
३. 'गीतावली' अयो० गीत ६९ [३]
४. 'मानस' बा० १५५. ८

बन्दर प्रसन्न होनेपर कैसा नाट्य करता है और उसकी मुखाकृतिमें कैसी भंगियाँ होती हैं, इस दृश्यका यदि तुलसीने सूक्ष्म निरीक्षण न किया होता तो वे ऐसा सजीव चित्रण न करते—

'कूदैं कपि कौतुकी, नचत रेत रेत हैं ।
अंगद, मयंद, नल, नील बल सील महा,
बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं[१] ॥'

भेड़ें स्वभावतः भीरु होती हैं। उनके झुण्डपर जब भेड़िया टूटता है तो सबकी सब जी छोडकर भागती हैं। हमारे कविकी तीक्ष्ण दृष्टि कभी ऐसे दृश्यपर भी पड़ी थी तभी तो उसने इसका अच्छे ढंगसे उपयोग किया है—

'भागे भालु बलीमुख जूथा। बृकु बिलोकि जिमि मेष बरूथा[२] ॥'

बन्दरका यह स्वभाव होता है कि केवाँचकी लताको देखते ही वह उसे नोच-नोचकर फेंक देता है। गोस्वामीजीको यह मर्म भली भाँति अवगत था। इसको वे वेदनाकी दशामें भी नहीं भूले हैं—

'बाहु तरुमूल, बाहु सूल कपि कच्छु बेलि,
उपजी, सकेलि, कपि, खेल ही उखारिए[३] ।'

कछुआ जलसे पृथक् दूरकी बालूमें दिये हुए अपने अण्डोंकी चिन्तामें निरन्तर निरत रहता है, इसपर हमारे कविकी दृष्टि गयी थी। इसके द्वारा उसने कितनी सफाईसे स्पष्ट किया है कि राम भरतका कितना ध्यान रखते थे—

'रामहिं बंधु सोच दिन राती।
अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँति[४] ॥'

जलके सम धरातलपर भी जोंक स्वभावतः अपनी वक्र गतिसे ही चलती है। कविका यह निरीक्षण इस पंक्तिसे प्रकट होता है—

---

१. कवितावली' सुन्दर० छ० २९ २. 'मानस' लं० ६९. १
३. 'बाहुक' छन्द २४ ४. 'मानस' अयो० ६. ८

'चलइ जोंक जिमि बक्र गति जद्यपि सलिल समान[१]।'

मछलियाँ तो जल-प्रवाहके सम्मुख भी सहजमें ही ऊपरको चढ़ती चली जाती हैं, पर बड़े-बड़े गजराज भी बहते दिखाई पड़ते हैं। इस दृश्यके सूक्ष्म निरीक्षणके बलपर यह कैसी पतेकी बात कही गयी है—

'जो जेहि कला कुसल ताकहुँ सो सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख चल प्रबाह, सुरसरी बहै गज भारी[२]॥'

वधिकके किसी भुलावेमें पड़ जानेपर उसके हाथमें आया हुआ सन्त्रस्त पक्षी किस प्रकार अचानक छूटकर फुर्र हो जाता है, इस दृश्यका कभी निरीक्षण किये रहनेपर ही ऐसी सूझ हो सकती है—

'तुलसी सुनि सिष चले चकित चित,
उड्यो मानो बिहग बधिक भये भोरे[३]।'

काक चालाक तो बहुत होता है, पर साथ ही शंकित और डरपोक भी होता है। वह हर एकसे डरता रहता है। उसके ऐसे स्वभावको लक्ष्य करके ही ऐसा कथन किया गया है—

'सत्य बचन बिस्वास न करहीं।
बायस इव सब ही ते डरहीं[४]॥'

टिटहरी—पक्षिविशेष—जो प्रायः जलाशयोंके किनारे रहती है, सदा पैर ऊपर उठाकर सोती है। इस विचारसे कि जब आसमान मुझपर टूट पड़ेगा तो उसे अपने पैरोंपर रोक लूँगी—ऐसी लोगोंकी कल्पना है। इस बातको लेकर ही कविने यह पंक्ति रची होगी—

'उमा रावनहिं अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना[५]॥'

---

१. 'मानस' अयो० ४२.

२. 'विनय०' पद १६७

३. 'गीतावली' अयो० गीत ११ [४]

४. 'मानस' उ० १११. १४

५. 'मानस' उ० १११.१४

पक्षी हर्ष प्रकट करनेके लिए पंख फुलाया करता है। उसके इस स्वभावको तुलसीने भी देखा था। देखिये, गरुड़को हर्षित होनेपर कैसी मुद्रामें दिखाया गया है—

'सुनि भुंसुंडि के बचन सुहाये। हरखित खगपति पंख फुलाये[1]॥'

भ्रमर, शुक, पिक, सारस, हंस, मोर, चकोर, चकवा, चातक, खञ्जन आदिके स्वभावका चित्रण तो काव्य-परम्परासे प्राप्त है अतः इनके उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं।

कच्चे पोखरे, ताल, तलैया अथवा नदीके किनारोंपर जमी घासका तुलसीने कैसा सूक्ष्म निरीक्षण किया था, यह भी अवलोकनीय है—

'तुलसी तृन जल कूलको निरबल निपट निकाज।
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहेकी लाज[2]।'

दोहेके द्वितीय चरणमें तृणको 'निरबल निपट निकाज' बताकर कविने अपने सूक्ष्म निरीक्षणका मूल्य और भी बढ़ा दिया है। वस्तुतः जलसे सदा आर्द्र रहनेके कारण वह निर्बल रहता ही है। उसके एक ओर पानी होनेसे जानवर उसे चरने भी नहीं जाते, अतः वह निकाज-सा ही प्रतीत होता है। तृणको महत्त्व देनेवाला जो निरीक्षण तृतीय चरणमें है वह भी बड़ा ही स्वाभाविक है। कितने ही डूबतोंको तिनकोंका सहारा मिलता है। पर, अभागोंके साथ बेचारा तिनका स्वयं उखड़कर बह जाता है।

वनस्पतिवर्गान्तर्गत नन्दनवनके कल्पतरु अथवा इस लोकके विविध कमल, कनक, कदली, कदम्ब, केतकी, किंसुक, कुन्द, सिरिस, दाड़िम, श्रीफल, पाटल, पनस, रसाल, तमाल, मलय आदि सभी पारम्परिक उपमानोंके प्रयोगोंको देख इनसे हम अपने कविका सूक्ष्म निरीक्षण न भी मानें तो कोई अनुचित नहीं, पर, अर्क, जवास, निम्ब, गूलर, इमलीका चीयाँ, सूखता हुआ धान, कुश, कण्टक, छत्रकदण्ड—कुकुरमुत्ता, घमोई

१. 'मानस' उ० ९२.१
२. 'दोहावली' दो० ५४४

प्रभृति अति सामान्य वस्तुओंकी विशेषताओंको लक्ष्य करके उनसे जो काम लिया गया है उससे कविका सूक्ष्म निरीक्षण ही प्रकट होता है।

कृमि-कीट आदिका सूक्ष्म निरीक्षण भी तुलसीकी दृष्टिसे नहीं बचा था। यही कारण है कि उनके ज्ञानके बलपर भी उन्होंने अनेकानेक सुन्दर बातें कही हैं। लकड़ीको भीतर ही भीतर चालकर खोखला बना देनेवाले घुनको लेकर यह कैसी उक्ति की गयी है—

'कीट मनोरथ दारु सरीरा। केहि न लाग घुन को अस धीरा[1]॥'

गोस्वामीजी रेशमके कीड़ेसे भी अवगत थे। उन्होंने उसके पालनेसे जो तथ्य ग्रहण किया है वह भी देखिये—

'पाट कीट ते होइ, ताते पाटंबर रुचिर।
कृमि पालै सब कोइ, परम अपावन प्रान सम[2]॥'

चींटीके स्वभावका ज्ञान होनेके कारण उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण बात कही है वह भी उद्धरणीय है—

'ज्यों सर्करा मिलै सिकता महुँ बल तें न कोउ बिलगावै।
अति सूछम रसज्ञ पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै[3]॥'

अब अचेतन-वर्गके कुछ उदाहरणोंको लीजिये जिनका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण भी स्तुत्य है। छोटे-छोटे गड्ढे अथवा जलाशयोंका जल सूख जानेपर नीचेका कीचड़ गर्मीके मारे थोड़े ही दिनोंमें अपनी तरी खोकर चिरचिराकर फट जाया करता है। ऐसे दृश्यके निरीक्षणसे तुलसीके हृदयमें कैसा मार्मिक विचार स्फुरित हुआ उसे देखिये—

'हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर[4]।'

मार्गका जल पथिकोंके पैरोंकी छपाछपसे बराबर अस्त-व्यस्त होता रहता है, कभी थिराने नहीं पाता, फलतः गँदला ही बना रहता है। ऐसे मलिन

---

१. 'मानस' उ० ७०. ५ २. 'दोहावली' दो० २७०

३. 'विनय०' पद १६७

४. 'मानस' अयो० १४५.

जलका दृश्य भी हमारे कविके सूक्ष्म निरीक्षणसे नहीं छूटा, उसने उसका भी यह सुन्दर उपयोग किया है—

'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने।
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने[१]॥'

अब पतंगकी कला भी देखिये। वायुके अनुकूल रहने अथवा वायुके बिलकुल न रहनेपर चंगकी क्या दशा होती है, इन सबका भी तुलसीने सूक्ष्म निरीक्षण किया था, जैसा कि निम्नांकित अवतरणोंसे अवगत होता है —

'रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू[२]॥'

... ...

'नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास।
ढीलि दिये गिरि परत महि, खैंचत चढ़त अकास[३]॥'

... ...

'भरत गति लखि मात सब रहि ज्यों गुड़ी बिनु बाय[४]।'

नौका जब डूबने लगती है तो उसके चारों तरफका जल स्वयं बड़ी तेजीसे खिंचकर उसमें भर जाता है और वह नदीके गम्भीर उदरमें विलीन हो जाती है। ऐसे दृश्यका सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे ही कविने यह बात कही है—

'सत्रु सयाने सलिल ज्यों, राख सीस रिपु नाउ।
बूड़त लखि पग डगत लखि, चपरि चहूँ दिसि धाउ[५]॥'

परछाहींका निरीक्षण किये रहनेके कारण कविके हृदयमें वैभवके सम्बन्धमें यह कैसा शिक्षा-प्रद भाव उठा है—

'दिये पीठ पाछे लगै, सनमुख होत पराय।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाय[६]॥'

---

१. 'विनय०' पद २३५ २. 'मानस' अयो० २३८. ६
३. 'दोहावली' दो० ४०१ ४. 'गीतावली' लं० गीत १४
५. 'दोहावली' दो० ५२० ६. 'दोहावली' दो० २५७

लूतातन्तु जैसे निकम्मे पदार्थके निरीक्षणको भी तुलसीने व्यर्थ नहीं जाने दिया। उन्होंने उसे भी एक उपयुक्त उपमानके रूपमें जड़ दिया है। देखिये—

"संकट सोच सबै तुलसी लिये नाम फटे मकरी के-से जाले[1]।'

आगपर रखे हुए दूधमें जब आँच अधिक लग जाती है तो उसमें उफान आता है, पर ज्यों ही पानीका छींटा दिया जाता है त्यों ही वह शान्त हो जाता है। इस दृश्यके सहारे गोस्वामीजीने सीताके हृदयकी बड़ी ही मार्मिक दशाका चित्र उतारा है—

'दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी, सुखी सुत-सुख पाइ।
आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ[2]॥'

रजनीमें जब आकाशसे तारा टूटकर गिरने लगता है तो प्रकाशकी एक रेखा-सी खिंचती है जो पृथ्वीपर आते-आते क्रमशः क्षीण पड़ती हुई विलीन हो जाती है। तुलसीने इस दृश्यके द्वारा जो हृदय-स्पर्शी कल्पना की है अन्तमें उसे भी देखिये—

'राम सोक सनेह संकुल तनु बिकल मनु लीन।
टूटो तारो गगन मग ज्यों होत छिन-छिन छीन[3]॥'

आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनूठी पहचान

कवि जैसे दृष्टिगोचर प्रकृतिकी असंख्य लीलाओं और व्यापारोंकी अनन्त राशिका अपने सूक्ष्म निरीक्षणके बलपर चित्रण करके अमित आनन्द प्रदान करता है, वैसे ही वह अपनी अप्रतिम काव्यानुभूतिके सहारे हृदय-सिन्धुमें तरंगित वृत्तियोंकी अनन्त ऊर्मियोंकी छटा दिखाकर भी अलौकिक रसास्वादन कराता है। जिस कविको भिन्न-भिन्न स्वभावों और रुचियोंका जितना ही प्रशस्त ज्ञान होता है वह अन्तर्जगत्‌का उतना ही बड़ा मर्मज्ञ

१. 'बाहुक' छ० १७ २. 'गीतावली' उ० गीत ३६
३. वही, अयो० गीत ५८ [२]

होता है। कैसे अवसपर कैसे प्राणीके मनमें कैसी बात उपजती है, इसे वह स्वच्छ दर्पणकी भाँति झलका देता है, अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी अनुभूति कराता है और शब्दोंके द्वारा उनका प्रकाशन करता है। गोस्वामीजीका समस्त काव्य उनकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अद्वितीय और व्यापक अनुभूतिसे वैसे ही अनुप्राणित है जैसे अंग्रेजीके महाकवि शेक्सपियरकी कृतियाँ उसके गम्भीर और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगत्की अनुभूतिसे।

आगे हम कुछ ऐसे प्रसंगोंका निर्देश करना चाहते हैं जो हमारे कवि-की मानव-प्रकृतिकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिको प्रकाशित करनेमें सहायक हों। गोस्वामीजीने मन्थरा और कैकेयीका जो संवाद दिखाया है वह उनके मानव-मनोवृत्तिके ज्ञानकी एक किरण है। उसमें बड़ी मार्मि-कतासे परिलक्षित किया गया है कि प्रवञ्चना और धूर्तताके बलपर कोई कुटिल व्यक्ति अपनेपर विश्वास रखनेवाले सरल प्रकृतिके प्राणीके उदात्त विचारोंको दबानेका आग्रह कैसे करता है और कैसे उसे मनुष्यकी प्रकृति-गत निर्बलताओंके आवर्तमें फँसा, थोड़ी देरतक किंकर्तव्यविमूढ़की स्थितिमें पहुँचाकर उसपर अपनी कुटिल नीतिका ऐसा गाढ़ा रंग चढ़ा देता है कि उसका मिटना असम्भव हो जाता है। कुटिल दासीने देखा कि नगरमें उल्लास छाया हुआ है। रामकी युवराज-पद-प्राप्तिके लिए धूम मची है। उसका हृदय क्षुब्ध हो उठा। वह बिलखती हुई मुँह बनाकर कैकेयीके पास गयी। रानीने उसकी अन्यमनस्कताका कारण पूछा। पर, चेरीने पहले सीधे उत्तर न देकर 'नारि चरित करि ढारइ आँसू'का नाटक किया और अन्तमें व्यंग्य किया।

'रामहिं छाड़ि कुसल केहि आजू। जिन्हहिं जनेस देइ जुवराजू॥'

मन्थराकी ऐसी उक्तिमें उसके हृदयका कालुष्य देख रानीने उसे 'घरफोरी' कहते हुए 'जीभ कढ़ावउँ तोरी' आदिकी धमकी दी। दासी विश्वासपात्र थी, उसे डाँटने-फटकारनेके बाद भी उसके आशय जाननेकी उत्कण्ठा रानीमें बनी ही रही। प्रायः मनुष्यका ऐसा स्वभाव है कि जब

वह अपने किसी विश्वासपात्र पुराने सेवकपर किसी कारणसे बिगड़ता है और सेवक बिना कुछ उत्तर दिये ही सिर नीचा करके बहुत दुःखी हो जाता है तो बादमें स्वामी सेवकका मन रखनेके लिए उसे प्रेमपूर्वक चुमकारकर उसकी गलतीको समझाता भी है। रानीने क्रुद्ध होकर मन्थराको खरी-खोटी सुना दी। वह भयभीत होकर स्तब्ध हो गयी। फिर तो उसका जी न दुखाने और उसे समझानेके लिए रानीको कहना पड़ा—

'प्रिय बादिनि सिख दीन्हेउँ तोही। सपनेहु तोपर कोप न मोही॥'

इसके अनन्तर उसे प्रेमपूर्वक 'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सदाई॥' बताते हुए राम और सीताके प्रति अपना सहज अनुराग भी प्रकट किया—

'जो बिधि देहि जनम करि छोहू। मिलहिं राम सिय पूत पतोहू॥
प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे। तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे॥'

ऐसा समझा चुकनेके बाद भी रानीके हृदमें दासीका गूढ़ अभिप्राय जाननेकी लालसा तो बनी ही रही। दासीको चुप देख उसके हृदयमें उद्वेग-सा हो उठा और उसे कहना पड़ा—

'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमय करसि कारन मोहि सुनाउ॥'

कथनमें 'भरत सपथ' पद उभय पक्षके लिए कितना व्यञ्जक और कितना उपोद्बलक है, इसको व्यक्त करनेकी आवश्यकता नहीं। रानीको दासीके विषादका कारण कुछ और ही समझ पड़ा अतः वह और भी उतावली हो गयी। अवसर तककर दासीने रानीके सरल हृदयमें धीरे-धीरे अपनी विलक्षण वाक्चातुरीसे नारीके हृदयमें शीघ्र उत्पन्न होनेवाली शंकाका बीज बो दिया। फिर क्या था। संशयसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा विश्वासघाती नहीं। जब संशयके समय महान् विवेकशीलोंका विवेक उनका साथ छोड़ देता है तो बेचारी रानी क्या करती। मन्थराके तर्कों और दृष्टान्तोंके पुष्टीकरणके आधारपर उसका संशय उत्तरोत्तर बढ़ता

ही गया और अन्तमें उसे यही विश्वास हो गया कि सपत्नी कौसल्याने उसकी जड़ खोदनेके लिए ही सब कुचक्र रचा है। इस विचारके दृढ़ हो जानेपर उसे दासीके द्वारा सुझायी युक्ति ही अति हितकर समझ पड़ी। उसके प्रति अपनी बड़ी ममता और कृतज्ञता प्रकट की—

'कुबरिहि रानि प्रान प्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥
तुम सम हितु न मोर संसारा। बहे जात कहँ भइसि अधारा॥'

संवादके आरम्भमें रानीके क्या विचार थे और अन्तमें क्या हो गये। इतने बड़े परिवर्तनको स्त्री जातिकी मानसिक दुर्बलताओंके सहारे जैसी स्वाभाविक रीतिसे उपस्थित किया गया उसे देख कौन नहीं स्वीकार करेगा कि तुलसीको आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूति थी और उसे वे सफलतापूर्वक मूर्त रूप दे सकते थे।

उनके मानव-प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणका एक बहुत छोटा-सा उदाहरण यह भी लीजिये—

'जब सिय कानन देखि डेराई। कहेउ मोर सिख अवसर पाई॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू। पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू॥
पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥'

अवतरणकी प्रथम पंक्तिसे प्रकट है कि कवि मनुष्यकी इस स्वभावगत दुर्बलतासे भी भली भाँति परिचित है कि प्रत्यक्ष भयके उपस्थित होनेपर वह अपना कोई हठ छोड़कर किसीकी ऐसी बात मान भी लेता है जिसे सामान्य स्थितिमें वह कदापि न मानता।

बड़े और प्रतिष्ठित धनी-मानी लोगोंको हम प्रायः देखते हैं कि वे चिथड़ोंसे लाज ढँकनेवाले वित्तहीनोंसे कोई सम्बन्ध रखनेमें अपना अपमान समझते हैं, यहाँतक कि उनसे बात-चीत करनेमें भी छोटाईका अनुभव करते हैं। पर, यदि वे अपनी ऐसी मनोवृत्तिका त्याग करें तो उसका बड़ा ही सुन्दर परिणाम हो, उनके कृपा-कटाक्षसे अनाथ तो सनाथ हो ही जाय, उन्हें भी 'अनाथपति' कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त हो। इसी स्वाभाविक बातको गोस्वामीजी रामके प्रति संकेत करते हुए कहते हैं—

'हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुम्हहूँ अनाथ पति,
जौं लघुतहि न भितैहौं।'

'लघुतहि न भितैहौं' पद उक्तिवैचित्र्यका द्योतक तो है ही, पर उससे भी बढ़कर कविकी अन्तर्दृष्टिका निदर्शन है।

मनुष्यकी यह सामान्य प्रकृति है कि जब वह किसी कदाचारकी ओर पाँव रखने लगता है तो उसकी धुकधुकी बढ़ जाती है। वह सन्त्रस्त और शंकित हो उठता है कि कोई देख न ले। उसकी आँखें झट इधर-उधर दौड़कर जाँच भी कर लेना चाहती हैं कि कहीं कोई आता तो नहीं है। ऐसी ही मनोवृत्तिकी अनुभूतिके कारण गोस्वामीजीने महापराक्रमी रावणको भी इस स्वाभाविक स्थितिमें दिखाया। जिसे देख विश्व काँपता था वही कुकर्म करनेके लिए उतारू होनेपर स्वयं काँप उठा—

'जाके डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितै चला भड़िहाईं॥'

नारी हो या नर, उसकी यह सहज प्रकृति है कि वह अपने नयनाभिराम, मनस्तोषदायक व्यक्तिके मिलनेपर उसे अधिक देरतक अपनी आँखोंके सामने रखना और उसके सान्निध्यका सुख पाना चाहता है। तुलसीने इस मनोवृत्तिकी सैकड़ों प्रसंगोंमें व्यापकसे व्यापक और मार्मिकसे मार्मिक अभिव्यक्ति की है। विश्व-विलोचन-चोर राम जिधर ही दिखाई पड़े हैं उधर ही तो उन्होंने बालक, स्त्री, पुरुष सभीकी उक्त मनोवृत्तिको थहाकर रख दिया है।

विविध पारिवारिकोंके आदर्शोद्घाटनके हेतु गोस्वामीजीने जो मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं उन सबमें उनकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अद्वितीय अनुभूति और उनका सजीव प्रकाशन वर्तमान है।

पात्रोंके चरित्रांकन और शीलनिरूपणमें स्वाभाविकताकी रक्षा करते हुए भी उसे कवित्वकी पीयूषधारासे अभिषिक्त करते रहना मामूली बात नहीं। इसमें वही महाकवि सफल होता है जो मनुष्यके अन्तर्जगत्के

अति सामान्यसे लेकर गूढ़ातिगूढ़ भावों और विचारोंतककी अनुभूति किये रहता है। तुलसीके द्वारा किये गये चरित्रांकन किस कोटिके हैं, इसका निर्देश बहुतोंने कर दिया है, अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है। हाँ, उसके आधारपर हमें संकेत करना यह है कि यदि उन्होंने आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी सूक्ष्म अनुभूति न की होती तो वे पात्रोंके चरित्रांकनमें उच्च कोटिकी सफलता कदापि न पाते।

कुछ सामान्य मनोवृत्तियोंका विश्लेषण करते हुए दो-चार प्रसंगोंका निर्देश करके उसके आधारपर तुलसीकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूति दिखानेका प्रयास यहीं समाप्त न करके आगे हम उसे एक दूसरे ढंगसे भी देखना चाहते हैं।

पार्थिव जगत्की भाँति हमारे मानसिक जगत्का क्षेत्र भी अति विस्तृत है। हमारी आभ्यन्तरिक वृत्तियाँ अनेक तो हैं ही, उनका पारस्परिक मिश्रण होनेके कारण वे एक प्रकारसे असंख्य हो जाती हैं। परिस्थिति विशेष और अवसर-विशेषकी उपस्थितिमें ये आन्तरिक वृत्तियाँ विशेष प्रकारका रूप धारण किया करती हैं। इन आन्तरिक वृत्तियोंका वेग इतना प्रबल हुआ करता है कि स्वतः अपनी ही किसी वृत्तिका किस परिस्थिति और किस अवसरपर कैसा स्वरूप हो जायगा, इसका पता अच्छे-अच्छे और समाजमें अनुकरणीय माने जानेवाले महाशयोंतकको नहीं चलता। फिर, किसी दूसरेके हृदयमें उठनेवाली ऐसी ही वृत्तियोंका ठीक-ठीक अनुभव कर लेना और भी दुष्कर है। यदि अपनी प्रकृति और स्थितिसे सादृश्य रखनेवाला कोई व्यक्ति हो तो कदाचित् उसकी वृत्तियोंका थोड़ा-बहुत सटीक अनुभव किया भी जा सकता है। जिन कठिनाइयोंका सामना किसीको नहीं करना पड़ा है, यदि उन कठिनाइयोंके बीचमें उठनेवाली वृत्तियोंका निरूपण करना हो तो भी विशेष उलझन खड़ी हो जाती है, चाहे वे कठिनाइयाँ किसी समानशीलव्यसनकी ही क्यों न हों। बड़े-बड़े प्रतिभाशालियोंमें ही ऐसी विशेषता दिखाई देती है कि वे सब प्रकारके व्यक्तियों, सब प्रकारके अवसरों तथा सब प्रकारकी परिस्थितियोंका यथावत्

अनुभव कर लेते हैं। महात्मा तुलसीदासजीमें आन्तरिक वृत्तियोंके अनुभवकी ऐसी विशेषता दिखाई देती है और विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तियों और अवसरोंका ऐसा तद्रूप निरूपण उन्होंने किया है कि उन-उन कठिनाइयोंका सामना करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस बातका अनुभव करता है कि कविकी बात बावन तोला पाव रत्ती सही है। सब बातोंपर विचार करनेसे निष्कर्षके रूपमें यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः किसी कविके लिए आभ्यन्तरिक निरूपण इन स्थितियोंमें विशेष कठिन होगा—

१. अपने स्वभावसे विपरीत प्रकृतिके व्यक्तिकी आभ्यन्तरिक वृत्तिका अनुभव।

२. अपनी जाति(सेक्स)से भिन्न व्यक्तिकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनुभूति।

३. अपनी स्थितिसे भिन्न स्थितिके व्यक्तिके मानसिक आन्दोलनका अनुभव।

४. उन परिस्थितियोंमें होनेवाली अन्तर्वृत्तियोंका अनुभव जिनके साक्षात्कारका अवसर उसे प्राप्त नहीं हुआ हो।

जहाँतक पता चला है गोस्वामीजी दुष्ट प्रकृतिके व्यक्ति नहीं थे, फिर भी उन्होंने ऐसी प्रकृतिवालोंकी मानसिक वृत्तियोंका तद्वत् निरूपण किया है[1]। ध्यान देनेकी बात यह है कि ऐसे व्यक्तियोंकी मानसिक स्थिति का भी, जो प्रसंग-प्रसंगपर विविध रूपोंमें परिलक्षित होती है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण वे कर सके हैं।

पुरुष होते हुए तिरिया चरित्तरका जान लेना बहुत कठिन है। देव-तक उसे नहीं जानता। पर 'तिय माया तव कुबरी ठानी'का यथावत् वर्णन इसका अपवाद है। मानसमें नारीवर्गके अनेक प्रकारके निदर्शन हैं।

१. आगे उनके लोकव्यवहार-नैपुण्यके सम्बन्धमें विचार करनेके प्रसंगमें भली भाँति दिखाया जायेगा कि उन्हें खल-प्रकृतिका कितना गहरा अनुभव था।

यह अनेकता उनकी अन्तर्वृत्तियोंके सूक्ष्म भेदके कारण है, जो छायामात्र अतएव दुरुह हैं। पर, तुलसीके मानस-दर्पणमें उसका भी स्वच्छ प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। प्रस्तुत प्रबन्धमें ऐसे कई प्रसंग आ चुके हैं जिनसे कविकी नारी-प्रकृतिकी अद्वितीय अनुभूति अभिव्यक्त होती है, अतः यहाँ और उदाहरण देनेकी अपेक्षा नहीं।

मंगन-कुलमें उत्पन्न होनेवाला राजसी मनोवृत्तिका अनुभव क्या करेगा, राजसी ठाट बाटकी भी कल्पना नहीं कर सकता। इसीलिए कुछ लोगोंने जानकीके प्रति कौसल्याके 'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ' इस कथनमें तुलसीकी अनभिज्ञता देखी। यद्यपि इस बातका विस्तारके साथ विवेचन करनेका प्रसंग नहीं है, पर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि मानव-जीवनके ऊँचे-नीचे अनेक स्तरोंमें भी एक सामान्य भाव-धारा सदैव स्यंदमान रहा करती है जो उच्चावच परिस्थितियोंमें संयमीके हृदयसे भी फूट पड़ती है। कौसल्या यहाँ अपने अग्रमहिषीत्वका त्याग करके सामान्य नारी-हृदय लेकर उपस्थित हुई हैं। अतः यह तुलसीका दोष नहीं, गुण है। अयोध्याकाण्डके मध्य भागमें राजन्यवर्गकी मनोवृत्तियोंका जो यथातथ्य चित्रण है उसे देखकर कौन कह सकता है कि कविमें उस वर्गकी मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूति नहीं थी। यह वह प्रसंग है जिसे 'मानस'-मर्मज्ञ संतोंके बूझनेकी बात समझते हैं।

यों तो यह निर्णय करना विशेष कठिन है कि गोस्वामीजीकी आँखों देखी परिस्थितियाँ कौन-कौन सी हैं, पर जो देखी हुई नहीं थीं उनका अनुमान किया जा सकता है। लड़ाईके प्रसंगोंको देखनेका अवसर उन्हें कदाचित् ही मिला होगा। यह कहा जा सकता है कि उनके ऐसे वर्णन पारम्परिक हैं, पर यदि इन वर्णनोंमें परम्पराके नियमोंके अनुमोदनके साथ ही यत्र-तत्र नूतन विधानका समावेश भी दृष्टिगत हो तो हमें अवश्य स्वीकार करना होगा कि उन्होंने परिस्थितियोंका कल्पनासे साक्षात्कार किया है।

यह हम स्वीकार करते हैं कि तुलसीमें 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' निपुणता भी प्रभूत परिमाणमें थी, पर बातोंकी जानकारी दूसरी वस्तु है

और परिस्थितिगत मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूति दूसरी। यों बहुश्रुत व्यक्ति विविध प्रसंगोंके अनुरूप बातें तो बहुत-सी बना सकता है, पर अपनी रचनाके पाठकोंके हृदयमें तद्वत् अनुभूति जगानेमें क्वचित् ही समर्थ हो सकेगा। कहना यह है कि कविका मुख्य कर्तव्य अपनी अनुभूतियोंको इस प्रकार व्यक्त करना है कि वे प्रसंगानुकूल और सच्ची उतर सकें। जहाँतक मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूतिका विचार है, गोस्वामीजीने बहुश्रुततासे काम न लेकर अपनी जन-जन-व्यापिनी कवि-प्रतिभाका ही विशेष सहारा लिया है।

लोकव्यवहार-नैपुण्य और सद्ग्राहिता

कलाकारकी कृतियोंमें सन्निविष्ट प्रपंचासक्तिका विश्लेषण करना भी समीक्षकका प्रधान कर्म है, क्योंकि लोकव्यवहार-नैपुण्य भी काव्यका प्रमुख साधन है। प्रगाढ़ अनुभवशील कलाकारकी मानव-प्रकृतिकी अद्वितीय परख और ठोस दुनियादारी-अभिव्यञ्जक कृतियाँ किसे नहीं मुग्ध करतीं? विशेषतः प्रपञ्चासक्तोंको तो ऐसी कृतियाँ बड़े उपकारकके रूपमें दिखाई पड़ती हैं। तटस्थ कलाकारकी रचनाओंमें लोकव्यवहारके यथातथ्य सत् और असत् दोनों पक्षोंका रमणीय चित्रण देखकर लोग स्वेच्छानुकूल किसी एक पक्षके रंगमें स्वयं धीरे-धीरे रँगते चले जाते हैं। सत्सत्को सापेक्ष दृष्टिसे चित्रित करनेवाले कलाकारकी युक्ति कुछ और प्रकारकी होती है। यद्यपि उभय पक्षोंका चित्रण तो वह भी करता है, पर एककी अमित पराजय और दूसरेकी पूर्ण विजयका प्रबल समर्थन उसका मुख्य उद्देश्य होता है। गोस्वामीजी दूसरे प्रकारके कलाकार कहलायेंगे। पाठक उनकी कृतियोंका आस्तिक मनसे रसास्वादन करनेके उपरान्त असत्पक्षोन्मुख होनेकी उत्तेजना कदापि नहीं प्राप्त करेगा। 'मानस'का आद्योपान्त पारायण कर चुकनेके अनन्तर स्पष्टतः प्रकट होता है कि गोस्वामीजीने संसारके असत्पक्षका निरूपण अवश्य किया है, पर उसकी अपरिमित अभिभूति दिखाई है, इसके विपरीत उन्होंने सत्पक्षकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करते हुए उसे सर्वोपरि विजयी ठहराया है। इसे हम उनकी सद्ग्राहिता कह सकते हैं।

संसार भले और बुरे दोनोंका सम्मिश्रण है। फलतः लौकिकज्ञ बननेके लिए भले-बुरे दोनोंका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है। बिना दोनों पक्षोंकी जानकारीके किसीका लोक-व्यवहार ज्ञान अपरिपक्व एवं अपूर्ण समझना चाहिये। विश्वका गुण-दोषमय स्वरूप ठीक-ठीक समझ लेना ही लोक-व्यवहार-निपुणता है और इन दोनोंमेंसे केवल गुण ग्रहण कर लेना तथा दोषका परित्याग करना ही सद्ग्राहिता है—

'जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार[1]॥'

सन्त हंस होनेके कारण तुलसीके लोक-व्यवहारमें नैपुण्य और सद्-ग्राहिताका अपूर्व सामञ्जस्य है। मनुष्य भलाई और बुराई दोनोंको जानते हुए भी करता है अपने मनकी ही। संसारके व्यवहारका यह बड़ा ही व्यापक स्वरूप है। इस तथ्यका निर्देश गोस्वामीजीने किया है। देखिये—

'गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई[2]॥'

लोग भले ही अपने मनोनुकूल ही क्यों न करें, पर कर्मका फल तो स्वाभावानुकूल ही होता है—

'भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाई नीचु।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु[3]॥'

भलाई और बुराईका स्वरूप कैसा होता है। वस्तुतः ये ईंट-पत्थर-जैसी स्थूल वस्तुएँ नहीं हैं कि हम इन्हें झट पहचानकर व्यवहारविद् हो जायँ। भलाई-बुराई, गुण-दोष आदिका अभिज्ञान इनके आश्रयोंके कृत्योंसे होता है, इनके किसी स्थूल स्वरूपसे नहीं। बुराई या दोषके अगार हैं दुष्ट या खल जन और भलाईके आकर हैं साधु जन या सज्जन। सच्चा लोक-व्यवहार-कुशल वही होगा जिसे खल और सज्जन दोनों वर्गोंके मनुष्योंका पूर्ण परिज्ञान हो। गोस्वामीजी इन दोनों वर्गोंके प्राणियोंकी रग-

१. 'मानस' बाल० ६.　　२. वही, बा० ४. ९
३. 'मानस' बाल० ५, 'दोहावली' दो० ३३८

रगसे अभिज्ञ थे। देखिये, खलोंकी विषैली प्रकृतिकी कैसी सूक्ष्म पहचान बतायी गयी है—

'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी।
जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहुँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई।
हरषहिं मनहु परी निधि पाई[1]॥'

गोस्वामीजीने दुष्टोंकी काम-क्रोध-मद-लोभ-परायणता, निर्दयता, कुटिलता तथा उनका अनृत, अकारण द्रोह और उनकी उपकारीके प्रति अपकार करनेकी दुर्मनोवृत्ति आदिको खूब समझा था, साथ ही वे उनकी ठगनेवाली मधुरी बानीके रहस्यसे भी अनभिज्ञ नहीं थे[2]। खलोंकी प्रकृतिकी मर्मवेधिनी निम्नांकित दो-तीन पंक्तियाँ और देखिये—

'काहू कै जो सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहु जग नृपती[3]॥'

... ...

'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
अहि मूषक इव सुनु उरगारी[4]॥'

'मानस'के उपक्रममें 'बिनु काज दाहिने बायें' रहनेवाले खलोंकी बन्दनाके बहाने उनकी गह्य प्रकृतिका जो विस्तृत प्रतिबिम्ब द्योतित किया गया है वह भी बड़े मार्केका है[5], पर प्रसंग इतना बड़ा है कि उसे उद्धृत करनेका अवकाश नहीं।

सत्पक्षके आश्रय सज्जन आदिकी प्रकृतिकी भी गोस्वामीजीको पूर्ण जानकारी थी। इस कथनकी पुष्टि उनकी रचनाओंमें सन्निविष्ट साधु-सन्तोंकी प्रकृतिके विशद चित्रणसे हो जाती है।

---

१. 'मानस' उ० ३८.३, ४, २. वही, उ० ३८.५–८,
३. 'मानस' उ० ३९. २, ३ ४. वही, उ० १२०. १८,
५. दे० वही, बाल० ३. १—११, ४.

खलों और सज्जनोंकी अद्वितीय परखके आधारपर बाबाजीकी लोक-व्यवहार-निपुणताका संकेत तो मिलता ही है, साथ ही खलोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये—इस नीतिका निर्देश करके उन्होंने अपनी लोक-व्यवहार-कुशलताका और भी उत्तम परिचय दिया है। व्यक्तिगत रूपसे वे बड़े भारी उपकारी महात्मा थे, स्वप्नमें भी उन्होंने परोपकार न भुलाया होगा, पर लोक-व्यवहारके अनुसार उन्होंने ऐसा भी कहना उचित समझा—

'खल उपकार बिकार फल, तुलसी जान जहान।
मेंढुक मर्कट बनिक बक, कथा सत्य उपखान[१]॥'

नीचका संसर्ग किसी-न-किसी प्रकार कष्टकारक ही होता है, अतएव उत्तम यही है कि उससे दूर ही रहा जाय। इसी तथ्यको गोस्वामीजीने मार्मिक ढंगसे यों चिताया है—

'नीच गुडी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास।
ढील दिए गिरि परत महि, खैंचत चढ़त अकास[२]॥'

स्वाभाविक मीठी बोली मनुष्यको सर्वप्रिय बनानेमें सहायक होती है। विनम्रता सज्जनोंकी प्रकृतिगत विभूति है। पर व्यवहार-क्षेत्र बताता है कि सभी जगह मिष्टभाषी ही रहनेसे कार्य नहीं चलता। शठों और नीचोंसे जिनका पाला पड़ा होगा उन्हें गोस्वामीजीकी ये बातें अवश्य याद आयी होंगी—

'डाटेहिं पै नव नीच[३]।'

... ...

'कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू[४]।'

यह भी अनुभव हो गया होगा कि शठसे विनय करना ऊसरमें बीज बोना है[५]।

---

१. 'दोहावली' दो० ३९८ २. वही, दो० ४०१
३. 'मानस' सुन्दर० ५८ ४. वही, बाल० २८०. ५
५. वही, सुन्दर० ५७. २

कितने ही प्राणी भ्रान्तिकारक चमकीला बाह्यरूपको देखकर बराबर धोखा खाते रहते हैं, पर जो लोक-व्यवहारमें पारंगत होते हैं वे प्रवञ्चककी बाहरी तड़क-भड़क या उसकी कृत्रिम मीठी वाणी आदिके चक्करमें नहीं पड़ते। यही बात बड़े अच्छे ढंगसे यों दर्शायी गयी है—

'तुलसी देखि सुबेखु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधासम असन अहि[1]।'

अधिकांशमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है कि वे स्वयं मधुर वाणी सुनना पसन्द करते हैं और वैसी ही औरोंको प्रसन्न करनेके लिए कहते भी हैं, इसके विपरीत ऐसे भी प्राणी होते हैं जो बाहरसे बहुत रूक्ष होनेके कारण कटु वाणी तो कहते हैं, पर वह होती है परम हितैषी। ऐसी वाणीके कहने और सुननेवाले दोनोंकी संख्या बहुत थोड़ी है। देखिये—

'प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥
बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे[2]॥'

मनुष्यमात्रकी कार्यशक्ति एक-सी नहीं होती। अतः इसका मर्म जान लेना भी सामान्य लोक-व्यवहार-पटुताका कार्य नहीं है। मनुष्यकी उद्योगिताके सम्बन्धमें गोस्वामीजीने जो विचार प्रकट किये है वे भी मननीय होनेके कारण उद्धरणीय हैं—

'संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा।
एक सुमन प्रद एक सुमनफल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं, कहहिं करहिं अपर, एक करहिं कहत न बागहीं[3]।'

भार्या अपने भर्ताका विपुल वैभव और अमित प्यार पानेपर हर्षोत्फुल्ल-जीवन बिताती है, यही नहीं, पतिके गिरे दिनोंमें भी उसका प्रेम और साहचर्य प्राप्त रहनेपर पत्नी सन्तोषपूर्वक कालयापन कर सकती है जैसा कि अनेकानेक महिलाएँ करती हैं, इसके विपरीत जहाँ पति स्वभावतः

---

१. 'मानस' बाल० १६१ २. 'मानस' लं० ८. ८, ९
३. वही, लं० ९०

एकाकी जीवन पसन्द करनेवाला है उस घरमें चाहे अतुल वैभव भरा हो, चाहे चूहे दण्ड ही पेलते हो, स्त्रीका जीवन सरस और सुखमय कदापि नहीं हो सकता। इसी व्यावहारिक बातको निम्नांकित पंक्ति प्रकट कर रही है—

'सहज एकाकिन्हके भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं'[1]।'

नारी-प्रकृतिकी गम्भीर और सूक्ष्म जानकारीको भी पक्की दुनियादारी समझना चाहिये। स्त्री-स्वभावसे पूर्णतया अभिज्ञ ही उसका यथातथ्य रूपमें अंकन कर सकता है। गोस्वामीजो नारी-प्रकृति, नारी-हृदय और नारी-चरित्रका अपार सागर थहा चुके थे। इससे भी उनकी लोक-व्यवहार-निपुणता प्रतिपादित होती है।

यद्यपि जन-सामान्यके लिए मानव-प्रकृतिकी दुर्बोधता निर्विवाद है, पर जो जगत्प्रथित अनुभव-सम्पन्न होता है उसका क्या कहना, वह तो मानों सबके पेटकी जानता है। तात्पर्य यह कि जिसका लोक-व्यवहार जितना ही गम्भीर और विस्तृत होता है वह मनुष्य-स्वभावका उतना ही मार्मिक, सजीव और अनेकविध दृश्य उपस्थित करता है। गोस्वामीजीकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अखण्ड जानकारीका निर्देश पहले ही हो चुका है। उसके आधारपर भी उनके विशाल लोक-व्यवहारका समर्थन हो जाता है। इसी प्रकार विविध वर्गीय पात्रोंके परस्पर कथोपकथनमें जो दाँव-पेंचकी स्वाभाविक बातें सन्निविष्ट हुई हैं उनसे भी वे लोक-व्यवहार-विद् ही सिद्ध होते हैं।

सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ ज्ञानकी संसृष्टि

सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ ज्ञानकी संसृष्टि भी तुलसीकी अपनी विशेषता है। इन त्रिविध अवयवोंका सामान्य परिचय उपेक्षणीय न होगा। पहले प्रतिभाकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। संसारमें आजतक ऐसा कोई महाकवि नहीं दृष्टिगत होता जिसने बिना प्रतिभाके सहारे अमरत्व प्राप्त किया हो। क्या पूर्व, क्या पश्चिम सभी देशोंने काव्यके

१. 'मानस' बाल० ७९

मूल कारणोंमें प्रतिभाको सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। आंग्ल भाषाकी इस कहावत 'कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता' (पोयट इज बार्न नाट मेड) का क्या आशय है। सच्चा कवि अपनी विशिष्ट काव्य-प्रतिभा सहित अवतीर्ण होता है, उसकी कविता प्रतिभाकी सुदृढ़ भित्तिपर ही सुचारु रूपसे आश्रित रहती है, वह अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अर्थात् प्रातिभ ज्ञानके सहारे अपनी कल्पनाके पंखोंपर उड़कर अतीन्द्रिय स्वर्गीय जगत्का समाचार सुनाकर उसका प्रत्यक्ष दृश्य दिखानेकी क्षमता रखता है। अपनी कविता कामिनीके बाह्य एवं अन्तर्ध्येयपर अखिल भू-मण्डलके सहृदयोंको मन्त्र-मुग्ध बना सकता है। प्रातिभ ज्ञानकी महिमा हमारे यहाँके बड़े-बड़े प्राचीन आचार्योंने भी स्वीकृत की है और उन सबने प्रतिभाको काव्यका प्रथम हेतु माना है। प्राचीन आलंकारिक भामहाचार्यने कहा है—

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः[1]।'

आचार्य दण्डीने भी प्रतिभाको काव्यका प्रथम साधन माना है—

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः[2]॥'

इसी प्रकार, मम्मटाचार्यने भी काव्यके तीन हेतुओंमेंसे प्रतिभाको ही प्रथम स्थान दिया है—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे[3]॥'

कहना नहीं होगा कि अवतरणमें 'शक्ति' प्रतिभाकी ही द्योतक है।

प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त विभूति है और बीजरूपमें काव्यका मुख्य साधन भी यही है। इसका विकास कविके हृदयमें जन्मसे ही होता है।

१. 'भामहालंकार' प्रथम परिच्छेद, श्लोक ५
२. 'काव्यादर्श' प्रथम परिच्छेद, श्लोक १०३
३. 'काव्यप्रकाश' प्रथम उल्लास, कारिका ३

पूर्वकालीन संस्कारके बलसे प्रतिभाकी धारा कविके हृदयमें वेगसे प्रवाहित होने लगती है, फलतः वह काव्य-रचनाकी ओर प्रवृत्त होता है।

प्रातिभ ज्ञानका स्वरूप समझनेके लिए आवश्यक है कि पहले हम यथातथ्य ज्ञान अर्थात् 'प्रमा'के सम्बन्धमें कुछ विचार कर लें। प्रमाकी प्राप्तिके मुख्य प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम या शब्द। इन्हीं चारोंके द्वारा हमें किसी वस्तुका यथातथ्य बोध होता है। उक्त चारों प्रमाणोंकी कारण हैं हमारी पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ। तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके द्वारा प्रमाणोंसे सिद्ध जिस ज्ञानका उदय होता है वही प्रमा है। इसकी प्राप्तिमें लौकिक साधन अपेक्षित होते हैं। परन्तु, एक प्रकारका ऐसा भी ज्ञान होता है जिसका उदय बिना किसी लौकिक साधन या प्रमाणके ही होता है। ऐसे ही ज्ञानको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। अंग्रेजीमें यही 'इण्ट्यूशन' कहा जाता है।

अत्यन्त संक्षेपमें, प्रातिभ ज्ञानके विषयमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों देशोंके मुख्य विचार भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'प्रातिभाद्वा सर्वम्[1]।'

इस सूत्रके स्पष्टीकरणके हेतु इसके टीकाकारकी निम्नांकित व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है—

'प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं विवेकजस्य सार्वज्ञस्य पूर्वरूपं यथा सूर्यस्योदयपूर्वरूपं प्रभा। तेनोत्पन्नेन सर्वमेवातीतानागतादि जानाति'। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाके कारण जिस अनौपदेशिक ज्ञानका उदय होता है उसके उदय होनेपर प्राणी सर्वज्ञ होनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है और तत्परिणामस्वरूप तीनों कालका द्रष्टा हो जाता है, ऐसा ही ज्ञान प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है।

पाश्चात्य जगत्ने प्रातिभ ज्ञानका क्या अभिप्राय ग्रहण किया है यह उसके 'इण्ट्यूशन'के अर्थसे ही प्रकट होता है। वहाँके प्राचीन विचार-

---

१. 'योगसूत्र' ३:३३

शीलोंकी दृष्टिमें प्रातिभ ज्ञान केवल देवदूतों और सिद्धोंमें ही होता था क्योंकि वे ही लोग ज्ञेय पदार्थ और उसके ज्ञानको अभेदरूपसे जानते थे, पर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक तर्कपद्धतिका बिना कोई आश्रय ग्रहण किये ही मस्तिष्क द्वारा वस्तुतत्त्वके लौकिक साधनापेक्ष साक्षात्कारको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं[1]।

अब विचारणीय है कि काव्यमें प्रातिभ ज्ञानका क्या स्थान है। भारतीय आचार्योंने काव्य-रचनामें प्रतिभाको क्या स्थान दिया है, इसका संकेत तो किया ही जा चुका है। यहाँ एक उच्च कोटिके पाश्चात्य समीक्षकका विचार उद्धृत करना अनावश्यक न होगा—'साहित्यिक समालोचनाका क्षेत्र है शक्तिमय वाङ्मय। इसके अन्तर्गत ललित कलात्मक रूपमें विरचित कविता, नाटक, कथासाहित्य, साहित्यसमीक्षा और निबन्ध आते हैं जो औपदेशिक वाङ्मयकी भाँति साक्षात् सत्य या असत्यका निर्णय नहीं करते। तर्कके बलसे उनके तथ्यका निराकरण नहीं किया जा सकता। वे अपने निजी नियमोंके अनुगामी होते हैं। इन नियमोंका अन्तिम आधार क्षोदक्षेम, तर्क नहीं होता, अपितु, प्रातिभ ज्ञान, कल्पना और सौन्दर्यबोध होते हैं। यों तो उभय प्रकारके वाङ्मयका सम्बन्ध सत्यसे ही रहता है, पर सत्यपर उपनीत होनेके उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानमय साहित्य तात्त्विक निर्णयके द्वारा सत्यपर पहुँचता है तो शक्तिमय साहित्य प्रातिभ ज्ञानके द्वारा[2]।'

प्रातिभ ज्ञान और कल्पना एक ही वस्तु नहीं है। दोनोंमें स्पष्ट अन्तर है। कल्पना किसी प्रत्यक्ष गोचर आधार या उसके किसी अंशके सहारे हो अपना व्यापार करती और कर सकती है। कवि अपने वर्ण्य विषयके किसी अवयव या उसके सादृश्यकी झाँकी पानेपर उसका पूर्ण सांगोपांग स्वरूप कल्पनाके ही बलपर चित्रित करता है, किन्तु प्रातिभ ज्ञानका उदय किसी आधारकी अपेक्षा नहीं करता। वह आकस्मिक होता

१. दे० आक्सफोर्ड डिक्शनरी।

२. स्काट जैम्सः 'मेकिंग आव् लिटरेचर' पृ० २३

है। उसे एक शब्दमें 'सूझ' कह सकते हैं। इस प्रातिभ ज्ञानसे सूचित किसी असफल विषयकी सफलता हम कल्पनाके द्वारा सम्पन्न कर सकते हैं, पर नितान्त अज्ञात विषयकी उत्थापना कल्पना नहीं कर सकती। वह काम प्रातिभ ज्ञानके ही मानका है। इस प्रकार प्रातिभ ज्ञान कल्पनासे भिन्न और विशेष महत्त्वपूर्ण है। जहाँ कल्पनाके पंख झड़ जाते हैं, वहाँ प्रातिभ ज्ञान ही अपना चमत्कार दिखाता है।

अपने प्रातिभ ज्ञानके सहारे तुलसीने जिन अपूर्व प्रसंगोंकी उद्भावना की है, अब उनमेंसे दो-एककी बानगी देखिये। निम्नांकित सोरठा बहुत प्रसिद्ध है—

'संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल।
बूड़े सकल समाज प्रथमहिं चढ़े जे मोहबस[1]॥'

लोगोंकी धारणा है कि इस सोरठाका तृतीय चरण लिखनेके बाद गोस्वामीजी चक्करमें पड़ गये और अन्तमें चतुर्थ चरणकी पूर्ति हनुमान्‌जीके द्वारा की गयी। पर, तार्किक ऐसी बात क्योंकर स्वीकार करेंगे। चतुर्थ चरणमें जिस वस्तु-निर्देशके लिए हनुमानजीकी सहायताप्राप्तिकी कल्पना की जाती है वस्तुतः वही वस्तु-निर्देश कविकी अपनी अनोखी सूझ है। उसके प्रातिभ ज्ञानका मञ्जु प्रकाश है।

'मानस'के आरम्भमें गोस्वामीजीने जानकीकी वन्दना यों की है—

'जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुना निधान की॥
ताके युग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपा निरमल मति पावउँ[2]॥'

ऐसी ही निर्मल मतिकी प्राप्तिके फलस्वरूप उनका प्रातिभ ज्ञान सजग हुआ और रंग भूमिमें पदार्पण करनेके समय जगजननी जानकीके जिस अनुपमेय सौन्दर्यको उन्होंने अपने मानसिक नेत्रोंसे देखा उसे

---

१. 'मानस' बाल० २६१ २. वही, बाल० १७.७,८

पाठकोंको भी यद्यर्थातिशयोक्तिके सहारे वर्णनातीत कहनेके नये ढंगसे जता दिया है[१]।

सीताकी हृदय-विद्राविणी उन्मादकी दशामें उनके दबे हृदयकी आहोंसे 'अवनि न आवत एकउ तारा'का हृदय-स्पर्शी स्वर निकलते ही—

'कपि करि हृदय बिचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठ कर गहेउ[२]॥'

का दृश्य उपस्थित करके गोस्वामीजीने नाटककारकी अघटित घटना-पटुताका अनूठा उदाहरण छोड़ा है।

अस्तु, स्थालीपुलाक न्यायसे दो-एक उदहरण दे दिये गये। वस्तुतः उनकी रचनाओंमें उनकी सूझके न जाने कितने उदाहरण वर्तमान हैं। उनमेंसे बहुतोंको तो हम उनके रूपक और उत्प्रेक्षाके भारी-भरकम आवरणसे प्रतारित होकर पहचान भी नहीं पाते। 'मानस'का उपक्रम-विन्यास भी उनकी सूझका ज्वलन्त प्रमाण है। इष्टदेवके रूप-निर्देश एवं राम-नाम-माहात्म्य-प्रदर्शन अथवा दिव्यादिव्य पात्रोंके शीलानुशीलनके अनेकानेक प्रसंगोंमें भी अनोखी सूझ देखी जा सकती है।

गोस्वामीजीकी मात्रा-बोध-पटुताका कोई प्रमाण प्रस्तुत करनेके पूर्व इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि मात्रा बोधसे मेरा अभिप्राय वही है जिसे पाश्चात्य समीक्षक 'सेन्स आव् प्रोपोर्शन' कहते हैं। गोस्वामीजी-के सम्बन्धमें यह कथन असंगत न होगा कि उनका-सा मात्रा-बोध संस्कृत साहित्यके महाकवियोंका भी नहीं था। यदि वाल्मीकिने आवश्यकतासे अधिक प्रकृति-वर्णन करके मात्रा-बोधकी सीमा तोड़ दी है तो श्रीहर्षने दमयन्तीके अंग-प्रत्यंगका वर्णन करते-करते उसके गुप्तस्थानतकका अंकन करके नख-शिख-वर्णनकी मर्यादाका अतिरिक्त विस्तार कर डाला है। हिन्दी साहित्यमें तुलसीको छोड़कर अन्य किस महाकविका नाम लिया जाय जो अपनी मात्रा-बोधकी पूर्ण परिष्कृत रुचिका परिचय देता हो!

१. 'मानस' बा० २४६. ७, ८. २४६. २. वही, सुन्दर० १२

किसी भावको बार बार गीजने या वर्णनीयोंकी फिहरिश्त तैयार करानेका ढंग तो मात्रा-बोध है नहीं कि जायसी और सूरका भी नामोल्लेख करें।

मात्राके अतिक्रमणकारी विस्तृत वर्णनसे भले ही पाठककी वर्ण्य-विषयक ज्ञानवृद्धि हो, पर उससे काव्यके अलौकिक आनन्दकी अनुभूति तो कदापि नहीं हो पाती। जो कवि मात्राका उचित और यथार्थ उपयोग नहीं जानता उसकी उच्चतम कृति भी पाठकको सच्ची और पूर्ण रसानुभूति नहीं करा सकती। काव्यके त्रिविध स्वरूपोंमेंसे मुक्तकमें मात्रातिरेकके लिए कम अवकाश रहता है, अन्यथा खण्डकाव्य और महाकाव्यमें तो मात्रा-बोधको कविकी कलाका एक प्रमुख अंग मानना ही होगा।

यों तो गोस्वामीजीकी सभी कृतियं उनके मात्रा-बोधसे तुलित हैं, फिर भी उनके खण्डकाव्य और महाकाव्यके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। उनके प्रारम्भिक खण्डकाव्यका वर्ण्य विषय है—रामका नहछू। यदि उन्हें मात्राका यथार्थ परिज्ञान न होता तो वे राजभवनके सुषमा-वर्णनके साथ उस अवसरपर छाये हुए आनन्दोल्लासमय वातावरणका विस्तृत वर्णन करते, तदनन्तर नहछूका प्रसंग छेड़ते। पर उन्होंने वैसा नहीं किया। वस्तुतः उन्हें ध्यान था कि नहछूकी छटा दिखाना उनका वर्ण्य विषय है, फलतः उन्होंने नगर-वर्णन, उसके उल्लास और माता कौसल्याके अपार हर्ष आदिके सभी व्यापारोंको समेटकर एक ही छन्दमें इंगित किया। देखिये—

'कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।
देवलोक सब देखहि आनंद अति हिय हो।
नगर सोहावन लागति बरनि न जातै हो।
कौसल्याके हरष न हृदय समातै हो[1]।।'

बस, इतना ही वर्णन देकर गोस्वामीजी झट नहछू स्थल 'आलेहि बाँस के माड़व मनि गन पूरन हो[2]'पर आ जाते हैं और माड़वका प्रसंग भी एक छन्दमें ही रमणीय ढंगसे समाप्त करके नहछूका प्रसंग उपस्थित

१. 'रामलला नहछू' छ० २ २. वही, छ० ३

कर देते हैं। इस संस्कारके अवसरपर जिन-जिन विशिष्ट व्यक्तियोंके द्वारा जो-जो विशेष कार्य होते हैं उन सबके वर्णनमें उन्होंने कवि-हृदयकी तन्मयता अवश्य दिखा दी है[1]। उन्होंने ऐसा भी नहीं किया है कि वे लोहारिन, अहिरिन, तम्बोलिन, नाइन आदिकी एकाध शृंगारिक चेष्टाओंके अतिरिक्त उनका अनावश्यक वर्णन करने लगे हों। यदि वे ऐसा करते तो उनकी मात्राबोधहीनता प्रकट हो सकती थी। वस्तुतः उनकी बुद्धि इतनी सधी थी कि वे भली भाँति जानते थे कि अमुक वस्तु निर्देशके लिए अमुक शब्द या वाक्य ही पर्याप्त होगा। रामके चरणोंमें महावर लगनेके अवसरपर भी उनकी संयत बुद्धि सचेष्ट है। ऐसा नहीं हुआ कि उक्त प्रसंगमें ही व्यर्थका विवरण चला हो या रामके ही नख-शिख-वर्णनका विस्तार हो।

'पार्वतीमंगल' और 'जानकीमंगल' भी मात्रा-बोधकी कसौटीपर बेदाग ठहरते हैं। इन दोनोंमें कहीं भी रञ्चमात्र असंयत, अभीष्ट-परिधि-भञ्जक न्यूनाधिक अथवा किसी प्रकारका प्रतिकूल वर्णन न मिलेगा।

खण्डकाव्यमें मात्रा-बोधका समुचित उपयोग कर लेना कविके लिए उतना महत्त्वाधायक नहीं कहा जा सकता। यदि वह सामान्यतः भी प्रतिमा-सम्पन्न हुआ तो खण्डकाव्यके सीमित क्षेत्रमें यथार्थ रूपसे अपने मात्रा-बोधका परिचय दे सकता है। वस्तुतः उसके मात्राबोधकी कड़ी परीक्षा महाकाव्यके अपार क्षेत्रमें ही होती है, क्योंकि उसमें विविध वस्तु-योजना, घटना-योजना, चित्रण, वर्णन आदिका निर्वाह करना पड़ता है और यदि कविमें मात्राकी परखका अभाव हुआ तो वह काव्य-धारा-प्रवाहमें मात्रा-बोधकी सीमासे न जाने कितने प्रसंगोंमें हटता हुआ मिलेगा। कहीं आवश्यक विस्तारका अतिक्रमण करके अनावश्यकको बढ़ायेगा तो कहीं मार्मिक आवश्यक प्रसंगको नगण्य करके सारा गुड़ गोबर कर देगा। इसके विपरीत मात्राकी सूक्ष्म दृष्टिसे सम्पन्न महाकवि किसी स्थल-निरूपणमें धोखा नहीं खाता। गोस्वामीजी ऐसे ही महाकवि हैं। 'मानस'में एकसे एक बढ़कर ऐसे

१. वही, छ० ४–११

गहन प्रसंग हैं जो उन्हें उलझा सकते थे, पर इस महात्माकी अद्भुत शक्ति थी, इसने सभी प्रसंगोंपर मात्रा-बोधका अंकुश लगा ही दिया है।

यदि 'मानस'की कथावस्तुको लक्ष्यमें रखकर विचार किया जाय तो ऐसा कोई स्थल नहीं दिखाई पड़ेगा जहाँ किसी प्रासंगिक कथाका ऐसा विवरण किया गया हो कि वह प्रधान कथावस्तुके प्रवाह आदिमें किसी प्रकारका व्याघात करता हो। यदि प्रधान कथावस्तु विस्तृत महानदके समान प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत होती है तो प्रासंगिक कथाएँ उसीमें आकर अन्तर्भूत होनेवाली सहायक नदियोंके समान हैं। पाठकके समक्ष मुख्य कथाका विस्तार सदैव बना रहता है, प्रासंगिक कथाओंकी बीच-बीचमें झलकमात्र मिलती है। कथाका ऐसा विस्तार भी गोस्वामीजीके मात्रा-बोधका उत्तम परिचायक है।

वस्तुवर्णनके प्रसंगोंमें प्रायः बड़े-बड़े कवियोंमें भी मात्रा-बोधका अभाव खटक जाया करता है। अपनी तन्मयतावश वे वस्तुवर्णनको इतना विस्तृत कर देते हैं कि कहीं-कहीं वही प्रधान हो जाता है। गोस्वामीजीने भूल-कर भी ऐसा नहीं किया है। उनका वस्तुवर्णन सदैव वातावरण और कथानकप्रवाहके अनुरूप हुआ है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। अपने मातुल-गृहमें भरतपर अत्यन्त व्याकुलता छायी थी, क्यों कि भयंकर दुःस्वप्नोंके द्वारा उन्हें भीषण अमंगलकी सूचना मिल चुकी थी। ऐसे ही अवसरपर वशिष्ठने दूत भेजा। गुरुकी आज्ञा सुनते ही उन्होंने प्रस्थान कर दिया। उस समय उनके मनमें कितनी आकुलता और आतुरता थी, इसका अनुमान निम्नांकित दो ही पंक्तियोंसे हो जाता है—

'चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन बाँके॥
हृदय सोच बड़ कछु न सुहाई। अस जानहिं जिय जाउँ उड़ाई'॥[1]

यदि गोस्वामीजी मात्रा बोधके मर्मज्ञ न होते तो वे भरतके इस प्रस्थानके समय यात्राका विस्तृत वर्णन अवश्य करते, किन्तु नहीं, वे समझते

१. 'मानस' अयो० १५६. १,२

थे कि उनके पात्रकी वृत्तियाँ ऐसे समयमें स्वभावतः किस ओर उन्मुख हैं। क्या वे वर्णनके विस्तारमें उलझाकर प्रतिरुद्ध कर दिये जानेकी क्षमता भी रखती हैं। फलतः उन्होंने—

'एक निमेष बरष सम जाई। एहि बिधि भरत नगर नियराई[1]॥'

कहकर भरतकी वेदनाका आभास देते हुए कथानकका चलता हुआ द्रुत प्रवाह ज्योंका त्यों बनाये रखा।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग और देखिये। रावण-वध हो चुका था। रामके वनवासकी अवधि पूरी होनेवाली थी। भक्त विभीषण अपनी राजधानीको रामकी चरण-रजसे पुनीत करानेके लिए परमोत्कण्ठित था। पर, रामको और ही बेचैनी थी—

'बीते अवधि जो जाउँ मैं जियत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर[2]॥'

इस स्थितिमें भक्तको आश्वासन देते हुए रामने यही कहा कि मेरे अयोध्या पहुँचनेका प्रबन्ध शीघ्रातिशीघ्र करो। फिर क्या था, विभीषणने तुरंत पुष्पक विमान उपस्थित किया। राम तत्क्षण विमानारुढ़ होकर अयोध्याकी ओर बढ़े। इस यात्राके समय रामके हृदयमें जो भाव छाया था उसके अनुसार यह कदापि उचित नहीं था कि गोस्वामीजी यात्राका लम्बा-चौड़ा वर्णन करने लगते। मात्रा-बोधका यथोचित रहस्य न जाननेवाले समालोचक महाशयका दुःसाहस ही गोस्वामीजीपर यह दोष लाद सकता है कि उन्होंने उक्त प्रसंगोंमें विस्तृत यात्रा-वर्णनकी आवश्यकताकी उपेक्षा कर दी है। वस्तुतः प्रसंगानुकूल वर्णनकी यथोचित परिधिका जितना सच्चा ज्ञान तुलसीको था उतना संसारके विरल महाकवियोंमें कदाचित् बहुत ढूँढ़नेपर ही मिले।

गोस्वामीजी यह भली भाँति जानते थे कि किस घटनाका विस्तार होना चाहिये और किसका संकेतमात्र। यही कारण है कि उन्होंने सामान्य

१. वही, अयो० १५६. ३ २. वही लंका० ११६

घटनाको तो एकाध वाक्यमें ही कहकर चलता कर दिया है, पर गम्भीर घटनाको मार्मिक ढंगसे विस्तार दिया है। इसी सम्बन्धमें यह भी न भूलना चाहिये कि गम्भीर घटनाओंका विस्तार भी ऐसा नहीं है कि उसमें थोड़ा-सा भी आधिक्य प्रकट हो। सीता-हरण और लक्ष्मणको शक्ति लगनेकी घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें गोस्वामीजी इतना बढ़ा सकते थे कि सारी प्रकृतिसे उन्माद, प्रलाप और विलापकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती, पर नहीं, उन्होंने ऐसे अवसरोंको भी उतना ही विस्तार दिया कि पाठकके हृदयमें पूर्ण रसानुभूति हो जाय। ऐसा नहीं किया कि वह पढ़ते-पढ़ते ऊब जाये या फूट-फूटकर रोता ही रह जाये।

हमारे महाकवियोंकी उत्तमोत्तम रचनाओंके अवलोकनसे अवगत होता है कि प्रायः नख-शिख-वर्णनमें उनकी बुद्धि इतनी रमी है कि उन्होंने मात्राका अतिक्रमण करके भी उसको अत्यधिक विस्तार दिया है। यद्यपि राम और सीताके अपार सौन्दर्य-सागरके सामने अन्यान्य कवियोंके नायक-नायिकाओंका सौन्दर्य विन्दुमात्र ही होगा, तथापि बाबाजीने रूप-सौन्दर्य-वर्णनकी संयत सीमाके भीतर ही रहकर नख-शिखका अंकन किया है। उन्हें न जाने कितने ऐसे प्रसंग मिले जहाँ वे नख-शिख-वर्णन प्रचुर परिमाणमें कर सकते थे, पर नहीं, उन्होंने दो-चार पंक्तियोंकी ही आवश्यकता समझकर प्रसंगको उत्तरोत्तर स्वाभाविक गतिसे बढ़ने दिया। इस प्रकार नख-शिख-वर्णनके प्रचण्ड घेरेमें भी उनका मात्रा-बोध श्लाघनीय है।

उच्च कोटिके कलाकारोंकी कृतियोंमें भी हम कभी-कभी पात्रोंके कथोपकथनोंसे ऊबने लगते हैं, क्योंकि वे या तो अनावश्यक विस्तृत और नीरस होते हैं अथवा इतने काल्पनिक और अस्वाभाविक कि उनमें हमारा हृदय रमता ही नहीं। सद्ग्राही मात्रा-बोध-सम्पन्न कविकी कृतिके सभी कथोपकथन सौष्ठवपूर्ण एवं संयत होते हैं। तुलसीमें यही बात है। एक उदाहरण लीजिये—

'पवन तनय के चरित सुहाये।
जामवंत रघुपतिहिं सुनाये॥

सुनत कृपानिधि मन अति भाये।
पुनि हनुमान हरषि हिय लाये॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी।
रहति करति रच्छा स्वप्रान की[1]॥'

अवतारित अर्द्धालियाँ यदि तुलसी-जैसे मात्रा-बोध-प्रवीण कलाकारके हाथमें न पड़ी होतीं तो कदाचित् अन्य कवि पहली अर्द्धालीके स्थानपर लम्बा नहीं तो संक्षिप्त ही वर्णन करता कि हनुमान् किस प्रकार समुद्रके तटपर गये, कैसे समुद्रोल्लंघन किया और कैसे अन्यान्य घटनाएँ घटित हुईं, पर गोस्वामीजीने इन सभी बातोंके बतलानेका काम केवल एक पंक्तिसे लिया। उन सभी बातोंको जानकर रामपर जो प्रभाव पड़ा उसे भी झट दूसरी अर्द्धालीमें व्यक्त कर दिया। तदुपरान्त, वे चाहते तो सीताका समाचार सुननेपर रामकी जो दशा हुई उसका विस्तृत वर्णन करते, पर नहीं, कथा-प्रवाह तीव्र रखनेके लिए उन्होंने तीसरी ही अर्द्धालीमें रामके प्रश्नोंको उपस्थित कर दिया। ये प्रश्न भी अनियन्त्रित नहीं हैं। केवल नपे-तुले दो प्रश्न हैं—सीता किस प्रकार रहती है और क्योंकर अपने प्राणोंकी रक्षा करती है। यद्यपि दोनों प्रश्न देखनेमें सरल हैं, पर उनकी व्यञ्जना गूढ़ है। अतः उनका जैसा गूढ और मार्मिक उत्तर देना चाहिये था वैसा ही हनुमान्ने दिया भी। देखिये—

'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट[2]॥'

निस्सन्देह उक्त दोनों प्रश्नोंका उत्तर एक ही दोहेमें दिया गया है, पर इतने ही उत्तरसे सीताके अमित दुःखकी पूर्ण अभिव्यक्ति न होनेपर हनुमान्का कथोपकथन कुछ और बढाया गया और उनसे कहलाया गया कि—

'चलत मोहिं चूड़ा मनि दीन्हीं।'

---

१. 'मानस' सुन्दर० २९. ६–८   २. वही, सुन्दर० ३०

साथ ही कुछ सन्देश भी कहा—

'नाथ युगल लोचन भरि बारी।
बचन कहेउ कछु जनक दुलारी॥
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।
दीनबंधु प्रनतारतिहरना॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी।
केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥
अवगुन एक मोर मैं माना।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा।
निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥
बिरह अगिन तनु तूल समीरा।
स्वास जरइ छन माँह सरीरा॥
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी।
जरइ न पाव देह बिरहागी॥
सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहे भलि दीनदयाला[1]॥'

इस सन्देशके इतने सीमित क्षेत्रमें जनकदुलारीकी परम आर्तदशाकी कैसी हृदय-स्पर्शिनी अभिव्यञ्जना हुई है इसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। सीताकी ऐसी दशा सुनकर रामपर जो प्रभाव पड़ा उसे एक ही चौपाईमें व्यक्त करना अधिक उपयुक्त समझकर गोस्वामीजीने इतना ही कहा है—

'सुनि सीता-दुख प्रभु सुख-अयना।
भरि आये जल राजिव-नयना[2]॥'

इसके उपरान्त यदि वे चाहते तो रामकी दशाका विस्तृत वर्णन करते, पर उनके ऐसा करनेसे चलते हुए कथोपकथनमें एक प्रकारका

१. 'मानस' सुन्दर० ३०.१, ९ २. 'मानस' सुन्दर० ३१.१

व्याघात-सा होता। अतएव उन्होंने हनुमान्से कुछ और कहलाना ही समीचीन समझा और कथोपकथनका क्रम आगे बढ़ाया। अस्तु। तुलसीमें प्रायः सभी कथोपकथनके प्रसंगोंमें उनका मात्रा-बोध पूर्णतया परिलक्षित होता है।

अब रही मुक्तकमें मात्रा-निर्वाहकी बात। यदि कोई कवि मुक्तकमें किसी भावको मनोहर ढंगसे व्यक्त करनेके लिए अद्भुत कल्पना, उद्योतक अप्रस्तुत योजना, परिष्कृत रुचि और हृदयकी नैसर्गिक मार्मिकताके वर्णनसे पाठकको लोट-पोट कर देता है तो कहना होगा कि उसमें मात्रा-बोध है। इस दृष्टिसे तुलसीकी अधिकांश मुक्तक रचनाएँ भी उनके मात्रा-बोधका परिचय देती हैं।

तुलसीके काव्योद्यानमें सौन्दर्यके जो कमनीय कुसुम विकसित हुए हैं उनके सुभग सौरभ्यकी अनुभूतिके लिए पहले सौन्दर्यपर कुछ सामान्य विचार कर लेना चाहिये। इस सामान्य विचारसे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि मैं पाश्चात्य पचासों सौन्दर्य-विज्ञानियोंके सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों (ईस्थेटिक थ्योरीज)का गोरखधन्धा फैलाऊँ और सौन्दर्यका आध्यात्मिक रहस्य बताऊँ। ऐसा न करनेपर भी सौन्दर्यका स्वरूप-निर्देश तो करना ही होगा। जैसे हम चन्द्रिकाकी कल्पना बिना चन्द्रके नहीं कर सकते वैसे ही बिना सुन्दर वस्तुके सौन्दर्यकी कल्पना करना असम्भव है। इस आधारपर हम कह सकते हैं कि सुन्दर वस्तुसे पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है। जड़ अथवा चेतन जगत्की कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके साक्षात्कारमात्रसे हमारा मन उनमें ऐसा रम जाता है कि हम उन वस्तुओंकी भावनाके रूपमें ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ताकी यही तदाकार परिणति सौन्दर्यकी अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग-की वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनकी प्रतीति या भावना हमारे मनमें कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। 'जिस वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी......किसी

वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे हमारी अपनी सत्ताके बोधका जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मनकी उस वस्तुके रूपमें जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई सौन्दर्यकी अनुभूति कही जायगी। जिस प्रकारकी रूप-रेखा या वर्ण-विन्याससे किसीकी तदाकार परिणति होती है उसी प्रकारकी रूप रेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता-की सामान्य भूमिपर पहुँची हुई जातियोंमें सौन्दर्यके सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद केवल अनुभूतिकी मात्रामें पाया जाता है। न सुन्दरको कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूपको सुन्दर[1]।

उपर्युक्त उद्धरण एक प्रकारसे सौन्दर्यानुभूतिका स्पष्टीकरण कर देता है, पर सौन्दर्यका वह विस्तृत स्वरूप जिसे हम तुलसीकी रचनाओंमें इंगित करना चाहते हैं पूर्ण रूपसे प्रकाशित करने लिए सौन्दर्यका वर्गीकरण करना अधिक सुन्दर होगा। हम कह चुके हैं कि सुन्दर वस्तुसे पृथक् सौन्दर्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अतः सुन्दर वस्तुओंके आधार पर सौन्दर्यके दो वर्ग होंगे—(१) प्रकृति-सौन्दर्य, (२) प्राणि-सौन्दर्य।

सौन्दर्यके इन द्विविध क्षेत्रोंपर दृष्टि डालते ही दोनोंके भेद प्रतीत होंगे। प्रकृति-सौन्दर्यके अन्तर्गत-(१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य (३) व्यापार-सौन्दर्य आदि और प्राणि-सौन्दर्यमें (१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य, (३) व्यापार-सौन्दर्य, (४) व्यवहार-सौन्दर्य, (५) शील-सौन्दर्य आदि।

निस्संदेह मनुष्य चेतनामय प्राणी होनेके कारण चेतनजगत्‌के सौन्दर्य का विशेष रसज्ञ होता है, पर यह भी निश्चित है कि वह जड़ प्रकृतिके विविध विलासोंपर भी मुग्ध रहता है। उसका हृदय कहीं पल्लव-गुम्फित पुष्प-हासमें, कहीं निर्झरोंके कलकल नादमें, कहीं पक्षियोंकी काकलीमें, कहीं सिन्दुराभ सान्ध्य दिगञ्चलके हिरण्य मेखला-मण्डित घनखण्डमें, कहीं तुषारावृत तुंग गिरिशिखरपर पड़ी आभासे निर्मित इन्द्रधनुष्में, कहीं सघन और स्निग्ध हरीतिमासे आच्छन्न अछोर मैदानोंमें लहलहाते हुए खेतोंमें, तो कहीं

1. राम० शु० 'चिन्तामणि' पृ० २२५-२६

महार्णवकी उत्ताल तरंगोंमें जा फँसता है। क्यों? उत्तर है—प्रकृति-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर। इसी प्रकार प्राणि-सौन्दर्य भी उसे केवल आकर्षित ही नहीं करता, अनुभूति-साम्य, रुचि-साम्य, विवेक-साम्य और भाव-समष्टि-साम्यसे आप्यायित भी करता है।

सौन्दर्यके उक्त व्यापक क्षेत्रोंपर स्वतन्त्र रूपसे विशेष विवेचन करनेका न तो अवकाश है और न उसकी उपेक्षा ही इष्ट है, अतः प्रस्तुत परिच्छेदमें कविकृत बाह्य दृश्य-चित्रण और आभ्यन्तरिक वृत्ति-निरूपणके सम्बन्धमें की गयी विवेचनाके द्वारा ही कविके सौन्दर्य-बोधका प्रकारान्तरसे परिज्ञान कराया जा चुका है।

श्रीलताका पूर्ण परिपाक

श्रीलताका अपूर्व परिपाक भी उत्तम कोटिके काव्यका नितान्त आवश्यक अंग है। तभी तो कलाकारोंको काव्यके कतिपय दोषोंसे बचनेके साथ ही अश्लीलतासे भी दूर रहनेकी चेतावनी दी गई है। अश्लीलता व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल-व्यञ्जक भावोंके प्रकाशनसे तीन प्रकारकी मानी गयी है—

'त्रिधेति व्रीड़ाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्।'

दैनिक व्यवहारोंकी ओर दृष्टिपात करनेसे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि समाजमें कितने ही व्यवहारों और व्यापारोंका नग्न-प्रदर्शन लज्जाजनक माना जाता है। ऐसी व्रीड़ात्मक बातें प्रायः शृंगार और हास्य-वर्णनके अन्तर्गत विशेष रूपसे दिखाई पड़ती हैं। इन्हीं दोनोंके निरूपणमें अनेकानेक कवि श्रीलताकी उपेक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। रसविरोधी अनेक दोषों[1]मेंसे प्रकृति अर्थात् पात्रोंका विपर्यय नामक दोष भी एक विशेष स्थान रखता है। प्रकृति अर्थात् नायक तीन प्रकारके होते हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, जिनके वर्णनमें प्रधानतया वीर, रौद्र, शृंगार

---

१. मम्मटाचार्यने रसविरोधी दोषोंकी संख्या तेरह मानी है। दे॰ 'काव्यप्रकाश' सप्तम उल्लास, सू॰ ८८

और शान्तरस गृहीत होते हैं। नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीर-प्रशान्त और धीरोद्धत तथा उत्तम, मध्यम और अधम भेदके होते हैं। इनमेंसे रति, हास, शोक और अद्भुत ये भाव अदिव्य उत्तम पात्रके सदृश दिव्य उत्तम पात्रोंमें भी वर्णित होते हैं, किन्तु सम्भोग शृंगारकी बीजभूत रति उत्तम दिव्य प्रकृतिके विषयमें सर्वदा अवर्णनीय ठहरायी गयी है, क्योंकि उसका वर्णन माता-पिताके सम्भोग-वर्णनके समान अनुचित है[१]। गोस्वामीजीकी समस्त रचनाओंको ढूँढ़ डालिये, उनमें कहीं भी सम्भोग शृंगारका अमर्यादित वर्णन नहीं मिलेगा। हमें यह न समझना चाहिये कि तुलसीके सामने ऐसे प्रसंग ही नहीं आये, प्रत्युत तथ्य यह है कि ऐसे प्रसंगोंके आनेपर भी उन्होंने प्रकृति-विपर्यय नहीं होने दिया है। जहाँ शिव-पार्वतीके सम्भोग शृंगार-वर्णनका अवसर आया है वहाँ इतना ही कहना उचित समझा गया है—

'जगत मातु पितु संभु भवानी।
तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी॥
करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा।
गनन्हँ समेत बसहिं कैलासा[२]॥'

जहाँ पार्वतीके अप्रतिम सौन्दर्य-वर्णनकी अपेक्षा थी वहाँ भी गोस्वामी-जीने बड़े ही संयत और सुचारु ढंगसे जगदम्बिकाके रूप और कान्तिकी अभिव्यक्ति की है। यथा—

'देखत रूप सकल सुर मोहे।
बरनइ छबि अस जग कबि को है॥
जगदंबिका जानि भव बामा।
सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा॥

१. 'काव्यप्रकाश' सप्तम उल्लास, १२ 'प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।'

२. 'मानस' बाल० १०२. ४,५

सुंदरता मरजाद भवानी।
जाइ न कोटिन्ह बदन बखानी[1] ॥'

इसी प्रकार सीताकी अलौकिक शोभाका वर्णन करते समय उनके अंगोंमें यौवनागम आदिका संकेत करके भी तुलसीने जैसी श्रीलता[2] का प्रकाशन किया है वैसी अन्यत्र कहाँ।

केवल देवियोंके शृंगार-वर्णनमें ही श्रीलताका पालन किया गया हो ऐसी बात नहीं। शिवकी अचल समाधि भंग करनेके लिए कामदेवने जब अपना प्रबल प्रताप दिखाया तो सारी सृष्टि कामके वशमें हुई। 'लता निहारि नवहिं तरु साखा।' 'संगम करहि तलाव तलाई'की स्थिति आ गयी। ऐसे घोर शृंगारका वर्णन भी गोस्वामीजीने किया है[3], पर उस विवरणमें व्रीड़ाव्यञ्जक अश्लीलताका नाम-निशान भी नहीं आने पाया है।

तुलसीकी कृतियोंमें कहीं-कहीं ग्राम्य शब्दोंका प्रयोग देखकर कोई सहसा कह सकता है कि ऐसे प्रयोग ही श्रीलताके विरोधी हैं। पर, ऐसे सहसा कथनका कोई मूल्य नहीं। काव्यमें कुछ ऐसे अपवाद भी स्वीकृत किये गये हैं जिनमें जुगुप्सा-व्यञ्जक ग्राम्य पदोंके प्रयोग दोषकी जगह गुण माने जाते हैं। यथार्थ तथ्यके निरूपणार्थ नीतिमय वचनोंके कथनमें ग्राम्य पदका प्रयोग अश्लीलत्वका द्योतक नहीं होता। यथा—

'तुलसी देवल देवको लागे लाख करोरि।
काग अभागे हगि भख्यो, महिमा भई न थोरि[4] ॥'

नीतिमय वचनोंमें ही नहीं, अपितु शान्त(वैराग्य)के प्रकरणमें भी जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लील अर्थ गुण-विशिष्ट माने जाते है। जैसे—

'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी[5]।'

---

१. वही, बाल० ९९. ६–८
२. वही, बाल० २४६. १–८, २४७. १–४
३. दे० 'मानस' बा० ८४ ८५
४. 'दोहावली' दो० ३८४
५. 'मानस' अयो० ३२२.८

अधम पात्रोंकी उक्तियोंमें ग्राम्य पद गुण हो जाते हैं। ऐसे प्रयोग भी गोस्वामीजीने बराबर किये हैं।

यदि कोई अत्यधिक नियमव्रती समीक्षक अपनी रुक्षताके अनुशासनमें आकर बाबाजीमें किसी प्रकारकी अश्लीलता सिद्ध ही करना चाहे तो वह केवल उन्हीं प्रसंगोकी ओर अंगुलि-निर्देश कर सकेगा जिन्हें उन्होंने अपनी स्पष्टवादिनी अति साधुताकी प्रेरणासे अथवा राम-विरोधीके प्रति सहज चिढ़की माँगसे रचा होगा। मन्दोदरी सदृश पतिपरायणा भार्याने अपने पतिपर जैसे निर्भय और कठोर अमांगलिक और अप्रशस्त अधिक्षेप-वचन कहे हैं वे विशुद्ध नीतिज्ञोंकी दृष्टिमें अश्लीलता अथवा अनीतिके द्योतक हो सकते हैं। इसी प्रकार भरतने माता कैकेयीकी जो गर्हा की है उसमें भी यही बात दिखाई दे सकती है।

कवित्व और साधुताका संयोग

संसारके कवियोंने या तो साधु-महात्माओंके सिद्धासनपर आसीन होकर अपनी कठोर साधना या तीक्ष्ण अनुभूति तथा घोर धार्मिक कट्टरता या साम्प्रदायिक असहिष्णुतासे भरे बिखरे हुए छन्द कहे हैं और अखण्ड ज्योतिकी कौंधमें कुछ रहस्यमय, धुंधली और अस्फुट रेखाएँ अंकित की हैं अथवा लोक-मर्मज्ञकी हैसियतसे सांसारिक जीवनके तप्त या शीतल एकान्त चित्र खींचे हैं जो धर्म और अध्यात्मसे सर्वथा उदासीन दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामीजी ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने इन सभीके नानाविध भावोंको एक सूत्रमें गुम्फित करके अपना अनुपमेय साहित्यिक उपहार प्रदान किया है। काव्यकी निरवच्छिन्न पीयूष-धारासे अभिषिक्त होनेके कारण उनकी कृतियाँ बहुत ऊँची हैं, पर उनसे भी अधिक ऊँचा है उनका भव्य व्यक्तित्व। उन्होंने शूद्रोंके प्रति जो कुछ कहा है उससे चिढ़कर कोई उन्हें कुछ खरी-खोटी सुना ले, स्त्रियोंके प्रति क्रूरता-व्यञ्जक उनकी कुछ उक्तियोंके कारण कोई उन्हें अनुदार भी कह ले अथवा उन्होंने प्राचीनताके साथ जो अविच्छिन्न सम्बन्ध दिखाया है उस नाते कोई उन्हें प्रतिमुखगामी, नूतन-

द्वेषी या दकियानूस कहकर अपनी प्रगतिशीलता दिखा ले, पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जो उन्हें कपटी या दम्भी कह सके। उनके गहरेसे गहरे पक्षपातमें भी ईमानदारी है, कट्टरतम उक्तिमें भी पवित्र तटस्थता और निश्छल बल है। यह उनके साधु जीवन और व्यक्तित्वका ही प्रभाव है जो उनकी काव्य-प्रतिभासे चमत्कृत चेतनातरंगिणी एक ओर विमल भक्तिके कूलको और दूसरी ओर मानवताके सम-विषम तटको चूमती चलती है। उनके काव्यमें आत्मगवेषणात्मक वृत्तियोंके जो उद्बोधन दिखाई पड़ते हैं वे सब उनके उदार व्यक्तित्वके सहज उद्गार हैं। सभी परिस्थितियोंके विविध स्तरोंको पार कर परपीड़ाकी अनुभूतिका अभ्यास बिरले ही बनाये रखते हैं। महात्मा तुलसीदास इन्हीं बिरलोंमेंसे विरलतम हैं, फलतः वे अपने काव्यको लोकोपकारक विभूतियोंसे सम्पन्न किये बिना कैसे रह सकते थे। यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि तुलसीने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुताके संयोगका अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिन्दी साहित्यको देकर उसे युग-युगान्तरके लिए अमर कर दिया है।

उपकरण-ग्रन्थोंकी तालिका

ऋग्वेद
महाभारत एवं हरिवंश
श्रीमद्भागवत महापुराण
विष्णुपुराण
देवीभागवत
अध्यात्मरामायण
महारामायण
रघुवंश
हनुमन्नाटक
उत्तररामचरित
पञ्चतन्त्र
चाणक्यनीति
आपस्तम्बस्मृति
वैयाकरणभूषणसार-दर्पण
बृहत्संहिता
योगदर्शनसूत्र
नारदपञ्चरात्र
नारदसूत्र
विष्णुसहस्रनाम
हरिभक्तिरसामृत
रामोत्तरतापिनी-उप०
रामरहस्योपनिषद्
तारकोपनिषद्
शाट्यायनीयोपनिषद्
गुरुगीता
तन्त्रराज
श्यामारहस्य
निरुत्तरतन्त्र
कुलार्णव
चित्रमीमांसा
सामवेद
श्रीमद्भगवद्गीता
शिवपुराण
पद्मपुराण
मार्कण्डेयपुराण
वाल्मीकीयरामायण
आनन्दरामायण
सेतुबन्ध
कुमारसम्भव
प्रसन्नराघव
प्रबोध चन्द्रोदय
हितोपदेश
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्यस्मृति
ज्योतिषसार
चरकसंहिता
सिद्धान्तकौमुदी
शाण्डिल्यसूत्र
श्रीभगवन्नामकौमुदी
भक्तिरसायन
वैष्णवमताब्जभास्कर और रामार्चनपद्धति
श्वेताश्वतरोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
सप्तशतीसर्वस्व
नित्यतन्त्र
आचारभेदतन्त्र
गुप्तसाधनतन्त्र

योगिनीतन्त्र
वृत्तिवार्तिक
कुवलयानन्द
अलंकारकौस्तुभ
चैतन्यचन्द्रोदय
कंसवध
अच्युतरायाभ्युदय
साहित्यदर्पण
काव्यालंकार
काव्यप्रकाश
वृत्तरत्नाकर
सुवृत्ततिलक
भारतीभूषण
काव्यप्रभाकर
काव्यालोक
लिरिक
आदर्श और यथार्थ
मेडिवियल इण्डिया
ट्रेवेल्स इन दी मुगल इम्पायर
हि० आव् मेडिवियल इण्डिया
हिस्ट्री आव् इण्डिया
हिस्ट्री आव् इण्डियन एण्ड ईस्टर्न-आर्किटेक्चर
ए स्केच आव् दि रेलिजन्स आव्-हिन्दूज
माडर्न हिन्दूइज्म
वैदिक इण्डिया
ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन-फिलासफी
इण्डियन फिलासफी
भारतीयदर्शन
तुलसीग्रन्थावली, भाग ३
तुलसीदास
हिन्दी नवरत्न
तुलसीदास और उनकी कविता भाग २
उज्ज्वलनीलमणि
नाटकचन्द्रिका
राष्ट्रौढ़वंशमहाकाव्य
पद्यावलि
काव्यादर्श
वक्रोक्तिजीवित
एकावली
श्रुतबोध
पिंगलप्रकाश
अलंकारमञ्जूषा
कविप्रिया
एपिक
चिन्तामणि
मेडिवियल मिस्टीसिज्म आव् इण्डिया
हिस्ट्री आव् जहाँगीर
मुगल एडमिनिस्ट्रेशन
भारतवर्षका इतिहास
अकबर दि ग्रेट मुगल
वाण्डरिंग आव् ए पिल्ग्रिम इन सर्च-आव् दि पिक्चरस्क
एसेज एण्ड लेक्चर्स आन् दि रेलि-जन्स-आव् हिन्दूज
रेलिजन्स आव् इण्डिया
वै०, शै०, एण्ड अदर माइनर रेलिजससिस्टम
हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी
दि फिलासफी आव् द्वैत वेदान्त
गोस्वामी तुलसीदास
गोस्वामी तुलसीदास
तुलसीदर्शन
इण्डैक्स वर्बोरम आव् दि तुलसी-रामायण

श्री गोस्वामी तुलसीदास
तुलसीके चार दल
वि० सा० में रामचरितमानस
दि रामायन आव् तुलसीदास
बुक आव् राम बाइबिल आव् इण्डिया
कबीर-ग्रन्थावली
सूरसागर
भक्तमाल
मानसकी अनेकानेक टीकाओंमें दी हुई भूमिकाएँ—यथा ग्राउसके रामायन आव् तुलसीदासकी भूमिका, इण्डियन प्रेससे प्रकाशित संस्करणकी भूमिका आदि
अभिधानप्प दीपिका
खालिकबारी
हिन्दी विश्वकोश
आक्सफोर्ड डिक्शनरी
शिवसिंहसरोज
स्केच आव् हिन्दी लिटरेचर
दि थियोलोजी आव् तुलसीदास
निर्गुन स्कूल आव हिन्दी पोएट्री
दादूदयालकी बानी
पद्मावत
घटरामायण
माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव् हिंन्दुस्तान
अमरकोश
हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास
हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर
इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एन्ड-एथिक्स
हिन्दी साहित्यका इतिहास
मिश्रबन्धु विनोद
मेकिंग आव् लिटरेचर
संस्कृत साहित्यका संक्षिप्त इतिहास

उक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त अधोलिखित पत्र-पत्रिकाएँ भी हमारे उपकरण-ग्रन्थोंकी तालिकामें उल्लेखनीय हैं :—

इंडियन ऐटीक्वेरी
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़
ना० प्र० पत्रिका
कल्याण
विशालभारत
जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी
भारतीय अनुशीलन
सरस्वती
हंस
माधुरी

अन्तमें दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका नामोल्लेख भी आवश्यक है—

'बाबा सेवादासकी बानी
चेलादासकी निरञ्जनी'
भक्तगीतामृत
